श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक महानुभाव :—

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन बैंकर्स सदर मेरठ
सरक्षक अध्यक्ष, एव प्रधान ट्रष्टी

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसाद जी
जैन बैंकर्स सदर मेरठ, सरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक महानुभाव :—

१	श्रीमान् लाला	लालचन्द जी जैन सर्राफ	सहारनपुर
२	"	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
३	"	कृष्णचन्द जी जैन रईस	देहरादून
४	"	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या	झूमरीतिलैया
५	,	श्रीमती सोवती देवी जैन	गिरीडीह
६	"	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन	मुजफ्फरनगर
७	"	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन प्रेमपुरी	मेरठ
८	"	सलेकचन्द लालचन्द जी जैन	मुजफ्फरनगर
९	"	दीपचन्द जी जैन रईस	देहरादून
१०	"	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन	मसूरी
११	"	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन	ज्वालापुर
१२	"	केवलराम उग्रसेन जी जैन	जगाधरी
१३	"	गेंदामल दगडू साह जी जैन	सनावद
१४	"	मुकन्दलाल गुलशनराय जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
१५	"	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन	देहरादून
१६	"	जयकुमार वीरसैन जी जैन सर्राफ	सदर मेरठ
१७	"	मन्त्री दिगम्बर जैन समाज	खण्डवा
१८	"	बाबूराम अकलङ्कप्रसाद जी जैन	तिस्सा
१९	"	विशालचन्द जी जैन रईस	सहारनपुर
२०	"	हरीचन्द ज्योतिप्रसाद जी जैन ओवरसियर	इटावा
२१	"	सौ० प्रेमदेवीशाह सु० बा० फतेहलाल जी जैन सघी	जयपुर
२२	"	मन्त्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज	गया
२३	,	सागरमल जी जैन पाण्ड्या	गिरीडीह
२४	"	गिरनारीलाल चिरञ्जीलाल जी जैन	गिरीडीह
२५	"	राधेलाल कालूराम जी जैन मोदी	गिरीडीह
२६	"	फूलचन्द बैजनाथ जी जैन नई मण्डी	मुजफ्फरनगर
२७	"	सुखवीरसिंह हेमचन्द जी जैन सर्राफ	बडौत
२८	"	गोकुलचन्द हरकचन्द जी जैन गोधा	लालगोला
२९	"	दीपचन्द जी जैन सुपरिन्टेन्डेंट इंजीनियर	कानपुर

३०	श्रीमान् लाला	मत्री दि० जैन समाज नाई की मडी	आगरा
३१	„	सचालिका दि० जैन महिलामडल नमककी मडी	आगरा
३२	„	नेमिचन्द जी जैन रुडकी प्रस	रुडकी
३३	„	झब्बनलाल शिवप्रसाद जी जैन चिलकाना वाले	सहारनपुर
३४	„	रोशनलाल के० सी० जैन	सहारनपुर
३५	„	मोल्हडमल श्रीपाल जी जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	„	शीतलप्रसाद जी जैन	सदर मेरठ
३७	„	❀ जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छावडा	झूमरीतिलैया
३८	„	❀ इन्द्रजीत जी जैन वकील स्वरूपनगर	कानपुर
३९	„	❀ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बडजात्या	जयपुर
४०	„	❀ दयाराम जी जैन आर एस डी ओ	सदर मेरठ
४१	„	❀ मुन्नालाल यादवराय जी जैन	सदर मेरठ
४२	„	+ जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन	सहारनपुर
४३	„	+ जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन	शिमला
४४	„	+ बनवारीलाल निरन्जनलाल जी जैन	शिमला

नोट —जिन नामोके पहिले ❀ ऐसा चिन्ह् लगा है उन महानुभावोकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आये हैं, शेष आने हैं। तथा जिनके पहिले + ऐसा चिन्ह् लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यताका रुपया अभी तक कुछ नही आया, सभी बाकी है।



सम्पादकीय

जैन न्यायके महान् प्रतिष्ठापक कुशाग्रबुद्धि तार्किकशिरोमणि वादीभकेशरी श्री समतभद्र श्री अकलङ्कदेव आदि महापुरुषोने जैन न्यायके मौलिक तत्त्वोकी समीचीन विवेचना आप्तमीमासा, प्रमाणसग्रह, न्यायविनिश्चयादि कारिकात्मक रचनाओ द्वारा की। जैनदर्शनके प्रणेता भगवान् उमा स्वामिके दार्शनिक शास्त्र श्री तत्त्वार्थ सूत्रके सदृश जैन न्यायको सूत्रबद्ध करने वाली "जैन न्याय सूत्र ग्रन्थ" जैन परम्परामे नही बन पाया था। इसी कमीको आचार्यप्रवर श्री माणिक्यनन्दिने आचार्य स्मृति-परम्परासे आये हुए जैन न्यायरूप सागरको परीक्षामुखसूत्ररूप गागरमे पूर्ण करके जैन न्यायका गौरव बढाया है। यह जैन न्यायका प्राथमिक सूत्रग्रन्थ है जो कि भारतीय न्याय विषयक कृतियोमे अद्वितीय है।

यह ग्रन्थ ६ परिच्छेदोमे विभाजित है। इसके सूत्रोकी सख्या २१२ है। ये सूत्र सरल, विशद एव नपे तुले हैं। वस्तु विचारमे अति गम्भीर, अन्तस्तलस्पर्शी तथा अर्थ-गौरवसे ओत प्रोत हैं। सभी सूत्र सस्कृत गद्यमे है, किन्तु उनके आदि अन्त मे एक २ श्लोक है —

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इतिवक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ।।
परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद् व्यधाम् ।।

आद्य श्लोकमें ग्रन्थ प्रयोजन तथा उसकी रचनाकी प्रतीज्ञा की है। और प्रतिज्ञानुसार ग्रन्थ रचना की है। सूत्रकारने हेय-उपादेय तत्त्वका यथार्थ बोध कराने के लिये परीक्षकके समान दर्पणवत् कृति बनाई।

प्रतिपाद्य विषय—प्रथम परिच्छेद १३ सूत्रों द्वारा प्रमाणका स्वरूप तथा प्रमाणके प्रामाण्यके स्वतस्त्व परतस्त्वका निर्णय किया है। द्वितीय परिच्छेदमे प्रमाण के प्रत्यक्ष परोक्ष दो भेद बताये हैं। प्रत्यक्षके सांव्यवहारिक तथा मुख्य भेदोंका १२ सूत्रोंसे प्रतिपादन किया है। तृतीय परिच्छेदमे परोक्ष प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगमका १०१ सूत्रोंमे कथन है। चतुर्थमे ६ सूत्रों द्वारा प्रमाणके विषय सामान्यविशेषात्मकको समझाया है। सामान्य विशेषके भेद भी दर्शाये हैं। पांचवें परिच्छेदमे ३ सूत्रो द्वारा प्रमाणका फल साक्षात्, अज्ञाननिवारण, परम्परा हान-उपादान उपेक्षा कहकर उसे प्रमाणमे कथंचित् भिन्न अभिन्न सिद्ध किया है। छटे परिच्छेदोमे प्रत्यक्षाभास परोक्षाभासका स्वरूप बताकर जय-पराजय व्यवस्था बताई है। इसमे ७४ सूत्र हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थमे जैन न्यायके सभी मौलिक ग्राह्य विषयोंका पूर्ण व्यवस्थित चयन हुआ है।

न्याय विषयके ऐसे कठिन दार्शनिक विषयका आध्यात्मिक सम्बन्ध दिखाकर न्यायादि अनेक विषयके पारखी, मनीषी, विद्वान श्री १०५ क्षुल्लक मनोहर जी वर्णी सहजानन्द माला ने परीक्षामुखसूत्रप्रवचन द्वारा सरल सुबोध स्पष्ट किया है। समयसारादि अनेक ग्रन्थोंपर प्रवचन करने वाले विद्वान्‌के प्रौढ ज्ञानने इसे दुरूहतासे बचाया है जो कि न्याय विषयक गम्भीर अध्ययन, चिन्तन एवं सुयोग्य विद्वत्ताका ही सुन्दर मधुर फल है। न्यायविषयक क्षेत्रमें तत्त्व निर्णयका आधार प्रमाण ही होता है, इसलिये प्रमाण और प्रामाण्यकी परीक्षा करना अत्यावश्यक है। इन प्रवचनों द्वारा लोकमे प्रमाणविषयक विपरीत धारणायें दूर होंगी।

मुझे इन प्रवचनोंका प्रूफ शोधनका अवसर मिला। मैं आशा करता हूँ कि आध्यात्मिक तत्त्वके विज्ञ रसिक इनके स्वाध्याय द्वारा लाभ उठायेंगे।

—देवचन्द्र जैन एम० ए०

परीक्षामुखसूत्रप्रवचन ५, ६, ७ भाग

[पञ्चम भाग]

[प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहरजी वर्णी श्रीमत् 'सहजानन्द' महाराज]

●

ज्ञान प्रमाण द्वारा पदार्थव्यवस्था – लोकव्यवहारमे जितनी व्यवस्था हुआ हुआ करती है तथा मोक्ष मार्गके काममे भी जितनी व्यवस्था बनती है वह सब प्रमाण से बनती हैं। कोई वात प्रमाणभूत हो तो उससे व्यवस्था हुआ करती है। यदि अप्रमाण है तो उससे व्यवस्था नहीं बनती। उस ही प्रमाणका इस ग्रन्थमे स्वरूप कहा गया है। प्रमाणका स्वरूप बताया है जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण है। प्रमाणके स्वरूप वाक्योका टुकडोमे अर्थ करिये तो उल्टी ओरसे अर्थ करिये। प्रमाण क्या है ? ज्ञान प्रमाण। कैसा ज्ञान प्रमाण है ? निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। किसका निश्चय करने वाला ? पदार्थका निश्चय करने वाला। किस पदार्थका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है ? अपूर्व अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है और इतना ही नही किन्तु खुदका भी निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। इस प्रमाणके स्वरूपमें कितनी ही बातोपर प्रकाश डाला गया है और इनका क्रमसे निर्णय भी किया गया है।

ज्ञानकी स्वव्यवसायात्मकता—अब इस परिभाषामे अन्तिम निर्णय दिया जा रहा है कि स्वव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण है अर्थात् जो ज्ञान खुदका भी निश्चय किए हुए हो वह प्रमाण है। जैसे हम किसी पदार्थको जानते हैं तो पदार्थके जाननेके ही साथ साथ खुदका भी ज्ञान बनाये रहते हैं जिस ज्ञानसे जाना कि यह कमण्डल है, तो इसमे यह निर्णय भी बसा है कि यह कमण्डल है ऐसा जानने वाला जो हमारा ज्ञान है वह सत्य है। दोनो निर्णय बने हैं। अर्थात् ज्ञान खुदका भी निश्चय रखता है और जिस पदार्थको जानता है उसका भी निश्चय रखता है। इस प्रकार ज्ञानस्वपर व्यवसायात्मक होता है। जैसे दीपक दूसरे पदार्थको भी प्रकाशित करता है और खुद को भी प्रकाशित करता है। जो खुद प्रकाशरूप न हो वह दूसरेको प्रकाशित नही कर सकता। शायद यह कहो कि बैट्रीके बल्व वगैरह हैं ये बैट्रीको तो प्रकाशित नही करते और सामनेकी चीजोको प्रकाशित करते हैं नो दीपक वहाँ बैट्री नही है किन्तु प्रकाशमान जितना तार है उतना ही वह दीपक है। खुद प्रकाशमान हो तो उनके निमित्तसे

अन्य भी प्रकाश पा सकता है। ऐसे ही जितने ज्ञान होते हैं वे सब ज्ञान खुदको भी प्रकाशित करते हैं और पदार्थोंको भी प्रकाशित करते हैं, यो ज्ञान निजका भी निर्णायक है। इतने स्थलका विवरण करनेके लिए छठवां सूत्र कह रहे हैं।

स्वोन्मुखतया प्रतिभासन स्वस्य व्यवसाय ॥६॥

स्वोन्मुखसे स्वव्यवसायात्मक ज्ञानकी ही परव्यवसायात्मकता—ज्ञान स्वका व्यवसायात्मक है इसका अर्थ यह है कि विज्ञानस्वरूप जो निज तत्त्व है उसका भी ग्रहण करने वाला है। जिस स्वरूपमे प्रमाणरूप माना गया है उसका सम्वेदन भी यह ज्ञान करता रहता है जाननेकी ऐसी प्रक्रिया ही होनी है। हम किसी भी पदार्थ को जानें तो उसमे दो पद्धति होती हैं। ये पदार्थ जाने गए सो ठीक है और इस पदार्थ को इस ज्ञानमेसे जाना, यह ज्ञान भी बिल्कुल ठीक है। पदार्थको जानने वाला ज्ञान यदि अप्रमाण मान लिया जाय तो पदार्थका भी ज्ञान प्रमाण नही होता। यह बात खुदकी कही जा रही है। हम आप सब आत्मा हैं, व ज्ञायकस्वरूप हैं। यह ज्ञान किस तरहसे अपना काम करता है उसकी बात कही जा रही है। यह ज्ञान स्वका निर्णय करता हुआ और परका भी निश्चय करता हुआ ज्ञान करता रहता है अर्थात् यह ज्ञान खुदका भी निर्णय रखता है, ऐसा नही है कि अपने ज्ञानको सही समझनेके लिए हम कुछ और ज्ञान पैदा करते हो और उससे फिर जानते हो कि यह मेरा ज्ञान सही है। ज्ञानकी प्रमाणता समझनेके लिए दूसरे ज्ञानकी जरूरत नहीं है। यदि वह ज्ञान वास्तवमें पदार्थका सही ज्ञान कर रहा है तो वह ज्ञान खुद अपने आप अपनेको सही बतला देता है। इस ही बातको एक दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं।

अर्थस्येव तदुन्मुखतयेति

ज्ञानकी स्वोन्मुखताका उदाहरण द्वारा समर्थन—इसमे एक उदाहरण बताया है कि जैसे हम पदार्थको जानते हैं तो ज्ञान पदार्थकी तरफ उन्मुख होता है तब जानते हैं ना यह चौकी है आदि आदि। यह ज्ञान जिस जिस पदार्थको जानता रहता है वह उस पदार्थकी ओर उन्मुख सा होने लगता है। जैसे अपने सामने चीज है तो उसका ज्ञान हो रहा है, और इससे विमुख हो जाय, बगलकी चीजका ज्ञान करने लगे तो हमारे ज्ञानमे एक दूसरे पदार्थकी उन्मुखता आ जायगी। जिस पदार्थकी तरफ लग लगकर पदार्थका जानना बन रहा। इसी तरह यह परख लें कि हम यह समझनेका जब प्रयास करते हैं कि मेरा ज्ञान क्या सही है तो हम इस ज्ञानकी ओर लगकर ज्ञानको जानते हैं। जैसे किसी दूरदर्शी पदार्थको हमने जाना-आगे सीप पडी थी बहुत दूर और समझ लिया कि यह सीप है तो उस समय हमारी उन्मुखता उस तत्त्वकी ओर है, और जब हम यह समझने बैठते हैं कि जान तो लिया कि यह सीप है मगर क्या कुछ यह ज्ञान सच है ? तो उस निर्णयके प्रसङ्गमे हम अपना दिमाग अपने

प्रदेशोकी ओर झुकाते है उस ज्ञानको सही माननेके लिये। जैसे सब हम कोई चीज बोल रहे हैं भजन वगैरह और बीचमे कोई छद भूल गया तो उसका स्मरण करनेके लिए हम क्या कही बाहर आँखें गडाया करते है ? कुछ अपनी ओर झुककर सोचा करते हैं कि क्या है वह छद। अपना ज्ञान प्रकट करनेके लिए हम अपनी ओर झुका करते हैं। तो ज्ञानमे ऐसी सामर्थ्य है कि वह परको भी जाने और स्वको भी जाने। जैसे घटपट आदिक बाह्य पदार्थोंकी ओर उन्मुख होकर उनका प्रतिभास होता है इसी प्रकार जाननेवाले ज्ञानकी ओर लगकर उन्मुख होकर उस ज्ञानका भी प्रकाश होता है।

स्वपर प्रकाशकताके विरुद्ध अचेनन ज्ञानका एक सिद्धान्त - जैसे दीपक ऐसा प्रकाश स्वरूप है कि खुदका भी प्रकाशक है और बाहरी चीजोका भी प्रकाशक है, इसी प्रकार यह ज्ञान भी खुदका प्रकाशक है और बाहर पदार्थोंका भी प्रकाशक है, आप लोग शायद यह सोचते होगे कि ऐसे ज्ञानके बारेमे जोर इसपर दिया जा रहा है कि यह ज्ञान परका प्रकाशक है और स्वका भी प्रकाशक है। क्या कोई लोग ऐसे भी है जो ऐसा मानते हो कि ज्ञान स्वका प्रकाशक नही, केवल बाहरी पदार्थोंका ही जानने वाला है। हाँ है ऐसा सिद्धान्त और इतना ही नही, कुछ सिद्धान्त तो इसका भी उल्लघन करके आगे बढेगे जो यह कहते हैं कि ज्ञान तो अचेतन है। ज्ञानमे चेतना ही नही है। तो यहाँ यह बता दिया कि ज्ञान कुछ प्रकाशित ही नही होता। जैसे आज कलके भूगोल वाले कहते हैं कि चन्द्रमामे प्रकाश है ही नही। सूर्यकी रोशनी पडती है तो चन्द्र प्रकाशित होता है। ऐसे ही कुछ सिद्धान्त यों मानते हैं कि ज्ञान अचेतन हैं उसमे प्रकाश करनेका काम है ही नही। तो जैसे चन्द्र स्वय प्रकाशरूप न होकर सूर्यका साम्निध्य पाकर प्रकाशमान होता है ऐसा आजकलके भूगोलवादी मानते हैं ऐसे ही कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं कि ज्ञान स्वय चेतने वाला नही है किन्तु यह ज्ञान चैतन्यस्वरूप आत्मा का सन्निधान पाकर चेतनेका काम किया करता है।

अपने ज्ञानस्वरूपकी चर्चा—देखिये अपने आपकी चर्चा कुछ कठिन लग रही है क्या ? जो खुद ज्ञान स्वरूप है, जो जगतकी सारी व्यवस्था बनाता है, बडे बडे आविष्कार भी करलें उस ही ज्ञानकी बात चल रही है। वह ज्ञान क्रियात्मक है तो जानने वाला भी ज्ञान है और जानने वालेकी ही चर्चा की जा रही है तो वह कठिन तो न लगना चाहिये,लेकिन ऐसे भी सुगम ज्ञानस्वरूप निजतत्त्वकी चर्चा कठिन लगा करती है तब हमारी वासना हमारा हृदय एक बाह्य पदार्थकी आकांक्षावो और तृष्णावोमे लग रहा हो। कारण उसका यह है कि एक उन्मुखत का अन्तर है जानने वाला तो है यह ज्ञान। यह अपनी ओर मुह करके जाने तो इस ज्ञानसे सब कुछ अन्तर्मर्म जाना जा सकता है। और जब परकी ओर मुंह करके यह ज्ञान जाने तो खुदका कुछ ज्ञान नही रह पाता। केवल बाहरी-बाहरी पदार्थोंको ही खण्ड खण्ड रूप कुछ कुछको समझते रहते हैं। हां ज्ञानी पुरुष जरूर ऐसे होते हैं कि बाह्य पदार्थोंको जान-

कर भी अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी प्रतीति बराबर रखा करते हैं। तो यह इस ज्ञान की ही चर्चा चल रही है।

प्रकृतिसे ज्ञानकी व्यक्तताका सिद्धान्त—कुछ सिद्धान्त ऐसा कहते कि आत्मामे तो ज्ञानस्वरूप है ही नही। आत्मा तो सिर्फ चैतन्यमात्र है। उस चैतन्यमात्र आत्मामे जब ज्ञानका सम्बन्ध जुडता है तब यह आत्मा जानता है। उनसे फिर पूछा जाय कि जिस ज्ञानका सम्बन्ध आत्मामे जुडा वह ज्ञान किसकी चीज है? कहाँसे आया है किस तरह जुड गया है? तो उनका उत्तर है कि वह ज्ञान प्रकृतिका धर्म है, प्रधानका धर्म है और वह आत्मामे जुडा है। —इसको बहुत जल्दी समझना हो तो यो समझ लीजिए कि प्रकृति अर्थात् प्रधानको मान लीजिये कर्म। उनका कथन इस तरह बन बैठेगा कि ज्ञान कर्मका धर्म है और जब यह कर्मका धर्म ज्ञान चैतन्यस्वरूप आत्मामे लगता है तो यह जानने लगता है इसमे प्रकाश उत्पन्न हो जाता है ऐसे भी कुछ सिद्धान्त हैं। अतएव यह बात जोर करके कहनी पडी कि ज्ञान स्वका भी निश्चय करने वाला है और परका भी निश्चय करने वाला है।

ज्ञानकी अस्वव्यवसायात्मकताका पूर्व पक्ष—आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। इसपर परमतवादी कहते हैं कि यह ज्ञान स्वव्यवसायात्मक कैसे है? ज्ञान स्वका निश्चय नही कर सकता क्योकि वह अचेतन है। जैसे ये घट पट चौकी चटाई आदि खुद अपना निश्चय कर सकते हैं क्या? नही करते क्योंकि ये अचेतन हैं इसी प्रकार यह ज्ञान भी अचेतन है। अतएव अपना निर्णय नही कर सकता और यह ज्ञान अचेतन क्यो है? यो है कि यह प्रकृतिकी पर्याय है, प्रधानकी पर्याय है। तो जितनी प्रकृतिकी पर्यायें हैं रागद्वेष इन्द्रिय शरीर जैसे ये अचेतन हैं इसी प्रकार प्रकृतिकी पर्याय ज्ञान है वह भी अचेतन है। जो चेतन होता है वह प्रकृतिकी पर्याय नहीं होती। इस सिद्धान्त मे दो मूल तत्त्व माने हैं—आत्मा और प्रकृति। प्रकृतिसे तो मायाकी उत्पत्ति है और आत्मासे परमार्थ सत् होता है ऐसा उनका सिद्धान्त है। तो ज्ञान हो अथवा अहकार हो, रागद्वेष आदिक हो, इन्द्रियका उद्भव हो, शरीर हो ये सब प्रकृतिके स्वरूप माने हैं इस सिद्धान्तमे, और आत्मा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र है। वह ज्ञान भी नही करता किन्तु अपने स्वरूपको चेतता रहता है ऐसा एक दर्शन है।

अचेतनज्ञानवादकी अयुक्तता—अचेतनज्ञानवादके निराकरणके लिए यह कहा जा रहा है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्माकी ही ज्ञान पर्याय है। ज्ञानप्रधानकी पर्याय सिद्ध नहीं हो सकती। प्रधान या प्रकृति कहो दोनोंका एक अर्थ है। आत्मा ज्ञान पर्याय वाला है क्योकि द्रष्टा होनेसे। देखिये ज्ञानको अचेतन माननेवालेने आत्माको द्रष्टा माना है, ज्ञाता नहीं माना है, द्रष्टामे भिन्न भिन्न प्रकारका बोध नहीं होता किन्तु केवल अपने स्वरूपका प्रतिभास होता है। जैसा कि दर्शनका स्वरूप जैन सिद्धान्तने

माना । भगवान अरहृतदेव केवल ज्ञानके द्वारा तीन लोक और अलोकके समस्त पदार्थोंको जानते रहते हैं और केवल दर्शनके द्वा । क्या किया करते हैं ? सारे विश्व को जानने वाले निजके आत्माका चेतन करते रहते हैं । दर्शनके द्वारा केवल अपने स्वरूपका सचेतन करते है । अपने स्वरूपका प्रतिभास करना दर्शनका काम है । पर जैन दर्शनमे तो ज्ञान और दर्शन दोनो ही आत्माके स्वरूप है । किन्तु अचेतन ज्ञान-वादियोने आत्माका स्वरूप दर्शन तो माना है पर ज्ञान नही माना । तो उनके प्रति कह रहे हैं कि आत्मा ज्ञान पर्याय वाला है क्योकि आत्मा द्रष्टा है । जो द्रष्टा नही होता उसमे ज्ञान पर्याय भी नही होती । जिसके ज्ञान पर्याय नही होती वह द्रष्टा भी नही होता । जैसे ये घट पट आदिक इनमे जानना नही है तो ये अपने स्वरूपका भी चेतन नहीं कर सकते । ये अचेतन पदार्थ पडे हैं । अपनी नई अवस्था बनाते है पुरानी अव-स्था छोडते हैं । और, खुद बने रहते हैं उपादव्यय ध्रौव्यात्मक सब पदार्थ हैं ।

पदार्थकी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकतासे हितव्यवसथा—जैन दर्शनमे एक सूत्र ऐसा है कि जो अन्तर और बाह्य व्यवस्था बनाये । उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्त सत् । समस्त सत् पदार्थोंका स्वरूप बता दिया । जो उत्पादव्यय ध्रौव्य स्वरूप हो, वह है पदार्थ । कोई पदार्थ ऐसा नही है जिसमे उत्पादव्यय और ध्रौव्य न पाया जाय । देखो यह जो बात कही जा रही है यह सब आत्मकल्याणके उपायभूत बात है । जब यह जान पायेंगे कि प्रत्येक पदाथ अपने आपकी नई अवस्था बनाते हैं और अपनी पुरानी अवस्था विलीन करते हैं और वे खुद शाश्वत बने रहते हैं । यही बात सभी पदार्थोकी है । ऐसे ही हम हैं, ऐसे ही प्रत्येक परमाणु है । सभी अपनी नई अवस्था बनाते हैं और पुरानी अवस्था विलीन करते हैं । कोई दूसरा नही बनाता, वे खुद अपने आपरूप परिणमते हैं । ऐसी ही हमारी बात है । कुछ भी निरन्तर अपने आपमे अपना परि-णमन बनाते हैं पुराना परिणमन विलीन करते हैं और हम शाश्वत अपने स्वरूपरूप बने रहते है ऐसे ही सब पदार्थोंको निरखते जाइये तो क्या प्रभाव डालेगा ? यह प्रभाव होगा कि मोह न रहेगा क्योकि जब यह निरखनेमे आयगा कि किसी पदार्थका किसी अन्य पदार्थपर रच भी अधिकार नही है । अधिकार तो तब माना जाय जब कोई पदार्थ किसी पदार्थको कुछ करदे । पर सभी पदार्थ जब अपने आपमे उत्पादव्यय ध्रौव्य किया करते हैं तो किसका कौन लगेगा ? जिस घरमे आप बसते हैं वह घर कुछ नही लगता । जिस कुटुम्बमे आप रहा करते हैं मोहवश आप सुख मानते हैं उस कुटुम्बका कोई आपका कुछ नही लगता । और तो जाने दो जिस देहमे आप रात दिन बसा करते हैं जिससे अलग होकर आप थोडा भी बाहर नही सरक सकते यह देह भी आपका कुछ नहीं लगता । आखिर इस भारको ढोये जा रहे हैं फिर भी यह देह हमारा कुछ नहीं लगता । मैं अमूर्त ज्ञानवान आत्मपदार्थ हूँ और यह देह ये पुद्गल परमाणुवोंके स्कध मास रुधिर मल मूत्र चर्म आदि इनमे रच भी प्रतिभासका काम नही है और यह मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप प्रतिभास हूँ । जब पदार्थोंका यह विज्ञान बनता

है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्यय ध्रौव्य स्वरूप है तो कर्तव्य नही रहता, स्वामित्व नहीं रहता, मोह दूर होता है।

ज्ञानके एकत्वपरिणमनसे शान्तिलाभ—देखिये ! भीतरमें ऐसा सम्यग्ज्ञान बननेपर मोह तुरन्त दूर होता है। चाहे कुछ समय तक थोडा-बहुत राग रहे लेकिन मोह नहीं रहता और मोह न रहना सो ही धर्म है, मोक्षका मार्ग है। दूसरा सूत्र बताया है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्माका सहज स्वरूप विश्वास और सम्यग्ज्ञान ऐसे ही आत्मतत्त्वका ज्ञान और ऐसा ही अपने स्वरूपमें रम जाना निर्विकल्प एकरस होकर केवल ज्ञानानुभवमात्र यह है सम्यक् चारित्र। इन तीनका एकत्व मोक्षका उपाय है। आनन्द तो इस मोक्ष अवस्थामे ही है। पर पदार्थोंका जितना लगाव है उतना ही क्लेश विकल्प और आकुलताएँ मिलेंगी, वहा उसे शान्ति नही मिल सकती।

अचेतनवादी अपना पक्ष यह रख रहे हैं कि ज्ञान अचेतन होता है अत ज्ञान अपने आपको चेतता नहीं है। ज्ञान है प्रकृतिका धर्म और जब आत्मामें ससर्ग होता है तब ज्ञान बाह्य पदार्थोंको जानता है, इतनेपर भी ज्ञान अपने आपको प्रतिभासित नही करता। उसके उत्तरमे कहा जा रहा है कि ज्ञानपर्याय प्रधान की नहीं है, प्रकृतिकी नहीं है किन्तु आत्माकी पर्याय है क्योकि यह द्रष्टा है, जिसमें ज्ञान पर्याय न हो वह द्रष्टा भी नही बनता। जैसे सामने दिखने वाले ये सभी पदार्थ जिनमे ज्ञान नहीं है तो ये अपने आपका भी चेतन नहीं कर सकते सो परका ज्ञान भी नही कर सकते। ज्ञान आत्माका धर्म है। यदि ज्ञानको प्रकृतिका धर्म माना जाय तो प्रकृति ही द्रष्टा बन जाय, ज्ञाता तो प्रकृति हो ही गया, द्रष्टा भी प्रकृति हो जाय उससे फिर आत्माकी कल्पना ही क्यो करते ? अब तो प्रकृति ही ज्ञाता है और प्रकृति ही द्रष्टा है।

यदि यह कहो कि आत्मामें ऐसा अनुभव होता है कि मैं चेतन हूँ इस कारण आत्मामे चैतन्य स्वभाव पाया जाता है। उसको कहाँ मना कर दें ? भाई ! इसी तरह आत्मामे यह भी अनुभव होता है कि मैं जाननहार हूँ, ज्ञाता हूँ। तो ज्ञानस्वभाव भी आत्मामे मान लें। आत्मामे जैसे चैतन्यस्वभाव माना गया है, इसी प्रकार ज्ञान-स्वभाव भी मान लिया जाना चाहिए। शायद यह कहो कि आत्मामे जो यह प्रतिभास होता है कि मैं ज्ञाता हू, जाननहार हूँ वह तो ज्ञानके ससर्गसे होता है, आत्मा ज्ञान-स्वभावी नही है। आत्मा यह समझना हो कि मैं ज्ञाता हूँ ऐसा नहीं है ऐसा पूर्वपक्षमें कहा जा रहा है। आत्मा जाननहार होनेमे ऐसा जो प्रतिभास करता है वह ज्ञानके सम्बन्धसे करता है। पर आत्मामे ज्ञानका स्वभाव नही है।

अब आचार्य समाधान करते हैं कि ज्ञानको अचेतनता कहना भी उचित नही है क्योकि यो तो हम चेतनमे भी कह देंगे कि आत्मा जो यह अनुभव करता है कि मैं

चेतन हूँ, द्रष्टा हूँ अपने आपका अनुभव करने वाला हूँ, अपने आपका प्रतिभास करता हूँ तो वह चैतन्यके सम्बन्धसे हो रहा है। कही आत्मामे चैतन्य स्वभाव नही पडा है। यो हम चेतनके बारेमे भी कह सकते हैं और यो तो सभी बातें यो थोथी लाई जा सकती हैं। आत्मा पदार्थ चैतन्यके सम्बन्धसे चेतन है, स्वय चेतन नही है यो कह बैठेगा कोई। भोक्ताके सम्बन्धसे भोक्ता है, स्वय भोक्ता नही। उदासीनताके सम्बन्धसे उदासीन है, आत्मा खुद उदासीन नही है। शुद्धिके सम्बन्धसे आत्मा शुद्ध है, खुद शुद्ध नही। यो तो हम हजार बातें और लगा सकते हैं पर ये सही तो नही हैं। इसमे तो प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोसे बाधा आती है।

आत्मा ज्ञानवान है और द्रष्टा भी है, ज्ञाता और द्रष्टामें यह अन्तर समझिये कि ज्ञातामे तो पदार्थका जानन होता है, ज्ञेयाकार ग्रहण होता है, निर्णय होता है और द्रष्टापनमे यह केवल अपने आत्माको चेतता रसता है। यदि आत्मा द्रष्टा नहीं होता तो ज्ञाता नही हो सकता क्योकि जो अपने आपको नही चेत सकता वह बाह्य पदार्थोंको भी नही जान सकता। तो चैतन्यस्वभाव है आत्माका। और उस चैतन्यकी ये दो विशेषताएँ हैं कि वह जाने और दर्शन करे। ज्ञान और दर्शन ये चेतन की विशेषताएँ हैं। इस जीवने बाहरमे तो जाननेका प्रयत्न किया, यह घर है, दूकान है, वैभव है, परिजन हैं आदिक प्रयत्न यह अनादिसे कर रहा है। चाहे रहता कुछ नही इसके पास। पूर्वभावमें जो कुछ भी समागम इसे प्राप्त थे वे आज कहाँ हैं? कुछ भी तो पता नही है। इस भवके बाद तो सभी जानते हैं कि साथ कुछ भी नही जाता है लेकिन मोहकी ऐसी तीव्र प्रेरणा है इतना गहन अन्धकार है कि बाहरी बाहरी बातो मे तो चित्त लगा रहता है पर अपने आपके स्वरूपके जाननमे चित्त नही लगता।

यह चर्चा किन्हींको बडी कठिन प्रतीत होती होगी। बात समझमें नही आती, किसकी बात? अपनी खुदकी। खुदकी बात जो कुछ ज्ञानस्वरूप है उसकी बात समझ मे नहीं आती और जिसकी बात कभी समझी ही नहीं जा सकती वे सब बातें समझमे आती हैं। ये बाहरी पदार्थ, ये बाह्य वैभव जो कि अत्यन्त भिन्न हैं, आत्मासे जिनका कुछ सम्बन्ध नहीं इसकी बात तो समझमे आ जाय और खुद क्या है, क्या स्वरूप है, शरीरके अन्दर रहने वाला यह मैं आत्मा कैसा हूँ इसमे क्या शक्तियाँ हैं, इसमे क्या गुण हैं, यह कुछ बात समझमे न आये तो यह हमारे लिये खेदकी बात है।

इन बाहरी वैभवोंमे शिर मानकर कौन सा लाभ मिलेगा? केवल कल्पनासे यही तो मान लिया कि यह मेरा पुत्र है, यह मेरा अमुक है, यह मेरा वैभव है, इसीसे ये सारे क्लेश बने हैं। ये सभी हैं अत्यन्त भिन्न पदार्थ। ये घरमे जो चार जीव आकर इकट्ठे हो गए हैं ये लगते किसीके कुछ नही हैं पर मोहकी बात ऐसी पडी है कि उन्हीं को अपना सर्वस्व समझते हैं। इस ससारमे सार कुछ नही है। यदि सार होता तो

तीर्थङ्कर जैसे महापुरुष क्यों इनको त्यागकर आत्म-समाधिके लिए यत्न करते ? बहुत बडी समस्या है आज यह कि हम क्या कर रहे हैं। जिससे हमारा भला हो, कल्याण हो, शेष भावी जीवन हमारा शान्तिपूर्वक व्यतीत हो ऐसा क्या कार्य करना है ? यह बहुत बडी समस्या है सामने, पर मोही जीव इसे समस्या ही नही मानते। बहुत बडी बात सामने हैं। यह मनुष्य तो हो गये। बचपन निकल गया, जवानी निकल रही है अथवा निकल गयी, शेष थोडा जीवन शेष रह गया, उस जीवनमें भी यह चित्त वशमें न रहे, तृष्णामे लगा जा रहा हो और ऐसी तृष्णा बनी हुई हो कि विवेक अविवेक न्याय अन्याय कुछ भी नहीं सोचा जाता है तो इस सबका फल क्या होगा ? किसलिये ऐसा सब किया जा रहा है, कोई साथी न होगा। खुदके लिए का फल खुदको ही भोगना होगा ?

यहाँ निज ज्ञान स्वभावकी बात चल रही है। अपने आपको पहिचाने। यह मैं आत्मा चैतन्य स्वरूप हूँ ऐसा एक विलक्षण पदार्थ हूँ मैं कि इसका कार्य चेतनेका है, प्रतिभास करनेका है। यह कार्य अन्य किसी पदार्थमे नही है। यह पुद्गल है, आकाश है, धर्मद्रव्य है, अधर्मद्रव्य है, काल द्रव्य है, इनमे किसीमे भी यह कला नही है कि वह चेत सके, अनुभवन कर सके, ज्ञान कर सके। केवल यह पवित्रता आत्मामे ही है। आत्मा ज्ञान स्वभावी है और ज्ञानके परिणमन चलते रहते हैं। ज्ञान स्वभाव से रहित यह आत्मा कभी समझमे नहीं आ सकता। प्रत्येकका ज्ञानरूप ही अपना आत्मा अनुभवमें आता है इस कारण यह मानो कि ज्ञान जैसे पर पदार्थका निर्णय करता है इसी प्रकार ज्ञान अपने सबके स्वरूपका भी निर्णय करने वाला होता है। जो ज्ञान अपने आपके स्वरूपकी पक्कायत न करे वह बाह्य पदार्थोंकी भी पक्कायत नही कर सकता।

क्या कोई ज्ञान अन्तरमें तो ऐसा सोचे कि मैंने जो चौकीका ज्ञान किया यह ज्ञान मेरा सही है कि नहीं। यहाँ तो रखा सन्देह और यहाँ बताये निर्णय कि यह चौकी ही है। ये दो बातें तो नहीं बन सकती। अगर ज्ञानमे सन्देह है तो बाह्य पदार्थों मे भी निर्णय नही बन सकता। हमने कोई पदार्थ जाना कि यह चांदी है और यह भी सोचते जायें कि मैं जो यह जान रहा हूँ कि यह चादी है क्या यह मेरा ज्ञान सच्चा है ? कही और कुछ तो नहीं है, और मैं चांदी जान रहा होऊँ, मेरा ज्ञान क्या सत्य है ? इसी तरह ज्ञानके स्वरूपमें तो हम सन्देह रखें और बाहरमे यह बतायें कि वह चांदी ही है यह तो ठीक नहीं बैठता। खुद ठीक बैठेगा तो बाहरी पदार्थोंका ज्ञान ठीक बैठेगा और खुदमें डावाडोल रहेगा तो बाहरी पदार्थोंका भी निर्णय नहीं होता। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और अपने आपका भी ज्ञान करता हूँ बाह्य पदार्थोंका भी ज्ञान करता हूँ। वह ज्ञान प्रकृतिका धर्म नही है।

पूर्वपक्षकारके पक्षका विवरण—पूर्वपक्षकारका विवरण समझनेके लिये

थोडी देरको ऐसा मान ले कि वही लोग ऐसा कह रहे हैं कि ज्ञान है कर्मका धर्म और आत्माका धर्म है दर्शन अथवा चैतन्य। और, कर्मके धर्मका जब आत्मामे सम्बध होता है तब यह आत्मा ज्ञानी बनता है। यो कह रहे है वे पूर्वपक्षवादी। ऐसा कहनेमे उन्होंने आधार क्या पाया ? थोडा बहुत गलत हो गया मगर किसी भी गल्तीका कोई न कोई तत्त्वका आधार होता है, ऐसी कोई गल्ती नही है जिसका आधार कुछ भी न हो और मूलसे गलत ही गलत हो, ऐसी गल्तियाँ नही हुआ करती। तो अचेतन ज्ञान वादियोंने ऐसा कौन सा आधार पाया जिससे वे यह कहने लगे कि आत्मा ज्ञानस्वरूप नही है, ज्ञानस्वरूप तो प्रधान है अर्थात् प्रकृति है कर्म है, कुदरत है और उस ज्ञानका जब आत्मामे सम्बन्ध होता है तब वह ज्ञानी बनता है। उनके इस प्रकारके कहनेका आधार है क्षायोपशमिक ज्ञान, अर्थात् जो ये हम आप सबके ज्ञान हो रहे हैं—आँखोसे अन्य इन्द्रियसे, ये सब ज्ञात होते हैं नष्ट हो जाते है और साथ ही ऐसा जानना हमारा स्वभाव भी नही है। यह तो कर्मोंके क्षयोपशमसे ऐसा होता है। जितना ज्ञानावरण कर्मोंका क्षयोपशम है जिममे उदय भी लगा हुआ है उतना ज्ञान हो रहा है। तो यह ज्ञान कर्मजनित है अतएव कर्मका धर्म ज्ञान मान लिया, प्रकृतिका धर्म ज्ञान समझ लिया और आत्माको केवल स्वरूप देखा ज्ञानरहित, इसके माननेका भी वहाँ आधार यह है कि जब आत्मा शुद्ध होता है अथवा अपने स्वरूपमे जैसा है वैसा बताया जाय तो वहाँ कोई विकल्प नही है। वहाँ कोई यो खण्ड ज्ञान नही है, ये ज्ञानकी विशेषताएँ नहीं हैं, वह केवल अपने आपमे आत्ममग्न है तो यह स्थिति है दर्शनकी। आत्मा चैतन्यस्वरूप तो मान लिया गया किन्तु ज्ञानी नही माना। ज्ञान प्रकृतिका धर्म माना गया है, उसी सम्बन्धमे प्रश्नोत्तर चल रहे है।

ज्ञानकी अनित्यतासे आत्माकी अनित्यतपर शका समाधान—यहाँ पूर्व-पक्षकार यह आपत्ति देता है कि यदि आत्माको ज्ञानस्वभावी मानते हो तो आत्मा अनित्य बन जायगा क्योकि ज्ञान सारे अनित्य हैं। अभी चटाई जाना थोडी देरमे यह ज्ञान मिट जायगा फिर कुछ जाना वह ज्ञान मिट जाता है। तो ये मिट जाने वाले ज्ञान यदि आत्माके स्वभाव मान बैठोगे तो आत्मा मिट जायगा, आत्मा अनित्य हो जायगा इस कारण आत्माको ज्ञानस्वभाव मत मानो। ऐसा यदि तुम्हारा ख्याल है तो यह ख्याल तो प्रधानमे भी लगा सकते। प्रकृतिमे भी हम ज्ञानस्वभावी मत माने। प्रकृति का भी धर्म ज्ञान मत मानें क्योकि ज्ञान है नि य तो तुम्हारी प्रकृति भी नित्य बन जायगी, सो प्रधानको भी ये लोग अनित्य नही मानते। जीव और अजीव इनकी जगहमे उनके शब्द हैं आत्मा और प्रकृति। प्रकृतिका धर्म ज्ञान मानोगे तो प्रकृति अनित्य बन बैठेगा।

व्यक्ताव्यक्तरूपसे नित्यानित्यत्वकी सिद्धिका यत्न शायद यह कहो कि प्रकृतिमे दो बाते हैं—अत और बाह्य, शक्ति और व्यक्ति, सूक्ष्म और स्थूल। तो

प्रकृतिका जो अन्त स्वभाव है वह तो अव्यक्त है और यह जो ज्ञान परिणमन है वह व्यक्त है। व्यक्त तो अनित्य है वह प्रकृतिका परिणमन है इस कारण प्रकृतिमें दोष नही लिया जा सकता। प्रकृतिका स्वभाव ज्ञान है और उस ज्ञानका जो व्यक्तरूप है वह अनित्य है और जा शक्ति है, अव्यक्तरूप है, स्वभाव है, स्वरूप है वह नित्य ही रहेगा इस कारण प्रकृतिमे दोष नही बैठता। तो यह बात आत्मामें मान लो। आचार्य देव कह रहे हैं कि आत्मा ज्ञायक स्वभावी है और इसका जो परिणमन है भिन्न-भिन्न पदार्थोंका जो ज्ञान बनता है वह अनित्य है पर ज्ञानस्वभावी आत्मा नित्य है, परिणमन अनित्य है। इसमे भी कौन सा दोष आता है। यदि यह कहो कि आत्मासे ज्ञान अभिन्न है तो यह आत्मा क्षणभगुर हो जायगा तो यह बात प्रधानमें भी लगा लो। प्रधानसे तो यह ज्ञान परिणमन अभिन्न है इस प्रकारसे प्रधान भी अनित्य हो जायगा।

द्रव्यपर्यायरूपतासे नित्यानित्यत्वकी सिद्धि तो सीधी सी बात है आत्मा एक द्रव्य है उसका ज्ञान गुण है। जैसे आत्मा अनादि अनन्त है वैसे ही यह ज्ञानस्वभाव भी अनादि अनन्त है। वर्तमान कालमे जब तक यह जीव ससारी है तब तक ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके अनुसार थोडा-थोडा ज्ञान चल रहा है और जब ज्ञान आवरण कर्मका सर्वथा अभाव हो जायगा तब आत्मा पूर्ण ज्ञानस्वभावमें विकसित हो जायगा। जो छुटपुट ज्ञान हैं वे उद्दण्डता मचाते हैं। हम अपना ऊधम तरङ्ग उठाते हैं, पर जो स्वाभाविक ज्ञान है विशाल ज्ञान है, समस्त विश्वका बोध है वह ज्ञान निस्तरङ्ग रहकर गम्भीर धीर और व्यापक हो जाता है। तो तुम इस सांसारिक छुटपुट ज्ञानको दृष्टिमे लेकर ऐसा कह रहे हो। यह ज्ञान अनित्य है तो आत्मा भी अनित्य बन जायगा आत्मा ज्ञायकस्वरूप हैं।

दृष्टान्तपूर्वक ज्ञानकी स्वपरप्रकाशात्मकतासे सम्बद्ध कुछ विशेष रहस्य—जैसे दीपक स्वय प्रकाश स्वरूप है उसको ढूढनेके लिए अन्य दीपककी आवश्यकता नही होती। वह स्वय स्वपर प्रकाशक है। इसी प्रकार यह आत्मा भी स्वय ज्ञानस्वरूप है, वह अपने आपको भी जानता रहता है और पर पदार्थोंको भी जानता रहता है। जैसे दीपक तो अपनी जगहपर रखा हुआ प्रकाशित होता रहता है दीपक अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करने नही जाता, अन्य पदार्थ भी उस दीपकका निमित्त प्रकाशित हो जाते हैं। ऐसे ही समझ लो यह आत्मा स्वय प्रकाशमान है और इन पदार्थोंमे ऐसा स्वरूप है कि ये पदार्थ अपने स्वरूपसे प्रकाशित हो जाते हैं। यो दीपक का और पदार्थका जैसे परस्पर प्रकाशक प्रकाश्य भाव सम्बन्ध है इसी प्रकार हम ज्ञानका समस्त पदार्थोंके साथ ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। न ये पदार्थ मुझपर कोई जबरदस्ती करते हैं कि हम खाली बैठे हैं तुम हमे जानो, तुम हमे क्यो नही जानते, क्यों नहीं देखते, क्यो नही छूते ? कोई पदार्थ हमपर जबरदस्ती नही करता और हम भी अपने प्रदेशोंसे बाहर निकलकर मोटे रूपमे यो समझो कि शरीरसे बाहर न होकर

पदार्थोंके पास जा जाकर इन पदार्थोंको नही जानते, किन्तु ज्ञानका और इन पदार्थों का ऐसा ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है कि ये पदार्थ स्वय ज्ञानमे आते हैं और यह ज्ञान स्वय पदार्थका प्रतिभास करता है। ऐसा यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है और इस ज्ञानका स्वरूप स्वपर व्यवसायी है, अपने आपका भी निर्णय करता है और परपदार्थोंका भी निर्णय करता है। प्रकृतिका धर्म नही है ज्ञान। ज्ञान आत्माका स्वभाव है।

व्यक्त परिणमनकी व्यवस्था—जो अचेतन ज्ञानवादी यह कहते हैं कि प्रकृतिका व्यक्त रूप है ज्ञान और अव्यक्त रूप है वह खुद प्रकृति स्वरूप। तो व्यक्त और अव्यक्त यें यद्यपि अभेद है फिर भी जो व्यक्त है परिणमन है, प्रकृति है स्थूल है वह हो अनित्य होता है क्योकि वह परिणमनरूप है। अव्यक्त अनित्य नही होता। यही वात आत्मामे भी लगा लें। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। और यह ज्ञान हो रहा है व्यक्त और आत्मस्वरूप है अव्यक्त तो इस ज्ञानका और आत्माका यद्यपि अभेद है तो भी व्यक्त ज्ञान ही अनित्य रहता है क्योकि ज्ञान आत्माका विशेष परिणमन है। आत्मा अपरिणामी है। यहां भी वही बात घट जाती है।

सिद्धान्तोमे द्रव्य गुण पर्यायात्मकताकी झाकी देखिये कितना भी जब वस्तुत्वका विवेचन किया जाय तो जो सही पद्धति है उसका सम्बन्ध सबको लेना पडा प्रत्येक पदार्थ द्रव्य गुण पर्यायात्मक है। पदार्थ है तो उसमे अनन्त गुण हैं उन सबके प्रति समय कोई न कोई अवस्था रहती है। इस तरह प्रत्येक सत् द्रव्य गुण पर्याया-त्मक होते हैं। वही झलक सबके तत्त्वमे मिलेगी। यहां प्रधान जो माना है अचेतन ज्ञान वादियोंने उस प्रधान तत्त्वको भी व्यक्त और अव्यक्त ये दो प्रकार बनाने पडे। वह है क्या ? पर्याय और द्रव्य। अव्यक्त है वह द्रव्य है वह व्यक्त है वह पर्याय हुई। अर्थात् द्रव्य गुण पर्यायात्मक प्रत्येक पदार्थ है। आत्मा एक सत् है अखण्ड पदार्थ है जैसा है वैसा है इसे सही रूपमे कोई वचनोसे बता नही सकता। वचनोसे जब कोई बतायेगा तो उसमे कल्पनाएँ करके भेद बनाकर जुदे जुदे शब्दोमे कहेगा। देखो जो जाने सो आत्मा है। जो देखे सो आत्मा है। जिसमे ज्ञान, दर्शन आनन्दका अनुभव हो सो आत्मा है। तो क्या ये सारी बातें क्या आत्मामे जुदी जुदी है ? आत्मा तो जो कुछ कर रहा है वह एक काम कर रहा है प्रति समय। उसका हमे भेद करके बताते है कि यह जानता है देखता है। ये सब बातें हम जान करके बताते हैं।

वस्तुत्वकी अन्त प्रसिद्धि - वस्तुका मूल स्वरूप वचनोके द्वारा बताया नही जा सकता। अन्यकी बात तो जाने दो। आप जैसे मिठाई खा रहे हो तो खाते समय या खानेके बाद आपसे पूछा जाय कि इसका स्वाद तो जरा शब्दोसे बता दो, इसका वर्णन तो कर दो ? तो आप बतानेकी कोशिश तो करेंगे उस स्वादको पर आप ठीक ठीक शब्दो द्वारा बता न सकेंगे। कुछ कुछ बात वे समझेंगे जिन्होंने उस मिठाईको खाया है। इसी प्रकारसे आत्माकी बात किन्ही भी शब्दोसे बतायी जाय पर जो आत्मा

से परिचित हैं उनको उन शब्दोसे शीघ्र समझमे आ जाता है कि यह कहता है और जो आत्मासे अपरिचित हैं उनको आत्मा कहकर अथवा उसका विवरण करके समझाये तो बहुत विलम्ब लगेगा। एकदम यह न बता पायेंगे कि लो इसकी चर्चा हुई है। इस तत्त्वको कहते हैं तो यह आत्मा एक स्वभाव है। एक पर्याय रूप है, यह अखण्ड द्रव्य है उसका जब हम विवरण करते है तो ज्ञान दर्शन, आनन्द अनेक गुण बताते हैं। उन गुणोमे एक गुण ज्ञान गुण भी है। ज्ञान आत्माका धर्म है। स्वय चेतन है, स्वपरको प्रकाशित करता रहता है, उसे ही ज्ञान प्रमाण होता है। जो अपना भी निर्णय रखे और पर पदार्थका भी निर्णय रखे।

प्रमाणके स्वरूपकी मीमासा - प्रमाणका स्वरूप बताया है जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये ऐसा ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण ज्ञान ही होता है, अज्ञान प्रमाण नही होता। यद्यपि लोकमे ऐसा व्यवहार है कि हमारा यह दस्तावेज प्रमाण है, यह लिखा-पढी प्रमाण है या ये दिखने वाले गवाह प्रमाण हैं, अथवा इसपर हमारा कब्जा चला आया है यह प्रमाण है। ये सारी वस्तुएँ अचेतन हैं, ये वस्तुत प्रप्राण नही हैं, इन सब बातोके होते हुए जो जानने वालेके ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान प्रमाण है। दस्तावेजका कागज देखकर जो ज्ञान बना - हाँ इसका ही है, इसने अमुक दिन खरीदा था, इस तरहका जो ज्ञान है वह ज्ञान प्रमाण है, न कि कागज स्याही प्रमाण है। तो प्रमाण ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञान नहीं हो सकता। और, वह ज्ञान भी अपनेका और अन्यका निर्णय कराने वाला होता है।

पूर्वपक्षकारोंके अचेतन ज्ञानकी मीमासा - प्रमाणके लक्षणके प्रसगोमे यहाँ स्वव्यवसायका प्रसग चल रहा है। अचेतन ज्ञानवादी, पुरुष और प्रकृतिको ही तत्त्व मानने वाले यहाँ यह बात रख रहे थे कि ज्ञान चेतन नही होता क्योंकि वह प्रकृतिकी पर्याय है, पुरुषकी परिणति नही है। ज्ञान आत्माका धर्म नही है किन्तु प्रकृतिका धर्म है। प्रकृति अचेतन है। अत ज्ञान स्वव्यवसायी होता नहीं है ऐसी पूर्वपक्षकी इस सम्बन्धमे बात चल रही है। बात होते होते यह बात कही अचेतन वादियोंने कि यदि ज्ञानको आत्माका धर्म मानते हो तो ज्ञान तो नष्ट होता रहता है। अब इस चीजका ज्ञान हुआ फिर अन्यका ज्ञान हुआ तो नष्ट होने वाला ज्ञान यदि आत्माका धर्म है तो आत्मा भी नष्ट हो जायगा, अत ज्ञान आत्माकी परिणति नही बनती, प्रकृतिकी परिणति बनती है। तो इसके उत्तरमे यह कहा जा रहा है कि तब तो प्रकृति अनित्य हो जायगी जब ज्ञान नष्ट होता रहता है और वह है प्रकृतिका धर्म तो प्रकृति अनित्य बन जायगी।

व्यक्ताव्यक्तरूपतासे नित्यानित्यात्मकताकी सिद्धि - अचेतनवादी प्रकृति को नित्य सिद्ध करनेके लिये यह कहें कि भाई, प्रकृतिके दो रूप हैं - एक व्यक्त और एक अव्यक्त। जैन शासनकी तुलनामें इसे यों मानें एक द्रव्यत्व और एक पर्याय।

अव्यक्त नाम हुआ द्रव्य जैसा और व्यक्त नाम हुआ पर्याय जैसा। प्रत्येक पदार्थमे ये दो बाते पायी जाती हैं ना ? पदार्थ है तो वह अपने स्वरूपमे ध्रुव है। द्रव्यदृष्टिसे वह पदार्थ नित्य है और अव्यक्त है। द्रव्य किसीने देखा है क्या ? कोई सा भी द्रव्य ! पुद्गलमें जो मूल द्रव्य है वह है परमाणु और परमाणुमे भी परमाणुकी पर्याय होती है उसमे भी जो अणु द्रव्य है वह अव्यक्त रहता है ना, प्रत्येक द्रव्य अव्यक्त रहता है, उनकी दशा, परिणमन, स्थिति व्यक्त हुआ करती है तो प्रकृतिमे जो शक्ति अश है वह तो परिणति है नही। वह सदा रहने वाली है और जो ज्ञान है वह व्यक्त अश है वह परिणति है। तो कहते हैं कि यही बात आत्मामे लगा लेना चाहिए। आत्मामे जो द्रव्य है वह तो अव्यक्त है और सदा रहने वाला है और जो उसका व्यक्त भाव है ज्ञान हो, सुख हो दु ख हो वह सब उसकी पर्याय है और वह अनित्य हैं। यहाँ भी कोई विपत्ति नही।

सत्मे सर्वथा अपरिणामित्वका अभाव—और भैया ! आत्मा तो क्या, कोई भी पदार्थ सर्वथा अपरिणामी होता ही नही, और अपरिणामी है ही नही कुछ, जो कुछ भी है वह निरन्तर परिणमता रहता है। नित्यका लक्षण कहा है – तद्भावाव्यय नित्य। मायने पदार्थके होते रहनेका व्यय न हो सो नित्य है। नित्य और कुछ अलग नही है, वह अपने स्वभावमे अपनी सीमामे अपने ही अनुकूल सदैव होता रहे, उसका नाम है नित्यपना। होते रहनेका विनाश नही होता। तो शक्तिकी अपेक्षा आत्मा अनित्य है और व्यक्तिकी अपेक्षा वे सब व्यक्तिया नष्ट होती रहती हैं। अपरिणामी कोई पदार्थ नही क्योकि जो अपरिणामी हो, जरा भी न बदले, जिसकी कोई अवस्था ही न बने वह तो असत् है। कोई भी पदार्थ ऐसा नही जो कुछ परिणमन न रखता हो और सद्भूत हो।

अस्वव्यवसायीके परव्यवसायित्वका अभाव—और भी सोचिये एक मोटी बात यह है कि ज्ञानको यदि अपनी ही व्यवस्था करने वाला माना जाय तो वह पदार्थ की व्यवस्था भी नही कर सकता। यदि ज्ञान अपने आपको नही जान पाता, मैं ठीक हूँ इस प्रकारका प्रत्यय यदि ज्ञान खुद नही कर पाता तो उस ज्ञानका यह अधिकार नहीं है कि किन्ही पदार्थोंको वह जानता रहे क्योंकि पदार्थोंको जानना, पदार्थोंकी व्यवस्था बनाना यह अमुक है, यह अमुक है, इन व्यवस्थाका अर्थ है क्या ? उस उस प्रकारका अपनेमे अनुभवन चलना। अपनेमे उस तरहका जानन होना। तो वह अनुभवन उस बुद्धिमे कैसे बनेगा जो बुद्धि खुदको नही जानती। सांख्य सिद्धान्तमे आत्म तत्त्व स्वतत्र तो है पर वह मात्र द्रष्टा है, चैतयिता है, ज्ञाता नहीं है इस तरह मानते हैं। और प्रकृतिका धर्म है ज्ञान। उसका जब ससर्ग होता है आत्मामे तब यह आत्मा पदार्थका ज्ञान करता है ऐसा सिद्धान्त है लेकिन यह तो सोचो कि जो भी जानने वाला हो, जानने वाला है ज्ञान स्वय दूसरेकी अपेक्षा न रखकर दूसरेके समगकी पराधीनता

न रखकर स्वयको यदि वह जान सकता है तो वह सबको जान सकता है। तो स्वय का ज्ञान यदि अपने प्रत्यक्षमे है स्वसम्विदित है तो उससे पदार्थकी व्यवस्था बन सकती है अन्यथा दूसरे आत्माकी बुद्धिसे भी दूसरेकी व्यवस्था बना ली जाय पर ऐसा नही होता। इस तरह यह निर्णय करना कि ज्ञान तो स्व व्यवसायात्मक है, अपने आपका निर्णय करता है।

ज्ञानकी स्वसम्विदितताका निर्णय—अब जरा अनुभवसे भी विचार लो कि हम जितना जो कुछ भी जानते हैं उस सबके जाननेके साथ साथ स्वयमे भी सतोष होना प्रतिभास होना, उजेला रहना, निर्णय रहना ये सब बातें चलती हैं ना। चाहे कोई इसका विश्लेपण न करता हो, उसे उस प्रयोग रूपमे वचनोमे न लेता हो लेकिन प्रत्येक ज्ञानकी यह तारीफ है कि वह अपने आपको चेतता रहता है, तभी वह बाह्य पदार्थोंका जाननहार होता है। ज्ञान स्वव्यवसायात्मक ही है क्योकि वह अन्य इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा न रखकर पदार्थकी व्यवस्था करता है। देखिये जानना और उस ज्ञानकी उत्पत्ति होना इनमे भी अन्तर है। ज्ञानकी उत्पत्तिमे किन्ही किन्ही जीवोंके छद्मस्थोके तो इन्द्रियकी आधीनता, ज्ञानावरणका क्षयोपशम, अन्य अन्य भी साधन प्रकाश आदिकका होना और इन्द्रियका भी सही रहना ये सब कारण हैं, उत्पत्तिमें कारण है और उत्पत्ति होनेके बाद उनका जो ज्ञान बनता है, जानन चलता है उस जानन क्रियामे यह किसी परकी अपेक्षा नही रखता। मोटे रूपमे यों समझो—किसीने मृदङ्ग बजाया तो उसकी जो ध्वनि निकली उस ध्वनिकी उत्पत्तिमे तो पुरुषके हाथकी अपेक्षा रही पर पुरुषके हाथकी अपेक्षा रखकर उत्पन्न होनेपर उसमेसे जो परिणमन हो रहा है वह ध्वनि हाथकी अपेक्षा नही रखती। ध्वनिकी उत्पत्तिमे तो अपेक्षा है पर ध्वनिकी वर्तनामे अपेक्षा नही होती। ज्ञान जितने हैं वे सब स्वव्यवसायी हैं, इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा न रखकर पदार्थकी वे व्यवस्था नही करते हैं। जो स्वव्यवसायी न हो अर्थात् अपने आपका निश्चय करने वाला न हो वह पदार्थकी भी व्यवस्था नहीं कर सकता।

दृष्टान्तपूर्वक अस्वव्यवसायित्वके परव्यवसायित्वके अभावका समर्थन—जैसे दर्पण है दर्पण स्वका निश्चय तो नही करता। अचेतन है अज्ञानी है तो वह पदार्थोंकी भी व्यवस्था नही करता। भले ही उस दर्पण अचेतनमे पदार्थका प्रतिबिम्ब आ गया लेकिन कौन सी कसर ऐसी रह गयी कि दर्पण पदार्थकी व्यवस्था नही बना पाता जैसी कि हम आप बनाते हैं। वह कमी है चेतनकी। दर्पणमे उतने पदार्थका आकार आ गया तिसपर भी दर्पण जानने वाला नहीं है क्योकि वह स्वका निश्चय नही रखता। चेतन नहीं है, लेकिन इस आत्मामे, इस ज्ञानमें ये सब पदार्थ आ गए, प्रतिबिम्बित हो गए। यहाँ प्रतिबिम्बितका अर्थ उनका ग्रहण मात्र जानन मात्र है लेकिन लगता ऐसा है ना, कि जो आकार है उस सब आकारको इस ज्ञानने अपनेमे

आत्मसाक्षात् कर लिया तब यह जानना है। तो सब आकार आ गया ज्ञानमे और फिर यह व्यवस्था भी बनी है तो क्यो बनी है ? यह ज्ञान स्वय स्वव्यवसायी है। अपने आपका खुद निश्चय करने वाला है, चेतने वाला है इस कारण यह सबकी व्यवस्था बनाता है तो ज्ञान सबका निश्चय करता है और परका भी निश्चय करता है ऐसी स्वपर प्रकाशकता है ज्ञानमे। यदि ज्ञानको स्वव्यवसायी न मानें जैसे कि अचेतन ज्ञानवादियोके सिद्धान्तमे कहा है कि यह आत्मा ज्ञानके द्वारा अध्यवसित अर्थको जानता है आत्मा सीधा नही जानता। ज्ञान सीधा नही जानता किन्तु ज्ञान आत्मामे एक आकार सोप देता है तब यह आत्मा जानता है ऐसे पुरुषक अनुभवकी अपेक्षा रख कर अर्थकी व्यवस्था बनाता है। वहाँ अर्थ व्यवस्था यो सम्भव नही कि न तो आत्मा स्वव्यवसायी रहा, न ज्ञान स्वव्यवसायी रहा। फिर जाना किसको ? ज्ञान वही ठीक है जो अपने आपका भी प्रकाश करता हो और परका भी प्रकाश करता हो।

ज्ञानपरिणमनके अनुसार शान्ति अशान्तिकी सम्भवता—देखिये हम आप सब चाहते हैं शान्ति और अशान्तिका सम्बन्ध है ज्ञानसे। लोकव्यवहारमे भी हम जिस तरहका ज्ञान करते हैं उस तरहका अपनेमे अनुभवन पाते है। जितने भी सुख अथवा दु ख हम अनुभव करते है वे सब उसके अनुकूल ज्ञानमे, विकल्पसे अनुभव करते है। कदाचित् किसी प्रदेशमे हो रहे काममे व्यवसायमे दूकानमे हो तो गया हो नुकशान और यह खबर मिली हो कि उसमे बहुत फायदा हुआ है तो यह तो सुखका अनुभव करेगा क्योकि ज्ञान इस रूप चल रहा है जिस रूपमे सुख अनुभवा जाय, और कदाचित् हुआ हो बहुत फायदा और खबर आयी हो कि उसमे तो बहुत टोटा पड गया तो यह तो दु ख मानेगा क्योकि जिस कल्पनामे दु ख होना चाहिए उस कल्पना का रूप रख लिया है ज्ञानने। तो ज्ञानके परिणमनके अनुसार सुख दु ख आनन्दका अनुभव हुआ करता है। अतएव हमे उस ज्ञानको समझना तो चाहिए जिस ज्ञानकी डोरसे ही ये सारे काम चल रहे हैं।

ससरण व मुक्तिका भी प्रेरक ज्ञानका प्रवर्तन—ससारके जितने भी क्लेश हैं, बन्धन हैं, जन्म मरणके चक्र लग रहे हैं ये सब भी हमारे ज्ञानके किसी विपरिणामके कारण है। और, जब हम ससारसे छूटेंगे, बन्धनसे मुक्त होगे तो वे सब भी बातें हमारे ज्ञानके ही एक विशुद्ध परिणमनमे होगी। जो देहको मानता है कि यह मैं हूँ उसे देह मिलते ही रहेगे, ससारमे रुलते रहे इसकी कुञ्जी यही तो निकली कि इस देहको यह मैं हू ऐसा मानते रहे। देहके दुर्बल होनेसे अपनेको दुर्बल माना और देहके बलिष्ठ होनेसे अपनेको बलिष्ठ माना, इस देहकी प्रशसा, विनय आदि किए जानेपर अपना बडप्पन माना तो इसमे तो यह देह मिलते रहनेकी सतति चलती रहेगी और यदि यह अनुभव चले सूक्ष्म दृष्टि देकर, अपना स्वलक्षण जो चैतन्य स्वरूप है उसपर दृष्टि देकर कि एतावन्मात्र मैं हूँ मैं चेतन हूँ, अमूर्त हूँ, निर्लेप हूँ, एक

प्रतिभास स्वरूप पदार्थ हूँ ऐसे अनुभवमे आये ज्ञान, ऐसा उपयोग बनाये कि अन्य सब देहा आदिक परपदार्थोके मानको भी न करे केवल एक स्वरूपका ही उपयोग रहे, यही मात्र मैं हूँ तो चू कि उस समय यहीसे तोड लिया ना भेद विज्ञान द्वारा, अभीसे ही सम्बन्ध तोड लिया यो पर पदार्थोंने विविक्त अपने आपको निहारनेपर यह आत्मा कर्मोंसे परपदार्थोंसे मुक्त हो जायगा। तो ससारका बढते रहना अथवा मुक्तिका प्राप्त करना यह सब भी हमारी ज्ञान कलापर निर्भर है।

अभेद दृष्टिसे ज्ञानकी सर्वस्वता – यद्यपि सिद्धान्तमे यह भी बताया है कि ज्ञान न रुलाता है, ज्ञान न मोक्ष दिलाता है, ज्ञान न बन्धन करता है, ज्ञान न निर्जरा करता है। निजराके कारण हैं श्रद्धान और चारित्र। ज्ञान न मिथ्या होता न सम्यक् होता। वह भी एक जाननहार तत्त्व है। सम्यक् और मिथ्या सम्यक्त्व और मिथ्यात्वकी सम्पर्कसे है लेकिन वे सब बातें इस ज्ञानकी ही तारीफ करने वाली हैं। एक दृष्टि की बात है। जब हम अखण्ड वस्तुको, अखण्ड स्वरूपका निहारते हैं तो हम आत्मीय अखण्डको, अखण्ड स्वरूपको देखें तो हम ज्ञान द्वारा ही देख सकते हैं, ज्ञानमात्र मैं हूँ। यह ज्ञान जब जीवादिक पदार्थोके श्रद्धान रूपसे परिणमता है, एक दृढ निश्चय रूपसे जैसा है तैसे वैसा ही निश्चय करके रहता है तो यही है श्रद्धान। और जब यह ज्ञान अपनी ही ज्ञान वृत्तिमे स्थिर रहता है तब यही हुआ सम्यक् चारित्र, रागद्वेषकी निवृत्ति होनेका नाम सम्यक्चारित्र उपचारसे कहा गया है। चू कि जब यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपमे अपनी वृत्ति करता है तो वहाँ रागद्वेष दूर होनेका नाम सम्यक्चारित्रमात्र प्रतिषेध रूप तत्त्व नही है। विध्यात्मक है। किसी बातके होनेका नाम चारित्र है सो बतावो रागद्वेष दूर करनेका नाम चारित्र है। यह तो एक विशेषता बतायी गयी। चारित्रका स्वरूप नहीं है। चारित्रका स्वरूप है ज्ञान ज्ञानमे स्थिर हो जाय। ज्ञानवृत्ति बराबर यही ज्ञानमय बनती रहे तो वह भी ज्ञानकी ही तारीफ है। मतलब यह है कि जो कुछ हमपर बीतता है वह ज्ञानके अनुसार बीतता है। वह ज्ञान क्या है उसका स्वरूप यहाँ कहा जा रहा है।

बुद्धि अनुभव आदिकमे ज्ञानकी पर्यायरूपता　बुद्धि, अनुभव, ज्ञान ये सब अभेदरूप बातें हैं। एक ही अनुभवमे युक्त जो ज्ञानकी सकल है, ज्ञानकी अवस्था है, वही हर्ष विषाद आदिक अनेक पररूप है और विषयोकी व्यवस्था करने वाला है, अनुभवमे आता है, उसीको पदार्थ कहो, बुद्धि कहो, अध्यवसान कहो सब एक पर्यायकी बातें हैं। शब्दोमें भेद होनेसे वस्तुमे अर्थमें भेद नही हो जाता। हाँ, इतनी बात जरूर है शब्दभेदसे यो भेद बनता है कि उसकी चीजको कोई शब्द किसी रूपसे तारीफ करता है कोई किसीरूपसे तारीफ करता है। जैसे मनुष्यके अनेक नाम हैं मनुष्य, मानव, जन, अब इन सबके अर्थ जुदे जुदे हैं। जन उसे कहते हैं जो उत्पन्न हो, मनुष्य उसे कहते है जिसमे मन श्रेष्ठ हो, मानव उसे कहते हैं जो मनुकी सतानमे चला आया

हो। तो शब्दभेदसे एक उस मनुष्यकी तारीफमे तो भेद हुआ पर इन भिन्न शब्दोसे कहा है इस मनुष्यको ही। तो इस प्रकार केवल इस ज्ञानके पर्यायवाची शब्दोसे ज्ञान की तारीफमे तो भेद हुआ पर अर्थमे भेद नही हुआ। बुद्धि उसका नाम है जो क्षायोपशमिक ज्ञान है खण्ड खण्डरूप जानता है जान जानकर नष्ट होता रहता है वह बुद्धि है। ज्ञान पर्यायमे तो उसका नाम है जो वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता रहता है और शक्तिसे स्वभावका नाम है तो यो भेद पड गए।

जीवके विशेषण नामोके दृष्टान्त द्वारा ज्ञान तत्त्वकी एकताका समर्थन जैसे कुछ लोग कहते हैं चैतन्य, जीव, आत्मा, परमात्मा, ये तीन न्यारे न्यारे पदार्थ है लेकिन न्यारे नहीं हैं। एक ही चैतन्यस्वरूप पदार्थके ही ये नाम हैं। अब अपेक्षासे यों लगा ले कि जीव उसका नाम है जिसमे आयु आदिक ये प्राण चल रहे हैं, इससे जिन्दा बने रहते। जैसे कहते हैं कि यह मनुष्य जिन्दा है, अब यह मर गया है, उन दश प्राणोसे जीवे वह जीव है और उसमे भी जो प्राणोका सम्पर्क रखता है अर्थात् बहिरात्माका नाम जीव है, एक जो स्वरूप बताया है एक जीवोका उसको समन्वय करके कहा जा रहा है। आत्मा उसका नाम है जो जाननहार है यथार्थ जानता है, जो सम्यग्ज्ञानी है अर्थात् अन्तरात्माका नाम आत्मा है और जो सर्व कर्ममुक्त हो गया, अनन्त ज्ञानसम्पन्न हो गया, समस्त विश्वका ज्ञाता है वह है परमात्मा। तो यो विशेपतामे भेद है पर मूलमे द्रव्यभेद नही है। उन सब विशेषोमे एकरूप चैतन्य है। तो ऐसे ही समझिये कि यह ज्ञान ज्ञानरूप है, सब एक समान है, अपने आपको भी जानता है ऐसा ज्ञान स्वभावी आत्मा हम आप सबमे मौजूद है वही शरण है वही सार है उस पर ही सारी प्रगति निर्भर है जो इसकी ओर आता है वह ससारसे मुक्त हो जाता है।

अचेतन ज्ञानवादियो द्वारा दृष्टान्तपूर्वक बुद्धि चैतन्यमे भेदभ्रमका कथन ज्ञान खुद अपने आपको जानता है, इस सम्बन्धमे अचेतन ज्ञानवादी यह कह रहे हैं कि ज्ञान आत्माका स्वभाव नही है किन्तु ज्ञान है प्रकृतिका धर्म। लेकिन हम लोगोको जो ज्ञान और आत्मा एक नजर आ रहा है उसका कारण यह है कि प्रकृति का धर्म बुद्धि और आत्माका धर्म चैतन्य इन दोनोमे है ससर्ग विशेष निकट सम्बन्ध, उसकी वजहसे तुम ठगाये गये हो और तुम्हे बुद्धि और चेतनमे भेद नही मालूम पडता है वहाँ भेद। जैसे लोहेका गोला और अग्नि। कोई लोहेका गोला अग्निमे तपा दिया जाय और निकाल दिया जाय तो वहाँ देखो लोहेका गोला जुदी चीज है और अग्नि जुदी चीज है जो कि लोहेके गोलेमे ही पडी हुई है। गर्म हो गया है ना। तो भेद है अग्निका और लोहेके गोलेका, मगर भेद कहाँ मालूम होता है ? एक प्रतीत होता है। इसी तरह बुद्धि और चैतन्यमे भेद तो है, पर, तुमको एक मालूम पडता है। इस तरह अचेतनज्ञानवादी साख्य लोग जैनोके प्रति या जितने भी स्वसम्वेदन ज्ञानवादी हैं उन के प्रति कह रहे हैं और कहते ही जा रहे हैं। देखो लोहेके गोलामे और अग्निमे भेद

नही है यह बात नही कह सकते। भेद है क्योकि दोनोमे रूप और स्पर्शका भेद नजर आता है। लोहेका गोला तो स्पर्श है और अग्नि रूप है। तो रूप वाली हुई अग्नि और स्पर्श वाला हुआ लोहेका गोला। तो भेद है कि नही। लोहेके गोलेमें देखो एक गोल आकार है कठिन स्पर्श है और उससे भिन्न अभिन्न है जिसमे चमकना हुआ रूप है और उष्ण स्पर्श है यह तो बिल्कुल समझमे आ रहा है। तो जैसे लोहेके गोलेमे और अग्निमे भेद है पर वह एक दूसरेमे बिल्कुल प्रविष्ट हो गया है। ऐसा संसर्ग होनेके कारण अब भेदका ज्ञान नही हो रहा है इसी तरह बुद्धि और चेतन इन दोनोमें भेद है। बुद्धि है प्रकृतिका धर्म, चैतन्य है आत्माका धर्म पर उसमे एक अन्योन्यानुप्रवेश संसर्ग हो गया है इस कारण भेद नही जचता, पर भेद है। तब इससे यह सिद्ध हुआ कि वास्तवमे आत्मा जानता नही है किन्तु जब प्रकृतिका धर्म ज्ञान आत्मामे पदार्थका आकार सौंप देता है तब वह जानता है और ऐसा ज्ञान चूकि प्रकृतिका धर्म है, अचेतन है अतएव स्वयको नही जानता, ऐसी सांख्यसिद्धान्तने अपनी बात रखी।

बुद्धि व चैतन्यमे भेद सिद्ध करनेके लिये गलत दृष्टान्तका प्रयोग

उत्तरमे कह रहे है कि यह बात युक्त भी नही है कि दृष्टान्त भी तुम्हारा गलत है। अग्निमे और लोहेके गोलेमे उस समय भेद नही है, वह एक ही चीज है, क्या है कि वह लोहेका गोला अग्निके सम्बन्धके पहिले एक शीतल अवस्थामे था, अब अग्निका सम्बन्ध पाकर पूर्व आकारका उसने त्याग कर दिया अर्थात् जो उसमे रूप था, कृष्ण-रूप था, ठडका स्पर्श था वह सब त्याग कर दिया और विशेषरूप और विशेषस्पर्श पर्याय उसमे बन गयी। विशेषरूप क्या हुआ कि वह लाल हो गया और स्पर्शमे क्या बदल हुई कि अब उष्ण बन गया अर्थात् जो ठडे पर्यायमे था अब उसे त्यागकर उष्ण पर्यायमे आ गया। तो रूप और स्पर्श दोनोंका आधारभूत यह एक लोहेका गोला है। जैसे कुम्हार घडा बनाता है तो घडा पहिले तो कच्चे आकारमे था और अग्निका सम्बन्ध होनेसे अब वह पके आकारमे हो गया मगर तब भी घट अब भी घट। दोनो अवस्थाओंमे वह एक घट आधार था। इसी तरह जो लोहेका गोला पहिले शीतल और कृष्ण पर्यायरूपमे था वही इस समय उष्ण पर्याय और भासुर रूपमे हो गया। वहा भेद नहीं है जिससे तुम बुद्धि और चेतनमे भेद देखना चाहो।

ज्ञानादिक चैतन्यके अनर्थान्तर बुद्धि, चैतन्य, अनुभूति, प्रतीति, ज्ञान ये सब एक उस चेतन विशेषके ही पर्यायवाची शब्द हैं। अन्तर थोडा सा इतना ही मात्र रह गया। जैसे ज्ञान ५ होते है ना— आभिनिबोधिकज्ञान श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः-पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ज्ञानकी मति, स्मृति संज्ञा, तर्क, अनुमान ये इसकी पर्यायें हैं तो इनमे परस्परमे अन्तर है, पर मूल जो स्वभाव है उसमे अन्तर नही है, इसी तरह बुद्धि प्रतीति, आत्मानुभव, यह सब उस चैतन्य विशेषकी ही पर्याय है पर कुछ विशेष इनमे है। तो यह बुद्धि अथवा ज्ञान आत्माका ही स्वभाव है। पर आत्मा

से प्रथक् नहीं है हम जिस ज्ञानके द्वारा जगतके पपार्थोको जानते हैं जिस ज्ञानके द्वारा हम अपने आपमे विश्राम और शान्ति लेना चाहते हैं उस ज्ञानका परिचय प्राप्त करे तो मेरे लिये बहुत स्पष्ट निर्णय और मार्ग मिल जायगा। अत ज्ञानकी जानकारीके लिये इन दार्शनिक ग्रन्थोमे सर्वप्रथम इसीका ही स्वरूप कहा जा रहा है।

औपाधिकभावोकी स्थास्नुताकी विभिन्नताये – यहा तक यह बात बताई कि जैसे लोहेके गोलेमे अग्नि अलग चीज नही है किन्तु वह लोहेका गोला ही शीत पर्यायको त्यागकर उष्ण पर्यायको प्राप्त हुआ है वह उष्णता औपधिक है और वह लोहेके गोले की ही चीज है इसपर अचेतन ज्ञानवादी फिर आशका कर रहे हैं कि यदि लोहेके गोले मे अग्नि जुदी नही है, वह गोला ही उष्ण रूप बन गया है तो थोडी ही देर बाद फिर उसकी अग्नि खतम क्यो हो जाती है ? यदि लोहेकी ही चीज है तो उसमे ही सदा बने रहना चाहिए उत्पत्तिके अनन्तर ही उस अग्निका विनाश क्यो होता ? उत्तर देते हैं कि यह आशका तुम्हारी ठीक नही है क्योकि उत्पत्तिके बाद ही उष्णताका विनाश नही देखा जाता । हाँ औपाधिक जितने परिणमन हैं उनमे यह अन्तर हो सकता है कि कोई तो उपाधिके वियोगके तुरन्त बाद नष्ट हो जाते हैं । कोई उपाधिके वियोगके बाद कुछ काल बाद नष्ट होते हैं । जैसे अग्निका सम्बन्ध पाकर दूध भी गर्म होता पानी भी गर्म होता और लोहा भी गर्म होता, पर उपाधिका अग्नि वियोग होने पर लोहा, अधिक देर तक गर्म रह जाता । दूध कुछ कम देर तक गर्म रहता, पानी और भी कम देर तक गर्म रहता तो यह पदार्थकी योग्यतापर निर्भर बात है और कुछ पदार्थ ऐसे होते है कि उपाधिके वियोग होनेके तुरन्त बाद मिट जाती है ।

औपाधिक भावोकी विविध स्थास्नुताओके कुछ उदाहरण – जैसे दर्पण के सामने हमने हाथ किया तो दर्पण उस छायारूप परिणमन तो गया किन्तु जैसे ही हम हाथ हटा लेते, तुरन्त प्रतिविम्ब मिट जाता तो वह प्रतिविम्ब भी नैमित्तिक है। हाथका निमित्त पाकर दर्पणका वह आकार बना है। और, उस कालमे वह उसी दर्पणकी अवस्था है, हाथकी जो दशा है वह हाथमे ही मिलेगी । इसके रूप, रस, गध, स्पर्श आकार जो कुछ हैं वे हाथमे ही है तो हाथका निमित्त पाकर दर्पण जैसे प्रतिबिम्बित हो गया और वह ऐसा औपाधिक परिणमन है कि हाथ बाहर करदे तो तुरन्त दूर होता है क्षण मात्र भी नही रहता । जैसे अग्निका सम्बन्ध पाकर पानी गर्म हुआ और अग्निपरसे पानी हटा दे तो वह कई मिनट जैसे वैसाक वैसा ही गर्म रहता है। लेकिन यह दर्पणका ऐसा औपाधिक परिणमन है कि हाथ अलग करे तो तुरत प्रतिबिम्ब मिट जाता है। तो कोई औपाधिक भाव ऐसा है कि तुरन्त ही उनका विलास मिट जाय और कोई औपाधिक भाव ऐसा है कि निमित्तके दूर होनेपर भी कुछ क्षण बराबर बना रहता है। तो यह तो अपने अपने पदार्थोंकी विशेषता है। भोजन किया और भोजन करनेका निमित्त करके एक सुख माना, भोजन कर चुकनेके बाद भोजन

का वियोग हो गया लेकिन वह सुख परिणमन बहुत देर तक चलता रहता है। तो कुछ औपाधिक भाव ऐसे हैं कि उपाधि मिटनेके बाद भी कुछ देर तक चलते रहते हैं और कुछ ऐसे हैं कि उपाधि मिटनेके अनन्तर ही नष्ट हो जाते हैं। तो अग्निमें और गोलामे जो भेद बतला रहे हो तो भेद नहीं है, वह गोला ही गर्मरूप परिणम गया है। अब गोलाको जब उस स्थानमे हटा दिया जहाँ कि गर्म कर रहे थे तो हटा लेने पर तुरन्त ही गर्मीका विनाश नही है, गर्मीका विनाश कुछ देर बादम होता है। अथवा तुरन्त भी हो जाय तिसपर भी जा कि नष्ट हुई है उस उपादानकी अपनी परिणतिसे। यो बुद्धि और चेतनमे भेद नही किया जा सकता।

ज्ञानकी स्वपरप्रकाशकता – मैं आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ और इस ज्ञानमे ऐसी खूबी है कि वह अपने आपको जानता रहे और परको भी जानता रहे, स्वपर प्रकाशकता प्रत्येक ज्ञानमें पायी जाती है। किसीको अपने ज्ञानका पता न हो वह भी स्वपरप्रकाशक ज्ञान रख रहा है और जिसे अपने ज्ञानकी इस खूबीका परिचय हो उस का भी ज्ञान स्वपरप्रकाशक है। जैसे कभी कोई विशेष काम हो लाभका तो उस लाभके लोभमे वह पुरुष बहुत जल्दी घरसे निकलता है और कदाचित् उसके सिरमे कोई ऊपर चीज थोडीसी लग जाय या बाहमे कुछ छिन जाय तो उसे पता नही पडता क्योकि उसका उपयोग परवस्तुमे है, जिसमे लाभ माना है वहाँ उसका उपयोग गया है इस कारण पता नही पडता लेकिन वहाँ जो हुआ सो तो हुआ ही है। ऐसे ही जिन अज्ञानी जनोको अपने ज्ञान स्वरूपका परिचय नही है और इस ज्ञानका इस तरह विश्लेषण नहीं कर पाते, न कर पावें, मगर बात तो सवपर एक सी ही बीतती है। उसका मूल निर्णय एक है, वस्तुस्वभाव कि वह सब पर प्रकाशक है। मिथ्यादृष्टिका भी ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, अज्ञानीका भी ज्ञान स्वपरप्रकाशक है। इसका अर्थ यह न लेना कि अज्ञानी अपने आत्माको अपने ज्ञानको अब ज्ञानस्वभावरूपसे जान रहा है लेकिन अर्थ यह है कि कोई सा भी ज्ञान हुआ, ज्ञानका स्वरूप ही ऐसा है कि अपने आपका भीतरमे निर्णय हो उस ही पद्धतिमे बाह्य पदार्थोंको जानता है एक विपरीत ज्ञानी पुरुष सीपको चाँदी जान रहा है तो भले ही सीपको चाँदी जाने और दृढतासे जान रहा है कि यह चाँदी है, किन्तु उसे अपने ज्ञानमे पूर्ण सच्चाईका निर्णय बन रहा है कि मेरा ज्ञान सही है। मरा ज्ञान सही है ऐसा जाने बिना वहाँ चाँदीका जानना नही बन सकता। देखिये विपरीत ज्ञान है, पदार्थ जैसा है वैसा ही जानता रहे फिर भी वहाँ दृढतासे जानता और अपने ज्ञानको भी दृढतासे समझ रहा है। अज्ञानीका भी ज्ञान स्वपर प्रकाशक है ज्ञानीका भी ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। ज्ञानका स्वरूप है स्वपर प्रकाशक।

शाश्वत ज्ञान शक्तिके परिणमन – तो ज्ञान स्वका निश्चय करने वाला है और परका भी निश्चय करने वाला है। इस प्रकार स्वपर प्रकाशकरूपमे अनुभव किया

गया जो यह ज्ञान है, निजतत्त्व है उसमे फिर अलगसे तत्त्वज्ञानका सम्पर्क जोडना यह युक्त नही है। ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व है उसमे ज्ञानका सम्बन्ध बनाकर फिर उसे ज्ञानी मानना यह युक्त बात नही है। यदि ऐसा कहोगे तो कही भी व्यवस्था न बनेगी। अच्छा बतावो यह चौकी कैसी है ? कोई कहेगा लाल है, हम कहेगे लाल है ही नही, इसमे लाल रङ्गका सम्बन्ध जुडा है तब लाल है, इसमे रूप भी कुछ नही है, रूपके सम्बन्धसे रूपी है। तुम कोई व्यवस्था ही नही बना सकते। जिस चाहेमे भेद कर डालेगे। किसी वस्तुका कोई स्वभाव ही न रहेगा और स्वभाव न रहेगा तो फिर वस्तु क्या ? इस कारण यह मानना कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और उस ज्ञानस्वरूप आत्माके ही वे सब परिणमन चल रहे हैं। बुरा जाने, भला जानें, थोडा जानें, बहुत जानें ये सब आत्माके ज्ञानके परिणमन हैं।

ज्ञानकी तिरोभूततामे प्रकृतिकी निमित्तता—भैया ! जो ज्ञानमे भेद आया है – कोई कम जानता कोई अधिक जानता वे भेद उपाधिके सम्बन्धसे आये। ज्ञान उपाधिके सम्बन्धसे नही बना किन्तु ज्ञानमे जो तारतम्य है, कम जाननेकी बात है वह उपाधिके सम्बन्धसे आया। जैसा इसके ज्ञानावरण प्रकृतिका उदय है उसे उस प्रकारका अज्ञान बना है। तो ये अचेतन ज्ञानवादी ज्ञानको भी प्रकृतिकी चीज कह रहे हैं। जैसे लोग यह भी कह बैठते हैं कि इनके ज्ञान बहुत हैं, इनके कर्म बहुत अच्छे हैं, इनके पुण्यका बहुत अच्छा उदय है, खूब ज्ञान मिला है। अरे ज्ञान कही कर्मोंके उदय से मिलता है, पर ऐसा कहते हुए बहुतसे लोग पाये जाते हैं। उसी ढङ्गसे ये भी कह रहे हैं कि प्रकृतिसे ज्ञान बनता है। पुरुषप्रकृतिवादके सिद्धान्तमे ये समस्त जितनी भी विभिन्न रचनाएँ हैं वह सब प्रकृतिका खेल है। आत्मा तो केवल द्रष्टा है, चैतन्यस्वरूप है, अपरिणामी है। जितनी विभिन्नता है यह सब मायाका खेल है। इस प्रकृतिसे बुद्धि तत्त्व उत्पन्न होता है। फिर बुद्धिसे अहकारकी उत्पत्ति होती है। फिर अहकार के बाद इन्द्रियके विकल्पोकी भावेन्द्रिय, द्रव्येन्द्रिय इनकी उत्पत्ति होती है। और, फिर उससे ये सब शरीरभेद उत्पन्न होते हैं। तो जितने जो कुछ भी वैचित्र्य हैं वे सब प्रकृतिके वैचित्र्य हैं।

जैनशासनमे प्रकृतिका स्थान—प्रकृतिके सम्बन्धमे इसका समन्वय करनेके लिए थोडा जैनशासनके अनुसार सोचिये—जैसे कभी बहुत सुरम्य स्थानपर अपन पहुँचे। शिमला, मसूरी, काश्मीर किसी भी जगह जायें और रमणीक फल वृक्ष पत्ते वगैरह हो, नदी भी बह रही हो, नाला भी बहता हो, कलकलाहटके शब्द भी आ रहे हो, कुछ चिडियाँ भी चहक रही हो तो ऐसे दृश्यको देखकर कोई लोग कहने लगते हैं—वाह कैसा रमणीक दृश्य है देखो प्रकृति कितनी सुहावनी है। भला बतलावो तो सही कि वह प्रकृति क्या चीज है ? किसका नाम प्रकृति है ? और, किसकी खूबी है जो इतना सुहावना दृश्य लगता है ? क्या है वह प्रकृति ? इसका जैनदर्शनसे निर्णय

करें। वह प्रकृति है कर्मकी। कर्ममे नाना प्रकृतियाँ पायी जाती हैं और जिस जीवके साथ जिस प्रकारकी प्रकृति बँधी हुई है उसके उदयमे उसका उस प्रकारसे परिणमन होता है। अब देख लीजिए! फूलोकी विचित्रता। कोई एक फूल ऐसा होता है जिस मे आप ७ रङ्ग पायेंगे और विचित्र ढङ्गसे और उसी पेडमें किसी जगह और ढङ्गके फूलोके रङ्ग पायेंगे। इतनी प्रकारकी फूलोमे जो विचित्रता है वह क्या स्वाभाविक विचित्रता है? वह तो प्राकृतिक विचित्रता है, स्वाभाविक विचित्रता नही है। स्वभावमे और प्रकृतिमे अन्तर है। प्रकृति तो एक कृत्रिम चीज है, आदिम है और स्वभाव आदिम नही है। तो इतनी प्रकारकी विचित्रतामे उस रमणीक स्थानमे मालूम पड रही है वह है क्या? उन-उन जीवोके साथ जिन जीवोने फूलका शरीर लिया है, पत्तीका शरीर लिया है उन-उन जीवोंके उस उस प्रकारकी विचित्र कर्मप्रकृतियाँ लगी हुई हैं और उनके उदयमे उनका ऐसा विचित्र परिणमन चल रहा है। यह है प्रकृतिकी चीज। जब कहा कि कितने प्राकृतिक दृश्य हैं? तो उसका अर्थ यह है कि कर्मप्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुई शरीरकी शोभा। उस प्रकृतिसे ज्ञान उत्पन्न नही होता, ज्ञानस्वरूप तो यह स्वय आत्मा है।

ज्ञानमे प्रकृतिधर्मत्वकी मान्यता बना सकनेका आधार—इस प्रसङ्गमे एक बात और जानें कि आखिर वनवासी अन्य सत भी ऋषी लोग थे। अपनी समझ के माफिक कल्याणके लिए घर त्यागा था ऋषी हुए थे, जङ्गलमे रहते थे और सिद्धान्तकी रचना करते थे। साख्य आदिक सभी लोग। तो लोगोंने कौनसा आधार ऐसा पाया जिसपर वहाँ यह देखा जाय कि आत्मा ज्ञानशून्य है। जब ज्ञानका सम्बन्ध बनता है आत्मामे, तब आत्मा जानता है। ऐसा निर्णय करनेके लिये उन्होंने आधार क्या पाया? निराधार ही बात तो नही बनती। उन्होंने आधार यह पाया कि यह देखा लोगोमे, जीवोंमे कि ये लोग ज्ञान करते हैं और वह ज्ञान मिट जाता है, विघट जाता है, कम होता है आता है चला जाता है। तो ये सब जो आये और चले जाये ऐसा ज्ञान होना आत्माका स्वभाव हुआ आत्माका स्वभाव नहीं बनता। जिसे जैन शास्त्रमे क्षायोपशमिक ज्ञान कहते हैं, क्षायोपशमिक ज्ञान आत्माका स्वरूप नही है। उस क्षायोपशमिक ज्ञानको ही समग्र ज्ञान मानकर ज्ञानका निषेध किया है कि ज्ञान आत्माका स्वरूप नही है, साथ ही यह निरखकर कि किसीमे कम ज्ञान है किसीमे अधिक ज्ञान है तो इस ज्ञानका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध आत्मासे नहीं है क्योकि आत्मा तो सब एक है स्वरूप उन सबका एक है, यह भेद क्यो बना है? उनका सम्बन्ध किसी अन्य विरोधी धर्मोंसे है और उसका नाम है प्रकृति। तो इस तरह ज्ञानको प्रकृतिका धर्म कहा गया है।

ज्ञानस्वरूपकी खोज—जरा ज्ञानतत्त्वकी खोजमे कुछ स्खलन हो गया कि जिस ज्ञानको निरखकर निर्णय किया गया कि यह आत्माका स्वरूप नही है वह ज्ञान

यथार्थ ज्ञान यथार्थ स्वरूप मूलभूत स्वभाव न था। जब क्षयोपशमिक ज्ञान हट जाता है तो एक ऐसा निर्विकल्प ज्ञान बनता है जिसमे किसी भी पदार्थका विकल्प आकर नही रहता। उस स्थितिमे हम लागोको ऐसा बोध होता है कि वह जानता ही क्या है ? तो ऐसे ही अनेक प्रकारोको निरखकर यह निर्णय कर डाला गया कि ज्ञान आत्मा का धर्म नही है किन्तु प्रकृतिका धर्म है। किन्तु, प्रकृतिका धर्म होता यह ज्ञान तो प्रकृति ही ज्ञाता, प्रकृति ही भोक्ता, प्रकृतिपर ही सारा भार होता। और, तब प्रकृति ही ससारी होता और प्रकृतिको ही मोक्ष दिलाया जाता। तो भेद विज्ञानके इन शास्त्रोकी क्या जरूरत थी ? इसमे ज्ञान आत्माका स्वरूप है और वह स्वपर व्यवसायी है ऐसा स्वपर प्रकाशात्मक ज्ञानमात्र अपनेको निहारना चाहिए। यही स्वरूप है और सबसे न्यारा है। इस अनुभवमे अपने आपमे वह ज्योति प्रकट होती है जिसके कारण भव-भवके कर्म भी भस्म किए जा सकते है।

स्वरूपको अन्यका धर्म बना देनेसे व्यवहारोच्छेद – आत्मा ज्ञानस्वभाव है और अपने द्रव्यत्व गुणके कारण प्रति समय ज्ञान विवर्तरूपसे वह परिणमता रहता है। फिर भी आत्मामे ज्ञान पर्याय बनानेके लिए अथवा समस्त लोकको जाननेकी व्यवस्था बनानेके लिए ज्ञान प्रकृतिका धर्म है और ज्ञानका सम्बन्ध आत्मासे होता है तब पदार्थके जाननेकी व्यवस्था बनती है ऐसी हठ किए जानेपर फिर तो किसी भी प्रकार का व्यवहार न बन सकेगा। एक प्रमाणसिद्ध अनुभवसिद्ध एकत्वमे भी भेद करके अन्यका धर्म उसमे रखा जानेकी हठ बनायी जाय तो यो आप कुछ भी काम नही कर सकते। जो अनिष्ट पदार्थ हैं –जैसे सर्प है, काटा है, बिच्छू है इनका तो आप परिहार करते हैं और जो इष्ट चीज है जैसे परिजनमे रहना आदि इष्ट पदार्थोंमे जब परिणति कर रहे हो वहाँ भी यह आशङ्का आ जायगी कि कही यहाँ बिच्छू साप तो नही आधमक जाय। तो जिसकी हम प्रवृत्ति कर रहे हैं उसमे प्रवृत्ति भी न बन पायेगी। जो बात जैसी है उसे वैसा न माननेपर अन्यका धर्म आत्मासे जुडता है ऐसा स्वीकार करनेपर किसी भी इष्ट विषयमे हम अपना प्रवर्तन कर रहे हो तो वहाँ अनिष्टके आ धमकनेकी आशका हो सकती है। जैसे चैतन्य स्वभावमात्र आत्मामे परिणति आ धमकनेकी बात घट गयी फिर तो किसीमे भी परिणति न बन पायेगी अथवा किसीमे इन्द्रियाँ न बन पायेंगी। जब हम सर्प और बिच्छूसे हटनेकी कोशिश कर रहे हो और वहाँ यह बात आ धमके कि इसमे स्त्री पुरुष आ जाये तो निवृत्ति ही क्या करेंगे ? तो किसी विरोधी पदार्थके आ धमकनेसे आ सकनेसे न कही प्रवृत्ति बन सकेगी और न कही निवृत्ति बन सकेगी। इस कारण यह मानना कि जिस पदार्थमे जिसका स्वरूप निर्बाधरूपसे प्रतीत हो रहा हो वह अन्य सब पदार्थोंके धर्मके परिहारपूर्वक ही होता है। आत्मामे यह ज्ञानस्वभाव ज्ञान व्यवहार अपने एकताके प्रतिभाससे प्रतिभासित हो रहा है, इसमे प्रकृतिका धर्म नही है, उसका परिहार है इस आत्मामे, यो एकत्वकी व्यवस्था मानना चाहिए।

आत्माको चैतन्यस्वरूप माननेपर चैतन्यविशेषको प्रकृति धर्म मानने की व्यर्थता – और फिर देखिए भैया ! अनुभव सिद्ध जो यह बुद्धि चलती है मैं करता हूँ मैं भोगता हूँ अथवा सुख दु ख आनन्द जितने भी परिणमन चलते हैं अथवा जो कोई शुभ और शुद्ध परिणमन भी होते हैं उन सब पदार्थोंकी तरङ्गोंका इस ज्ञानमे एक व मानना चाहिए, अर्थात् सब यह ज्ञानविलास है। कभी यह अशुद्ध बनता है तो अशुद्ध विलास चलता है शुद्ध बनता है तो शुद्ध विलास हुआ करता है। तो आत्माके इस ज्ञानस्वरूपमे कोई बाधा नही आती। कोई भ्रम भी नही है कि कोई यो कह दे कि जैसे कभी कभी आँखसे दो चन्द्रमा पास पास दिखने लगते हैं इस तरहसे यहाँ भी कुछ मिथ्यापन नजर आये तो नही कह सकते। वह तो स्वसम्वेदन सिद्ध है। मैं हूँ और फिर जब चैतन्य मान लिया आत्मामें तो ये सब चैतन्यकी ही तो विशेषताएँ हैं कि जाना और देखा। जाननेसे अतिरिक्त और चेतनकी बात क्या रह गयी ? केवल उप देशमात्रसे आगममे लिख दिया, शास्त्रमे बता दिया कि पुरुषका धर्म है चेतन और प्रकृतिका धर्म है ज्ञान तो यो किन्ही शास्त्रोमे लिख देने मात्रसे कही अन्यथा बातकी तो नही कल्पना की जाना चाहिए। वस्तुस्वरूपके विरुद्ध तो बात माननेको न बनना चाहिए। अचेतन पदार्थ स्वय स्वपरप्रकाशक है फिर उसमे अन्य कहीसे बुद्धि आये और उस बुद्धिका इस चैतन्यात्मक आत्मामे फिर सम्बन्ध बनाना यह बात कैसे घटित होगी ? इससे क्या सिद्ध करना चाहा ? कौन सी नई बात लानेका यत्न किया ?

चैतन्य और बुद्धिको पुरुष एव प्रकृतिका धर्म माननेमे कल्याणकी खोज भैया ! अचेतन ज्ञानवादियोकी ओरसे सोचा जाय कि इससे उन्होने कल्याण की क्या बात निकाली कि पुरुष तो है चैतन्य स्वरूप और ज्ञान है प्रकृतिका धर्म तथा उसके सम्बन्धसे यह ज्ञाता बनता है, इसमे उन्होंने कौनसा कल्याणका मार्ग निकाला ? जरा सोचो तो सही उनकी ही बुद्धि लेकर। कल्याणका मार्ग यह निकाला गया कि यह समझ आयगी जब सारे अनर्थकी जड ज्ञान है, न ज्ञान होवे न कल्पना बने तो न दु ख होवे। कोई टोटा हो गया उसकी खबर मिली, उसका ज्ञान बना, लो दु ख बन गया। कोई खबर न मालूम पडती, उस विषयक ज्ञान न हो तो वह तो बडे सुखमे था। तो सब विडम्बनाओकी विपत्तियोकी जड ज्ञान है ऐसा माना गया है। तो अब इसे मिटाना चाहिए। यदि वह पुरुषका धर्म मान लिया जाय तो मिटाये मिट न सकेगा। वह स्वरूप बन गया, मैं पुरुष हूँ, मैं आत्मा हू, मेरा स्वभाव यदि ज्ञान बनेगा तो वह ज्ञान कभी मिट न सकेगा। जैसा कि जैन शासनमें बताया है कि आत्माका स्वरूप राग नही है। अगर आत्माका स्वरूप राग बन जायगा तो क्या विडम्बना बनेगी ? राग कभी मिटेगा नही और मिटेगा नही तो कभी शान्ति आ नही सकती। तब जिसकी धारणामें ज्ञान ही अनर्थका मूल बन गया और ज्ञानको मान लें पुरुषका धर्म तब तो कभी मुक्ति हो ही नही सकती। और, ज्ञान छूट जाय आत्माने तो उसका नाम मुक्ति है। क्योंकि ज्ञान है अनर्थकी जड। ऐसा मान करके यह पक्ष उन्होंने रखा

कि ज्ञान प्रकृतिका धर्म है और प्रकृति पुरुषका जब विवेक किया जाय भेद डाला जाय कि मैं तो चैतन्य मात्र हूँ और ये सारे ज्ञान रागद्वेष विकल्प शरीर इन्द्रिया सब कुछ प्रकृतिके धर्म हैं। इनसे हमारा कुछ प्रयोजन नही। यो भेदविज्ञान बनानेके लिये और एक निर्विकल्प द्रष्टामात्र स्थितिमे पहुचनेकी बुद्धिसे ज्ञानको प्रकृतिका धर्म माना है। यह है अचेतन ज्ञानवादियोके मतव्यमे कल्याणका हल निकालनेका उपाय।

कल्याणके उपायकी जैनशासनमे व्यवस्था - अब जैन सिद्धान्तके अनुसार कल्याणका उपाय देखिये! आत्मा चैतन्यस्वरूप है और जितने भी पदार्थ हैं वे सब सामान्यविशेषात्मक होते है। उनमे कोई सामान्यरूप है और कोई विशेषस्वरूप है। खूब दृष्टि पसारकर पदार्थोंको निरख लीजिये! सामान्यविशेषात्मक हुए बिना पदार्थ की सत्ता नही रह सकती। इसका सीधा अर्थ यह है कि पदार्थ है और किसी न किसी अवस्थामे है। जो अवस्था है वह है विशेष और जो साधारण अस्तित्व है वह है सामान्य। जो आत्मा सामान्यविशेषात्मक है और आत्मा है चैतन्यस्वभाव। तो फलित अर्थ यह हुआ कि पदार्थ भी सामान्यविशेषात्मक है। अब उस पदार्थमे जो सामान्य वृत्ति है वह तो है दर्शन और जो विशेष वृत्ति है वह है ज्ञान। अर्थात् जो कुछ विश्वकी जानकारी बन रही है वह तो है चेतन पदार्थका विशेष विकास और जो अपने आपको चेतनेकी वृत्ति बना रहे हैं वह है सामान्यविलास। तो उस ज्ञानसे अनर्थ नही होता, किन्तु उपाधिके सम्बन्धसे जब रागद्वेष विकार उत्पन्न होते हैं तब उन विकारोसे आपत्ति आती है और उस आपत्तिके समय अर्थात् रागादिक विकार होनेके समय ज्ञान अपनी विशुद्ध वृत्तिमे नही रह पाता और विकल्परूप बन जाता है। उन्ही विकल्पोको लेकर अचेतनज्ञानवादी यह मन्तव्य रख रहे हैं कि सब अनर्थ ज्ञानसे हैं। पर अनर्थ ज्ञानसे नही है, अनर्थ है रागादिक विकारोसे। उन रागादिक विकारोसे छुटकारा पानेका नाम मोक्ष है।

ज्ञानको अचेतन माननेपर अर्थव्यवस्थाका अभाव - यह निर्णय रखना कि आत्मा ज्ञानस्वभावात्मक है, ज्ञान चैतन्यस्वरूप है अचेतन नही है। और भी इस सम्बन्धमे सोचिये कि यदि ज्ञानको अचेतन मान लिया जाय तो वह विशेषकी व्यवस्था कैसे बनाये? यह पदार्थ अमुक है यह अमुक है ऐसा ज्ञानमे प्रमाणपना कैसे आयगा क्योकि वह अचेतन है। यह चौकी अचेतन है तो यह चौकी क्या यह व्यवस्था बना लेती हैं कि यह पुस्तक है यह कमण्डल है, यह चटाई है? नही बनाता। अचेतन है ऐसी व्यवस्था बनानेका यह कोई कारण नही है। यदि यह कहो कि ज्ञान अचेतन तो जरूर है पर उसमे पदार्थका आकार जो आता है उस आकारसे व्यवस्था बन जायगी ज्ञानमे अभिमुख स्थित पदार्थका आकार आयगा यह कहेगे कि यह ज्ञान इस पदार्थको जानता है जिसका आकार आया उसके जाननेकी बात कह दी जायगी। यह भी बात अयुक्त है क्योकि यदि अचेतन आकारवान होनेके कारण अर्थकी व्यवस्था करें तो प्रथम

तो यह सम्भव नही है। किसी भी अचेतन पदार्थमे किन्ही पदार्थोका आकार आये और उससे व्यवस्था करे यह नही देखा जाता। एक दर्पणका ही दृष्टान्त ले लो, अनेक पदार्थोका आकार आता है, पर क्या दर्पण यह व्यवस्था कर सकता है कि यह अमुक चीज है यह अमुक चीज है ? तो अचेतन जो होगा उसमें आकार भी आ जाय तो पदार्थकी व्यवस्था न कर सकेगा।

अन्त करणत्व और पुरुषोपभोगहेतुत्वसे भी अचेतन ज्ञानमे व्यवस्था का अभाव—यदि यह कहोगे कि इस बुद्धिमे दो विशेषताएँ हैं एक तो यह अन्त करण है, भीतरका साधन है, आन्तरिक इन्द्रिय है और दूसरे यह इस पुरुषको अनुभव कराने की निकटता लानेका कारण है इस बुद्धिके प्रसादसे यह आत्मा किसी भी पदार्थके अनुभवमे आ लेता है तो आत्माको अनुभव निकट ले जानेमे कारण बुद्धि है, इस कारणसे उस बुद्धिमे व्यवस्था वन जायगी जाननेको। कहते हैं कि यह भी ठीक नही है क्योकि अन्त करण तो मन भी है पर मन जाननेका काम नही करता। उनके सिद्धान्तमे जाननेका काम करने वाली है बुद्धि। मन जानता नही है मन रागद्वेपादिक उत्पन्न करनेमे कारण है। जैसे कि आज भी प्रसिद्ध है कि दिल और दिमाग दो चीजें हैं—दिमाग जाननेका काम करता है और दिल रागद्वेष करनेका काम करता है। तो यो अन्त करणपना तो मनमे भी आ गया और आत्माको किसी विपयके अनुभव करानेके निकट ले जाये यह बात तो इन्द्रियमे भी है। तब फिर मन और इन्द्रिय भी ज्ञान बन जायेंगा। तो अन्त करणके कारण भी बुद्धिका सम्बन्ध जाननेसे नही बन सकता।

अन्त करणकी प्रत्यक्षता बिना अन्त करणसे अर्थव्यवस्थाका अभाव—शायद यह कहो कि अन्त करणके बिना आत्मा पदार्थको नही जानता तो फिर अन्त करणकी भी प्रत्यक्षता कैसे हो ? यह अन्त करण है यह जाने बिना। अन्त करणमे जो आया है उसका ज्ञान नही हो सकता। भला दर्पणके जाने बिना दर्पणमे जो चीज आयी है उसका ज्ञान कैसे कर सके। दर्पणको औंधा धर दो दर्पण करदे आप लोगो के सामने और उसके पीछे हम बैठ जायें तो हम दर्पणमे प्रतिविम्बित हुए पदार्थको बता सकेंगे क्या ? दर्पणमे क्या प्रतिविम्ब आया है वह तब समझा जा सकता है जब हम दर्पणको भी जान रहे हो। जैसे ज्ञानमें क्या चीज हुई है, ज्ञानने क्या जाना है इस बातको हम तब जान सकते जब हम ज्ञानको जान रहे हो। तो यो यदि अन्त करण जानता है तो अन्त करणकी भी तो प्रत्यक्षता होनी चाहिए। उसका ज्ञान किस प्रकार होगा ? यदि दूसरे अन्त करणमे प्रथम अन्त करणका ज्ञान मानो तो उसका ज्ञान फिर तीसरे अन्त करणसे। कहीं व्यवस्था न बनेगी। यदि कहें कि इस अन्त करणको हम जानते नही फिर भी अन्त करणका प्रतिविम्ब आये बिना भी इसका प्रत्यक्ष हो जाय तो पदार्थका प्रत्यक्ष सीधा क्यो नहीं मान लेते ? बुद्धि मानें फिर अन्त करणका माध्यम मानो फिर ये सब आत्माको सौंपें तब आत्मा जाने इस प्रकारका व्यर्थ व्यायाम करने

से क्या याभ ? सीधीसी बात है कि आत्मा ज्ञानरूप है। यह ज्ञान आत्माको जानता है और परको जानता है।

विषयाकारधारितासे अर्थव्यवस्थाका अभाव – देखिये अपने आपको जाने विना परका जानना बन नही सकता। जैसे दर्पणके जाने बिना दर्पणमे क्या झलक है क्या प्रतिबिम्ब आया है यह ज्ञान नही बन सकता। इस प्रकार ज्ञान चेतन है और वह स्वपरप्रकाशक है। उसे स्वरूपसे स्वपर प्रकाशक यो माने विना बुद्धिकी कल्पना करनेपर बुद्धिमे विषयोका आकार आ जाय यह बात बन ही नही सकती। क्या पदार्थ का आकार इस बुद्धिमे आ जाता है। विषयोका आकार बुद्धिमे नही आ सकता क्यो कि बुद्धि अमूर्त है और ये विषय मूर्त हैं। मूर्तका अमूर्तमे प्रतिबिम्ब नही बन सकता। जैसे दर्पणमे अनेक पदार्थोंका प्रतिबिम्ब बन गया, लो बन गया, दर्पण भी मूर्तिक है और जिन पदार्थोंका प्रतिबिम्ब आया है वे पदार्थ भी मूर्तिक है। मूर्तका मूर्तमे प्रतिबिम्ब हो जायगा पर ज्ञान तो अमूर्त है उसमे पदार्थका आकार प्रतिबिम्ब कैसे आ जायगा। बुद्धि विषयोके आकारको नही रख सकती क्योकि वह अमूर्त है। जैसे आकाशके स्वरूपमे पदार्थोंका आकार नही आ सकता क्योकि आकाश अमूर्तिक है। जो विषयोका आकार धारण कर सके, पदार्थोंका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकें वे सब मूर्तिक हुआ करते हैं। जैसे दर्पण आदिक।

ज्ञानको मूर्त माननेपर इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होनेका प्रसङ्ग – देखिये सभी लोगोंने बुद्धिको अमूर्त माना है। यदि ज्ञान अमूर्त न हो, मूर्तिक हो तो इन इन्द्रियोंके द्वारा भी उसका परिज्ञान हो जाना चाहिए। जो जो पदार्थ मूर्तिक है वे इन्द्रियके द्वारा परिज्ञात हो सकते हैं जैसे दर्पण आदिक। शायद यह कहो कि बुद्धि तो अत्यन्त सूक्ष्म है इस कारण बुद्धिका प्रत्यक्ष नही हो सकता। तो बुद्धिका प्रत्यक्ष नही हो पाया तो बुद्धिमे आये हुए पदार्थका भी प्रत्यक्ष नहो हो सका। मूर्त पदार्थ तो इन्द्रिय द्वारा सम्विदित हुआ करते हैं। ये सब पदार्थ ये सब अचेतन स्वरूप रखते हैं। यह मैं आत्मा हूँ, मैं चैतन्यस्वरूप रखता हूँ, ज्ञान चैतन्यस्वरूप है, अचेतन स्वरूप नही है।

पदार्थोंकी प्रतिव्यक्तिगतता – लोकमे पदार्थोंकी व्यवस्था पुरुष और प्रकृति के रूपमे नही है किन्तु ६ द्रव्य जातियोंके रूपमे हैं। जाति इस विधिसे बनती है कि ऐसा कोई धर्म निरखा जाय जिससे उस जातिका कोई पदार्थ छूटे नही और अन्य पदार्थोंका कोई पदार्थ आये नहीं उस पदार्थसे जातिकी व्यवस्था बनती है। अस्तित्व की दृष्टिसे सर्व पदार्थ सत्मात्र हैं लेकिन यहाँ तो हमे प्रत्यक्ष दिख रहा है कि सर्व पदार्थ एक सत्रूप नही है क्योकि सब यदि एक सत्रूप हो तो किसी भी पदार्थका जो भी परिणमन बने वही सबका बने। जो एक चीज होती है उसमे एक ही परिणमन

होता है भिन्न भिन्न प[रि]णमन नही । ये सब पदार्थ एक सत्‌रूप हो[ते] हैं तो परिणमन न्यारे न्यारे नही हो[ने] [चा]हिए, किन्तु तथ्य यह है कि अणु अणुमे प्र[त्]येक जीवमे अपने अपने जुदे जुदे अनुभवन हैं, परिणमन है इस न्यायसे जितने परिणमन होंगे उतने ही पदार्थ होगे यहाँ भेद दृष्टिसे एक पदार्थमे अनेक गुणोंके परिणमन नही दिखते किन्तु जैसे वस्तु अद्वैत है ऐसे ही पर्याय भी अद्वैत है । इसकी जो परिणति हो रही है वह एक हो रही है । अब दूसरे समयमे परिणति हुई वह भी कोई एक है । यों प्रति समय मे हमारी जो भी परिणति होती है वह एक होती है । हम उसे समझानेके लिये भेद करते हैं [कि] यह ज्ञान पर्याय है यह दर्शन पर्याय है यह चारित्र पर्याय है यह आनन्दकी पर्याय है, यों भेद डालते हैं पर यहाँ जैसा यह मैं आत्मा एक हू, मेरा स्वभाव एक है, मेरी पर्याय भी एक है, पर्याय प्रति समयमे नई नई होती है यों जितनी परिणतिया होगी उतने पदार्थ हुए, उनमे कितनी जातिया हो सकती उन्हे अब आप समझिये ।

पदार्थोंकी छह जातिया यों अनन्त तो जीव हुए क्योंकि सबका अनुभव अपनेमे जुदा जुदा है अनन्त अणु हुए और एक धर्म द्रव्य एक अधर्म द्रव्य एक आकाश द्रव्य और असख्यात काल द्रव्य हुए । जीव और पुद्गलका स्वरूप स्पष्ट है । जो चेतन हो सो जीव, जो मूर्त हो सो पुद्गल । जो जीव पुद्गलके गमनका कारण हो सो धर्म द्रव्य । जो जीव पुद्गलके ठहरनेका कारण हो वह अधर्म द्रव्य । जो जीव पुद्गल आदिक सब पदार्थोंको स्थान देनेका कारण हो, सो आकाश है और सभी पदार्थोंके परिणमनका हेतु हो सो काल । अब इन लक्षणोंसे समग्र द्रव्य ६ जातिमे विभक्त हुए । उनमेसे जीव पुद्गलमे ही विपरीत परिणति हो सकती है शेष द्रव्यमे नहीं । तो जीव की विभाव परिणतिमे, विपरीत परिणमनमे पुद्गल उपाधि कारण पडता है, वही पुद्गल है प्रकृति । प्रकृतिका सम्बन्ध होनेमे आत्मामे विकार उत्पन्न होते हैं । उपाधि का सम्बन्ध हटे, विकार दूर हो फिर यह शुद्ध ज्ञानरूप रह जाता है । वही आत्माका निर्वाण है और यों ही सबसे न्यारा ज्ञानमात्र अपनेको निरखनेमे निर्वाणका मार्ग मिलता है ।

ज्ञानकी अर्थाकारताका निराकरण—अचेतनज्ञानवादी अर्थात् जो ज्ञानको अचेतन मानते हैं और प्रकृतिका धर्म समझते हैं उनका यह एक अन्तिमत[र्क] था कि ज्ञानमे इन पदार्थोंका आकार आता है । जैसे दर्पणमे पदार्थोंका आकार झलकता है और आकार झलकनेके कारण पदार्थोंकी व्यवस्था बनती है कि इस ज्ञानने इस पदार्थको जाना और इस प्रकार जब ज्ञानद्वारा पदार्थके जाननेकी व्यवस्था बन गयी तो ज्ञानको अचेतन बनाये रहनेकी पुष्टि हो गयी ऐसा उनका अन्तिम तर्क था । उसका भी विस्तार पूर्वक निराकरण किया । अब उस ही निराकरणसे क्षणिकवादका यह सिद्धान्त भी निराकृत हो जाता है कि ज्ञानमे प्रमाणता पदार्थका आकार माननेसे हुआ करती है । इस सिद्धान्तको बौद्ध लोग मानते हैं । इसमे भी उनका मूल मन्तव्य यह होगा कि इन

पदार्थोंका आकार ज्ञानमे नही आता, किन्तु यह ज्ञान इन इन पदार्थोके आकाररूपमे बनता जाता है और इन्हीमे स्थूल दृष्टि वाले यह भी कहते हैं कि जो पदार्थ है इनका आक र ज्ञानमे आता है। खैर, ये तीन बातें युक्तिपर उतरती नही हैं इस बातका वर्णन करेंगे।

ज्ञानकी अर्थाकारताकी अप्रतीति—ज्ञानकी अर्थाकारताका प्रथम तो प्रत्यक्ष से ही विरोध है। जैसे ये पदार्थ दर्पणमे प्रतिबिम्बित होते हैं दर्पणमे एक गोल-मटोल चौकोर आकार आ जाता है इस तरह ज्ञानमे इन पदार्थोका गोल मटोल आकार आता नही है किन्तु ज्ञानमे ही ऐसी खूबी है कि उस पदार्थको जैसा कि वह आकार वाला है उस तरह जान लेते हैं ऐसा ज्ञानका स्वभाव है और यही ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध है। प्रत्येक पुरुष इस ही प्रकारसे घट आदिक पदार्थोंको जानते हैं कि मैं खूब घटको जान रहा हूँ, पर घट आदिकका आकार ज्ञानमे आये और फिर भी यह उस आकारको निरखे फिर उसे जाने इस तरहकी बात नही बनती। जैसे कि दर्पणमे किसी पदार्थका आकार आता है और फिर हम दर्पणको देखते हैं तो उसमे आकार जो होता है वह भी ज्ञात होता है। इस तरहका व्यायाम यहाँ नही किया जा रहा है किन्तु ज्ञानमे ऐसा ही स्वभाव है कि वह जो कुछ सत् हो, समस्त सत्को जान ले अपने स्वभावसे।

ज्ञानको अर्थाकार माननेपर दूर निकटादिव्यवहारका उच्छेद—दूसरा दोष यह आता है अर्थाकार ज्ञानवादमे कि यदि ज्ञान पदार्थोका आकार धारण करे और फिर जाने तो ज्ञान यह न समझ सकेगा कि यह पदार्थ निकट है और यह पदार्थ दूर है। जैसे यह चौकी पास है, यह मेरी भुजा मेरे निकट है और वे किवाड दूर है ऐसा ज्ञात फिर नही हो सकेगा। तो वह पदार्थोका आकार ज्ञानमे आये और फिर इस पद्धतिसे जाने यह नही हो सकता। क्योकि सभी पदार्थोंका आकार ज्ञानमे आया आया है वह सब आकार हमारे ज्ञानके ही समीप है फिर हम जान रहे हैं इस ही आकारको जो कि हमारे ज्ञानमे झलकता है फिर कैसे हम यह बता सके कि यह चौकी निकट है और किवाड दूर है। जैसे दर्पणमे भी जितनी चीजोका आकार आ जाता है उस आकारमे हम दर्पणको देखकर यह न बता सकेंगे कि यह चीज दूरकी है और यह चीज पासकी है। क्योकि दर्पणमे आकार आ गया और वह एक समतलपर आ गया। जितना दर्पण है उसमे ही तो आया है। दर्पणमे आये हुए प्रतिबिम्बको देखकर हम यह विभाग न कर सकेंगे कि जिसका यह प्रतिबिम्ब है यह तो बहुत दूर है और जिसका यह प्रतिबिम्ब है यह निकट है अथवा अमुक चीज दूर है अमुक चीज निकट है, ऐसे ही ज्ञानमे यदि पदार्थोका आकार आ जाय और फिर यहाँ आकार झलकनेसे प्रतिबिम्ब होनेसे बननेसे हम पदार्थोको जानें तो बतलावो कौनसी युक्ति है जिससे यह समझ सकें कि यह पदार्थ निकट है और यह पदार्थ दूर है। जो प्रतिबिम्ब हुआ है। जो आकार आया है वह तो ज्ञानके स्वरूपमे आया। ज्ञानमें अभिन्न है।

जितने भी प्रतिबिम्ब हुए हैं वे सब ज्ञानमें ही आ गए हैं। ऐसा अपनेको अभिन्न आकारके या स्वरूपके अनुभव करनेपर, जाना जानेपर दूर और निकटका व्यवहार नही बन सकता पर है तो नहीं दूर और निकटके व्यवहारका उच्छेद। हम जानते तो हैं कि यह पर्वत दूर है, यह अमुक चीज दूर है इस प्रकारका व्यवहार बराबर सबको बिना बाधा के मालूम हो रहा है। तो दूर और निकटका व्यवहार अन्यथा बन नही सकता था अतएव यह मानना चाहिए कि ज्ञान निराकार ही होता है।

ज्ञानकी साकारताका मर्म—इस प्रसङ्गमे थोडी जैन सिद्धान्तकी भी एक बात समझ लीजिये। जैनदर्शनमे ज्ञानको साकार कहा है और दर्शनको निराकार कहा है। लेकिन यहाँ साका का अर्थ यह नहीं है कि जो पदार्थ हैं उनका गोल चौकोर आकार ज्ञानमे प्रतिबिम्बित होता है। आकारका अर्थ है विकल्प और विकल्पका अर्थ है अर्थग्रहण। पदार्थका जो जानन होता है, पदार्थके सम्बन्धमे जो जानकारी होती है, रूपक बनता है उसका कोई नक्शा समझमे आता है वह है आकार। उस आकार सहित ज्ञान है न कि ज्ञानमे इन पदार्थोंका आकार आया करता है। और, जहाँ दर्शनको निराकार कहा है उसका अर्थ यह है कि दर्शनमे इन पदार्थोंका जानन नही होता। इन पदार्थोंका आकार मुद्रा ये सब ज्ञात नही होते और वह दर्शन केवल अपने अभिन्न आधारभूत ज्ञानवान अपनेको चेतता रहता है।

दर्शन ज्ञानके उपयोगकी छद्मस्थोमे क्रमश वृत्ति—इस प्रकरणमे एक बात और समझ लीजिए कि प्रत्येक आत्मामे दर्शन ज्ञान, दर्शन ज्ञान इस तरह क्रमसे होता रहता है छद्मस्थ जीवोंमे और केवल ज्ञानियोमे दर्शन ज्ञान एक साथ होते हैं। अब यहाँ छद्मस्थ जीवोमे जो दर्शन ज्ञान क्रमसे होता है उसमे क्या मर्म है? दर्शन ज्ञाप जब ये दोनो गुण हैं और प्रत्येक गुणका परिणमन प्रतिसमय रहना चाहिए तो ज्ञान गुणका परिणमन भी निरन्तर एक समय भी अन्तर डाले बिना बराबर होता रहता है और दर्शन गुणका परिणमन भी निरन्तर एक समयका भी अन्तर किए बिना बराबर हता रहता है तो दर्शन और ज्ञान इन दोनोका परिणमन ससारी जीवो मे भी निरन्तर होता है। पर इसका क्या अर्थ है कि ससारी जीवोमे दर्शनापयोग होता फिर ज्ञानोपयोग होता। उसका अर्थ उपयोगसे है। उपयोग शब्द उन परिणमनोको ग्रहण करनेमे क्रमसे चलता है कि मोहीजन तो यह अनुभव भी नही कर पाते कि हम अभी दर्शनकी वृत्तिमे आये थे अब ज्ञानवृत्तिमे चल रहे हैं यह क्रिया हमारी इतनी जल्दी हो जाती है और फिर समझमे नही आती है।

मोह वश वाह्य अर्थकी धुनिमे दर्शनवृत्तिकी अविदितता—दर्शन वृत्ति की अविदिततापर एक दृष्टान्त सुनिये – किसी पुरुषको यह कहा गया कि अमुक पहाड मे एक पारस पत्थर है वह मिल जाये तो जितना चाहे लोहेका सोना बना लो। तो

उसने सोचा कि अन्य व्यापारोंमें क्यों दिमाग भ्रमित करें। उस पारस पत्थरको हम ढूंढ निकालें। तो १०–२० गाडी पत्थर एक समुद्रके निकट रख लिये और एक लोहे का मोटा डंडा गाड लिया अब वह उस ढेरमेसे एक पत्थर निकाले उठाये और उस लोहेपर मारे और देखे कि यह सोना हुआ कि नही हुआ तो उसे समुद्रमे डाल दिया। अब समझिये कि बडे ढेरमे एक नो था पाषाण पारसका। अब वह क्रम क्रमसे पत्थर उठाता जाय लोहेपर मारता जाय, देखता जाये कि सोना हुआ कि नही, यदि नही हुआ सोना तो वह उस पत्थरको फेंक दे। इस धुनमे वह ऐसा लग गया कि झट पत्थर उठाये मारे फेंके। इसी बीचमे वह पारस पत्थर भी हाथमे आया, उठाया मारा और फेंका। तो जैसे एक धुन लग गयी उस धुनमे पारस पत्थरको भी उठाया मारा और फेंका ऐसे ही मोहमे इन वाह्य पदार्थोंमे रति होनेसे इस ही इस मायाको जाननेकी धुन लग गयी है। इस धुनमे हम यद्यपि जितना ज्ञान करते हैं उतनी ही बार हममे दर्शन उत्पन्न होते हैं दर्शनोपयोग बनता है लेकिन धुन तो लगी हमारी वाहरमे। उस वाहरके ज्ञान करनेकी धुनमे रहनेसे दर्शनोपयोग होता रहता है फिर भी हम उसे पकड नही पाते। तो वह दर्शन निराकार है और ज्ञान साकार है। इस साकारतासे इस पूर्वपक्षमे कही हुई साकारता अत्यन्त भिन्न है।

आकारवत्तासे ज्ञानकी अप्रमाणता— यहाँपर दोष दिया जा रहा है कि यदि ज्ञानमे इन पदार्थोंका आकार आता है और फिर ज्ञान उसे जानता है तो फिर वहाँ यह दूर है यह निकट है ऐसा व्यवहार न वन सकेगा क्योंकि दर्पणमे, कांचमे इतने अनेक फोटो आती रहती हैं, प्रतिविम्ब होता रहता है, मगर उनको दिखकर हम नही समझ पाते तो यह चीज दूरकी है और यह चीज पासकी है इस कारण ज्ञान पदार्थका आकार ग्रहण नही करता। पदार्थोंके आकार ग्रहण करनेसे ज्ञानमे प्रमाणता नही आती, किन्तु यह ज्ञान अपने ही स्वभावसे, अपनी ही कलासे प्रमाणभूत है।

आकारवान् माननेसे ज्ञानमे जडताका प्रसङ्ग —अब और भी दोष सुनिये! यदि ज्ञान इन पदार्थोंका आकार अपनेमे झलकाये, ग्रहण करे तो क्या दोष होते है? प्रथम तो अपने आपमे यह निश्चय कर लीजिए, चूंकि रूढिसे और जल्दी समझनेके लिए यह बात वहुत प्रसिद्ध हो रही है कि ये सब पदार्थ ज्ञानमे झलकते हैं, उस झलकनेका अर्थ जानना मात्र हो तो आपत्ति नही है किन्तु यह आकार उस ज्ञान मे आया करता है, दर्पणमे जैसे पदार्थ झलकता है, प्रतिविम्वित होता है। इस तरह यह प्रतिविम्वित हो तो इसकी आपत्ति दी जायगी। सुनियेगा! देखो पदार्थसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान जिस पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस पदार्थका आकार ग्रहण करता है। ऐसा है क्षणिकवादियोका सिद्धान्त। इस सिद्धान्तमे उन्होंने दो वाते मानी है कि ज्ञान उत्पन्न भी पदार्थसे होता है और उस पदार्थका आकार भी ज्ञानमे आता है। तो पदार्थसे उत्पन्न हुआ यह ज्ञान होनेमे पदार्थका नीले रूपका आकार बना है, इस तरह

पदार्थकी जडताका आकार बनता है या नही ? ज्ञानने यह जाना कि यह चौकी है तो इस ज्ञानमे चौकीका आकार आया है तो यह तो बतावो कि जैसा चौकीका आकार ज्ञानमे आया है तो चौकीमे जैसा आकार है वैसे ही जडपना भी है। तो नीलादि रूप का आकार ही आया या जडरूपताका आकार आया ? यह पूछा जा रहा है क्योकि पदार्थ तो रूप भी है, जड भी है। तो जैसे पदार्थका रूप रङ्ग आकार ज्ञानमे आया है क्या उसी प्रकार इन पदार्थोंका जो अचेतनपना है जडपना है वह भी ज्ञानमे आया कि नही आया आकाररूपसे ? यदि कहोगे कि हाँ, जडताका भी अनुकरण ज्ञानने किया। जैसे नील रूपका या गोलपनेका अनुकरण ज्ञानने किया इसी प्रकार ज्ञानने जडताका भी अनुकरण किया। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान भी जड हो गया। तब पदार्थोंकी जडताका ज्ञान किया याने अनुकरण किया, जडताको आत्मसात् किया और आकार हो जाता है तन्मय तो इसका अर्थ है कि ज्ञान भी जड बन गया।

जडताके अननुकरणमे नील रूपताका भी अननुकरण—यदि कहो कि नही। जडताका अनुकरण ज्ञानने नही किया। जडताका आकार ज्ञानने नहीं लिया तो जडताका ग्रहण कैसे होगा ? फिर जडताका ज्ञान कैसे होगा कि यह पदार्थ जड है। जैसे यह पदार्थ नीला है यह ज्ञान जब उत्पन्न होता है तब नील नीलका आकार बना ज्ञानमे। इसी तरह जडरूपका आकार ज्ञानमे बना नही। फिर यह पदार्थ जड है इसके निर्णय होनेका कारण क्या है ? यदि जडताका ग्रहण नही हो रहा है तो नीलाकारका भी ग्रहण नही हो रहा है क्योकि वह नील आदिकरूप और जडता, न्यारी न्यारी जगह ता नही हैं। वह पदार्थ ही ऐसा है कि वही जड है वही नीला है यही और ढग वाला है इस चौकीकी जडताका यदि हमे ज्ञान नही हो रहा है तो इसका अर्थ है कि हमे कुछ भी ज्ञान नही हुआ जो बात चौकीमें हैं तो एक भी ज्ञानमे नही आ सका क्योकि ये न्यारे न्यारे तो है नहीं। यदि हठ करोगे कि हम चौकीके बारेमे जडताका तो ज्ञान नही करते, उसका तो अनुकरण नही करते और नीलरूपका आकार बनता हैं ऐसा तो फिर जडतामे और नील रूपतामे भेद हो जायगा, अथवा हमे अनेकान्त मानना होगा कि इन पदार्थोंको जानने पर भी हम इनकी जडताको नही जानते नील रूपताको जानते अर्थात् जडताके ग्रहण करने याने ग्रहणमे आनेका स्वभाव नही है और नील रूपताका ग्रहणमे आनेका स्वभाव है। एक दोष हुआ। इससे यह जानना कि पदार्थका आकार ज्ञानमे नही झलकता। ज्ञान ही स्वय पदार्थको जानता रहता है।

जडताके अग्रहणमे जडताकी अप्रतीतिका प्रसग—और मान लो ऐसा कि इस चौकीमेसे नील रूपताका तो इसने ग्रहण कर लिया और जडताका ग्रहण नही किया तो फिर हम यह कैसे कहेंगे कि यह जडता इस चौकी है ? यह जडता इन नीलोकी है क्योकि जडता ज्ञानमे आयी नही है और यदि जडताके ज्ञानमे न आनेपर

भी अर्थात् नील रूपताका तो ग्रहण हो यह नीला है ऐसा तो ज्ञानमे आये और यह जड है यह ज्ञानमे न आये तो जडता तो हुई अगृहीत, वह ज्ञानमे न आ सकेगी और नीलरूपता हो गई गृहीत, तो अगृहीत यदि बन जाय जडता इस गृहीतमे तो फिर भी अन्य चीज कुछ भी ग्रहणमे आ सकेगी किसी भी गृहीतमे अगृहीत कुछ भी एकदम ज्ञानमे आ जाय, पर ऐसा होता है क्या ?

ज्ञानकी स्वपरव्यवसायितामे निरापदता – भैया ! सीधी सी तो बात थी कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका स्वभाव जानना है, पर वर्तमान परिस्थिति मे इस ज्ञानपर कुछ आवरण है जिस आवरणकी वजहसे सबको नही जानता। जब सबको नही जान पाता तो इसकी जितनी योग्यता बन सकी उस योग्यताके अनुसार पदार्थको जानता है और वह ज्ञान अपने आपका प्रकाशक है और परका प्रकाशक है। यह जितना छेडछाड चल रहा है वह इस बातपर चल रहा है कि प्रमाणके लक्षणमे ज्ञानको स्वव्यवसायी कहा है। ज्ञान स्वपरप्रकाशात्मक है, जैसे दर्पण स्वपरप्रकाशक है और परपदार्थको भी प्रकाशित करता है इसी तरह यह ज्ञान भी अपने आपका निर्णय करता है और पर पदार्थोका भी निश्चय करता है।

प्रकृतिवाद और क्षणवादमे साकार ज्ञानका मूलरूप ज्ञानकी स्वपर-व्यवसायिताके विरुद्ध प्रकृतिवादी यह कह रहे थे कि नही, ज्ञान स्वप्रकाशक नही होता वह तो अचेतन प्रकृतिका धर्म है उस प्रसङ्गकी बात चलते-चलते यहाँ तक कहना पडा अचेतन ज्ञानवादियोको कि इस ज्ञानमे पदार्थका आकार आया करता है उसमे यह ज्ञान पदार्थोकी व्यवस्था बनाता है कि यह अमुक चीज है, यह अमुक चीज है। इसका निराकरण किया जानेपर ही एकदम क्षणिकवादी बोल उठे कि नही नही, यह बात बिल्कुल ठीक है कि ज्ञानमे पदार्थका आकार आया करता है। ज्ञान आकारवान है साकार है अतएव यह ज्ञान प्रमाण हुआ करता है। उसीके निराकरणमे बात यहाँ तक कही गई कि यदि यह ज्ञान पदार्थोका आकार लिया करता है तो जैसे नीले पीले रूपका आकार लेता है इसी प्रकार ये जड हैं, पदार्थ है उनका भी आकार ले ले और जडताका आकार ग्रहण कर लेनेसे यह ज्ञान जड बन जायगा। देखिये ज्ञान जड बन जायगा। इस तरहकी यह आपत्ति उन अचेतन ज्ञानवादियोको नही दी गई क्योकि वे तो मानते ही हैं कि ज्ञान जड है लेकिन ये क्षणिकवादी ज्ञानको जड नही मानते। आत्मा है और वह आत्मा केवल ज्ञान क्षणमात्र है। आत्मा कुछ चीज नही है। ये निरात्म वादी हैं अर्थात् समय समयके होने वाले ज्ञानको ही आत्मा मानते है आत्मा उससे न पहिले था न आगे होगा,जो ज्ञानकी झाकी हो बस इतना ही भर आत्मा है यह झाकी मिट जाती है फिर दूसरा ज्ञान बनता है तो ये सब नये नये आत्मा बनते जाते हैं। आत्मा शाश्वत कुछ चीज नही है।

क्षणिकवादमे निरश अशका माध्यम - क्षणिकवादमे द्रव्यका अविभागी

खण्ड तत्त्वका माना गया है, क्षेत्रका अविभागी खण्ड, कालका अविभागी खण्ड और भावका अविभागी खण्ड तत्त्व माना गया। खण्ड किये गये, पर वह भौतिक टुकडा जिसका दूसरा विभाग न हो सके, उसे तत्त्व माना है। देखो खण्ड दो प्रकारके होते है – एक तो व्यापक खण्ड–जैसे आकाश कितना बडा अखण्ड है। और दूसरा ऐसा खण्ड जैसे मान लो यह चौकी है, इस चौकीके दो टुकडे हो सकते हैं ना। फिर उन टुकडोंके और टुकडे बन सकते हैं, पर अन्तमे कोई ऐसा टुकडा बने कि जिसका दूसरा टुकडा न हो सके तो बनावो वह टुकडा अखण्ड है कि नही ? वह भी अखण्ड है। तो ऐसा खण्डरूप अखण्डको मानते हैं क्षणिकवादी। तो आत्मामे एक कौनसा खण्ड है ? आत्मा है ज्ञानमात्र। उस खण्डके खण्ड कर दीजिये एक पौन घटे तक ज्ञानको जाने वह जानन है और आध घण्टे तक जो जाने वह भी एक जानन है और पन्द्रह मिनट तक जाने वह भी एक जानन है, एक समयमे जो जानना है वह भी जानन है। तो इस ज्ञानभावकी पर्यायमे टुकडे करते जाइये, जो एक समयका जानन है वह खण्डरूप जानन ही जिसका अखण्ड तत्त्व है और ऐसा खण्डरूप जानन ही जिसका पूरा आत्मा है वे क्षणिकवादी यहाँ अपना सिद्धान्त रख रहे हैं कि वह ज्ञान पदार्थका आकार ग्रहण करता है और इसी कारण ज्ञान प्रमाण हुआ करता है। जिस पदार्थसे उत्पन्न हुआ उस ही पदार्थका आकार लिया और उस ही पदार्थको ज्ञानने जाना। इस तरह वे ज्ञानकी व्यवस्था बनाते हैं।

स्वधर्मकी बेसुधपर खेद – देखो भैया ! कभी कभी ऐसा होता है कि हाथ मे कोई चीज लिए हैं फिर भी उसे बाहरमे ढूंढते फिरते हैं। जैसे दाहिने हाथमें कोई स्वर्णका टुकडा लिए हैं तो कभी कभी ऐसा हो जाता है कि उसे भूल जानेसे उसे बाहरमे ढूंढते फिरते हैं, उस समय सन्दूक खोलकर ढूंढना है तब भी वह बायें हाथसे खोलकर ढूंढता है। कहाँ तो पहिले बायें हाथसे खोलकर ढूंढा करता था। तो इसी प्रकारसे समझ लो हम आप अपने ज्ञानको भूल गए हैं जिसके कारण बाहरमे ज्ञानकी टेर मचाई जा रही है सिद्धान्त बना बनाकर, पर यह एक विडम्बना की बात है। जो हम हैं उस ही की चर्चा है फिर भी हम इस तरह दौड दौडकर अपनेको खोजते फिर रहे हैं। यदि यह आत्मा परके विकल्प तोडकर पूर्ण विश्वाससे अपने आपमे रह ले तो ये सारे रहस्य उसे अपने आप विदित हो जाते हैं। ज्ञान स्वपर व्यवसायी है और ज्ञानमे पदार्थका आकार नही आता किन्तु ज्ञान अपनी पद्धतिसे पदार्थोंको जानता रहता है।

गृहीत नीलाकारमे अगृहीत जडताका ज्ञान माननेपर एकत्वकी व्यवस्थाका अभाव तथ्य तो यह है कि ज्ञान पदार्थका आकार ग्रहण किए बिना अपनी ही सामर्थ्यसे पदार्थको जानता है किन्तु क्षणिकवादी यहाँ यह सिद्धान्त रख रहे हैं कि पदार्थसे ही तो ज्ञान उत्पन्न होता है और पदार्थके आकारको वह धारण करता है तो

यह दोष दिया गया इसपर कि यदि ज्ञान पदार्थके आकारको धारण करे तो जैसे इन नील आदिक पदार्थोंको जाना तो उन पदार्थोंमे जडता भी है तो नील आदिकको जाना इसी भाँति क्या जडताका भी आकार लेते या नही ? यदि जडताका आकार लें तो ज्ञान जड हो जायगा और जडताका आकार न ले और जडताका ज्ञान कर लें तो आकार उसने लिया, ग्रहण किया और कुछ विना ग्रहण किए को भी जाना। तो यो हम कुछ भी जान लें उसमे सारा तीन लोक जाननेमे आ पडेगा, कोई व्यवस्था न रहे और फिर एक पदार्थका ज्ञान कुछ नही रहा। पदार्थके एकत्वका साधन तो एक ज्ञान करना है। एकका ज्ञान हुआ तो जान लिया कि पदार्थका इतना स्वरूप है, मगर यहाँ तो अग्रहीत भी ज्ञानमे आने लगा। जैसे जडता सारी अग्रहीत होकर भी ज्ञानमे आ बैठी ऐसे ही सारा अग्रहीत पिण्ड ज्ञानमे आ धमकेगा। इस कारण सीधा मान लो, ज्ञान है। जाननेका काम रखता है सो अपनी योग्यतासे उसने पदार्थको जान लिया।

एकत्र अतदाकारताकी स्वीकृतिमे सर्वत्र अतदाकारताका औचित्य— यदि यह कहो कि भाई जैसे नीलाकारको ज्ञानने जाना ऐसे ही ज्ञानमे जडताको भी जाना पर जडताको अतदाकार ज्ञानसे जाना। नील आदिक पदार्थोंको तो तदाकार ज्ञानसे जाना जैसा पदार्थ है वैसा आकार ज्ञानमे आ गया पर जडताको अतदाकार ज्ञानसे जाना। अर्थात् ज्ञान जडताका रूपक नही रखता और जान जाता है तव फिर तो जैसे जडताको अतदाकार ज्ञानसे जान लिया ऐसे ही नील आदिक पदार्थोंको भी अतदाकार ज्ञानसे जान लवें क्योकि जो पदार्थ जिससे अर्थान्तरभूत है वह तदात्मक रूपसे ग्रहणमे नही आता। जैसे ज्ञानसे नील आदिक पदार्थोंकी जडता न्यारी चीज है ना इसलिये ज्ञानने जडताका आकार ग्रहण नही किया इसी प्रकार नीलादिक पदार्थ भी भिन्न है सो इसका भी आकार ज्ञान ग्रहण न करे।

क्षणिकवादमे दृश्य पदार्थोंका रूपक इस प्रसगमे थोडी एक विशेष वात और जान लीजिये। क्षणिकवादमे ये पदार्थ कुछ नहीं है चौकी तख्त, चटाई ये कोई पदार्थ नही है किन्तु क्या है। नीला पीला बस ये पदार्थ है। क्षणिकवादमे एकको कुतर कुतरकर जो कोई खण्ड हो जाय, जिसका कोई और खण्ड न किया जा सके वह ही तत्त्व माना गया है। यह पदार्थ कुछ चीज नही है, पिण्ड नही माना गया है क्षणिकवादमे किन्तु जैसे कालकी अपेक्षा एक समयकी वात मानी है ऐसे ही भावकी अपेक्षा चेतनमे तो ज्ञान क्षणमात्र है और यह पुद्गल पदार्थमे नील पीतादि मात्र रूप माने गए हैं और कुछ ऐसा लगेगा कि इन पदार्थोंकी अगर खोज करें, कूटकर कुतर कर इसको रगडकर तो सिवाय इसके और कुछ मिलता ही नही है। इन पदार्थोंमे कितना ही हम घिसकर छीलकर जानें तो रूप रूपके सिवाय कुछ नही मिलता है अतएव इन पदार्थोंको उन्होने रूपमात्र समझा। जैसे चैतन्यमात्रका केवल ज्ञान क्षण मात्र समझा और वह भी ज्ञान क्षणमात्र पूर्वापरसे विविक्त।

नीलाकारके अनुकरण व जडताके अनुकरणकी अनेक विकल्पोसे अयुक्तता—इस सिद्धान्तमे ज्ञान नील आदिक आकाररूप बनता है । इस कथनपर यह आपत्ति दी जा रही है कि जैसे नीलाकार जाना वैसे ही पदार्थोंकी जडता भी जानी। तो नीलाकार ज्ञान बन गया तो जडाकार भी बन जायगा। तो यह बात भी नही बन सकती कि चलो जडता तो अतदाकार ज्ञानसे जान लिया उसका आकार बनाये बिना ही जान लें और नील आदिकका आकार बनाकर जानें। यह बात भी नही बनती और फिर यह भी बतलावो कि कि किसी पदार्थको जाने तो नील आदिक आकार बन गया ज्ञानका तो नीलाकार जो ज्ञान है क्या वह ही ज्ञान जडताको जानता है या दूसरा ज्ञान जानता है ? किसी पदार्थको निरखकर जो उसके रूपका आकार बना तो रूपाकार जो ज्ञान है क्या वही ज्ञान जडताको जान लेगा ? या अन्य ज्ञान पदार्थोंकी जडताको जानेगा ? यदि कहो कि नीलाकार ज्ञान जडताको भी जान लेगा तो यह तो एक अर्द्धजरतीय न्याय हो गया, खिचडी जैसा। क्या कि एक पदार्थको जानने जाना तो नील आदिक तत्त्वको तो स्वात्मभूत बनाकर जाना, उस आकाररूप परिणमकर जाना और जडताको अतदाकारसे, उस रूप परिणमे बिना भी जाना। तो यह तो ज्ञानकी द्विविधा बन गयी। यदि कहा कि अन्य ज्ञानमे जडता जान गया तो वह ज्ञान भी यदि अतदाकार बनकर जडताको जानता है तो उसी प्रकार अतदाकार बनकर नीलाकारको जान लेगा।

ज्ञानस्वरूपमे व्यवहार और तथ्यविचार - देखिये ! एक साधारणरूपसे हम इन पदार्थोंको जानते हैं तो जाननेके ही साथ ऐसा लगता है अपने आपके चित्तमें, ज्ञानमे कि जो आकार यह है वही आकार यहाँ बन गयाऐ सा सीधासा लगता है क्योंकि जानना इस ढगका होता है और उसमे कल्पनायें बहुत लगायी जा सकती है। कोई यदि शका करे कि बतलावो कि इतना बडा मकान उसका आकार इस जरा से देहमे। रहने वाले ज्ञानमे कैसे आ गया। तो उत्तर दिया जा सकता है कि पेडका बडा रूप एक चार अगुलके दर्पणमे कैसे आ गया। अर्थात् लगतासा है ऐसा कि जो कुछ ये पदार्थ ज्ञानमे आते है ये सब इसमें आकार बनते हैं फिर ज्ञात होता है ऐसा चूँकि एक जानन बन रहा है ना सो लगता है किन्तु बात यह यों नही है कि ज्ञान तो अमूर्त तत्त्व है और ये पदार्थ मूर्त हैं तो मूर्तपदार्थका प्रतिबिम्ब अमूर्तमे कैसे जुडेगा। दर्पण मूर्तिक है और उसमे जो पदार्थ झलकते हैं वे भी मूर्तिक हैं और उनके दर्पणमे इस तरहकी योग्यता है कि वे झलक जाते है पर अमूर्त आकाशमे जैसे पदार्थोंके आकार प्रतिबिम्बित नही हो सकते हैं इसी प्रकार अमूर्त ज्ञानमे भी पदार्थोंके आकार प्रतिबिम्बित नही हो सकते। ज्ञान है, स्वरूप है, कोई पदार्थ किसी जातिका है, सो उसका अर्थ क्रिया उसका काम इस ही ढगका है कि वह चेता करे, जाना करे यह उसका स्वाभाविक काम है। पदार्थका आकार ज्ञानमे जाये तब ज्ञान जाने ऐसी अपेक्षामे ज्ञानमे नही है।

भिन्न-भिन्न ज्ञानोसे नील व जडताके ज्ञानमे नीलकी जडताके अवगम का अनवकाश-- ज्ञान यदि पदार्थाकार बनकर जानता होता तो जडताका भी आकार ग्रहण कर लेता और इस प्रकारकी जडता ज्ञानमे बन जाती। तथा यह कहना कि ज्ञानान्तरने जडताको जाना तो बतलावो कि अन्य ज्ञानने केवल जडताको ही जाना या जडताकी तरह नील आदिकको भी जाना ? यदि कहो कि उस दूसरे ज्ञानने इन नील आदिक पदार्थोंकी जडता ही जानी तो जब केवल जडता ही जानी तो हम यह ज्ञान नही कर सकते कि यह जडता नीलादिकी है, क्योकि नीलाकार ज्ञानने तो नील पदार्थ पदार्थको जाना और अन्य ज्ञानने जडताको जाना। तो दो विषय भिन्न भिन्न ज्ञान द्वारा हो गए। हम यह कैसे जानें कि इन नील पदार्थोंकी यह जडता है, इस चौकीकी यह जडता है ? चौकी जान गए अन्य ज्ञानसे तो फिर यह हम कैसे सम्बन्ध लगायें कि यह जडता इसकी है।

एक वस्तुके अवगममे तदाकारता व अतदाकारता माननेपर अर्द्ध जरतीयता—यदि कहो कि उस अन्य ज्ञानने जडताको भी जान लिया व उसी प्रकार नीलाकारको भी जान लिया तो वही अर्द्धजरतीय न्याय हो गया। एकको आकार ले कर जाना और एक को विना आकार लिए जाना। तो केवल जडताके जाननेमे यह सम्बन्ध हम न बना पायेंगे कि यह जडता अचेतनता इस पदार्थकी है। यह जडता इसकी है, क्या यह प्रतीति हम आद्य ज्ञानसे करे या द्वितीय ज्ञानसे। आद्य ज्ञानने केवल नीलाकारको जाना और द्वितीय ज्ञानने केवल जडताको जाना। तो यह इसकी जडता है इसका कोई ज्ञान नही बना। यदि कहो कि एक कोई ज्ञान और बन बैठेगा जो दोनोको जान लेगा तो वहाँ भी यह विकल्प आयगा कि एक को आकारसे जाना एकको निराकार होकर जाना तो वही अर्द्धजरतीय ज्ञान बना। कोई व्यवस्थाकी बात नही रही। इससे यह मानें कि आकार ग्रहण किए बिना ही ज्ञान जानता है, यह सब ज्ञान स्वव्यवसायी है इस सिद्धान्तकी पुष्टिमे कहा जा रहा है ज्ञानको स्वव्यवसायात्मक न तो ये क्षणिकवादी मान रहे है और न पहिले निरूपित ये अचेतनवादी साख्य मानते थे, किन्तु जैन दर्शन परिभाषामे ही यह स्पष्ट कर देता है कि ज्ञानवादी है जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये और जो ऐसा ज्ञान है वह निराकार ही होता है। जानन रूप आकार तो है। क्या जाना, उसका रूपक तो बना है, पर ज्ञानमे पदार्थोंका आकार नही आता।

ज्ञानकी निराकारतामे शका समाधान—अब ज्ञानकी अतदाकारताके विरोधमे शकाकार अपना मतव्य रख रहे है कि देखो यदि ज्ञानको निराकार मान लोगे तब फिर यह निराकार ज्ञान सारे विश्वका जाननहार बन जायगा, हमारे यहाँ तो यह व्यवस्था रहती है कि जिस पदार्थके आकाररूप ज्ञान बना वह ज्ञान उस पदार्थ को ही जानेगा, सबको न जानेगा पर तुम निराकार ज्ञान मानते हो पदार्थका ज्ञान

आका मे आता नही है तो फिर ऐसा ज्ञान सारे विश्वका जाननहार वन जायगा और फिर जव सव एक साथ जाननमे आया और निराकारने जाना तो यह निकटका पदार्थ है यह दूरका पदार्थ है, यह भूतकालका है यह वर्तमानका है यह सब कोई निर्णय न रहेगा निराकार ज्ञान माननेपर ? यह शकाकारने अपनी शका रखी । उत्तरमे आचार्य देव कहते हैं कि भाई ज्ञान तो निराकार है पदार्थका आकार ग्रहण नहीं करता, लेकिन प्रतिनियत सामग्रीका सामर्थ्यसे ज्ञान निराकार होकर भी प्रतिनियत अर्थकी व्यवस्था वनाता है इस वातको आगे विशेषतया खुलासा कहेंगे । भाव यह है कि जैसा साधन मिला हो, उस सब साधनके अनुकूल यह ज्ञान प्रतिनियत अर्थको जान लेता है ।

ज्ञानमे प्रतिनियत अर्थके अवगमकी विशेषता प्रतिनियत अर्थके ज्ञानके वावत यो भी समझो कि ज्ञानका कार्य तो समस्त सत्को जाननेका है, पर ज्ञानपर आवरण पडा है कर्मोंका जिसका नाम है ज्ञानावरणकर्म । तो ज्ञानावरण कर्मके जैसे ५ भेद किये – मतिज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरणादि उसमे मतिज्ञानके आवरणको लो तो जितने मतिज्ञान हो सकते हैं उनमेंसे यदि कुछ मतिज्ञान प्रकट है तो वाकी मतिज्ञानका आवरण है और उसमे समस्त अर्थोंके नामपर आप लगा सकते हैं । घट ज्ञानावरण पट ज्ञानावरण । जितने भी पदार्थ है जो मूर्त हैं, जिसे इन्द्रियसे जान सकते हैं उन सबके नाम लगते जायें उतने ज्ञानावरण होते है, जितनेका निषेध है और इन्द्रियके साधनकी सामर्थ्य है उतने प्रतिनियत अर्थको ज्ञान जान लेता है । इसमें कोई अव्यवस्था नही होती और, जब आपसे भी यह पूछा जायगा आचार्य कह रहे हैं शङ्काकारके प्रति कि यदि आकारको ग्रहण करके ज्ञान जानता है तो नीलाकारका जिस ज्ञानने अनुकरण किया वह स्वय नीला वन गया तो यो जडाकार अथवा इन्द्रिय आदिक आकार यह भी ज्ञान वन जायगा फिर न कारणका भेद रहा और न दूर निकटका भेद रहा यह दोप तुम्हारे भी तो आयगा। जो वात तुम निराकार कहकर दोप देना चाहते हो वह दोप साकारमे भी अवश्य है उसका क्या निराकरण होगा । जैसे कुछ लोग यहाँ वैठे हैं और कुछ पदार्थोंको मानो जान रहे कुछ को नहीं तो यह क्यो हुआ । जैसे तुम कहते हो कि ज्ञान निराकार वनेगा तो सव एक साथ ज्ञानमे आयगा तो यह वात आकारमे भी है सवका आकार क्या नही वन वैठता ज्ञानमे । आकारको करता जाता ज्ञान फिर यह तो बतावो कि सब पदार्थों का आकार ज्ञानमे क्यो नहीं आ जाता । तो वहाँ भी तुम योग्यता ही मानोगे योग्यता ही फिर तुम्हारे लिए शरण है । वही योग्यता यहाँ है निराकार ज्ञान होनेपर भी उसी तरहक योग्यता है ।

पूर्वपक्षकार द्वारा ज्ञानमे प्रतिनियत अर्थका ग्रहण करनेका समर्थन व प्रत्युत्तर देखिये शकाकार भी अपनी युक्तियोमे बहुत कुछ बल रखता है, इनका कहना है कि जैसे माता,पिताका व्यवहार एक आकार भी एकसा है उनसे जो पुत्र उत्पन्न

होता है वह पुत्र या तो माँ की सकलपर होगा या पिताकी सकलका होगा। तो जैसे आहार काल आदिक समान होनेपर भी माता और पिता इन दोनोमेसे किसी भी एक के आकारका पुत्र ग्रहण करता है दूसरेका नही। इसी प्रकार इन पदार्थोंके ज्ञानमे ये चक्षु आदिक कारण है इनकी विशेषता नही है मगर इन पदार्थोंमेसे यह ज्ञान प्रतिनियत नीलका आकार तो ग्रहण कर लेता है अन्य पदार्थोंका नही करता। जैसे पुत्र किसी एकका आकार ले लेता है, दूसरेका नही इसी तरह यह ज्ञान भी प्रतिनियत पदार्थोंका आकार रूपमुद्रा इसका तो आकार ले लेता है और अन्य नही। पदार्थ पचासो हैं, उनमेसे किसी पदार्थका आकार ले लिया और अन्यका आकार नही लिया यह भाव है अर्थात् साकार ज्ञानमे सभी पदार्थोंका आकार क्यो नही आ जाता और सभी पदार्थोंको एक साथ ज्ञान क्यो नही हो जाता। इस प्रश्नका उत्तर दे रहे हैं शकाकार कि जैसे पुत्र माता पितामेसे किसी एकका ही आकार लेता है इसी तरह इतने पदार्थ होनेपर भी यह ज्ञान किसीका आकार लेता है। तो यह बात तो निराकार ज्ञानमे भी बन सकती है। ज्ञान निराकार होकर भी किसीको जानता है सबको नही। यहाँ तो प्रतिनियत सामग्री कारण है। ज्ञानावरणका क्षयोपशम कारण है। तो जैसी योग्यता है, जितना आवरण हटा है। जितना सामर्थ्य पडा है उस सामर्थ्यके अनुसार यह ज्ञान पदार्थोंको जानता है और जब समस्त आवरण दूर हो जाते है तो यह ज्ञान समस्त पदार्थोंको भी जान लेता है।

ज्ञानका विशुद्ध काम जाननेके साथ-साथ जो यह सोचता है कि यह पदार्थ दूर हैं यह निकट है, यह पदार्थ गुजर गया यह पदार्थ इस समय है यह विकल्प ज्ञान का काम नही है, यह कल्पनाका और भूत ज्ञानका काम है। ज्ञानका तो विशुद्ध काम है प्रतिभासमात्र है जो पदार्थ जैसे है उन पदार्थोंको वैसा प्रतिभास लेना ज्ञानका तो यह विशुद्ध काम है फिर उनमे जो हम छोटी बडी नाप तौल आदिककी कल्पना बनाते है हम अपने तर्क और अपने रागभावके अनुकूल बनाते हैं। अपनी व्यवहार भाषामे बनाते है। यह ज्ञानका विशुद्ध काम तो प्रतिभासमात्र है।

आत्माके विशुद्धस्वरूपके अवगमकी एक योजना--अपने आत्माका विशुद्ध स्वरूप क्या है ? इस समय भी यद्यपि आत्मा मलिन है और अपने उस विशुद्ध स्वरूपके विशुद्ध विकासमे रह नही रहा है। विकल्प तर्क विचार रागद्वेष आदिक विकारोसे तो विडम्बित हो रहा है तिसपर भी हम समझना चाहे कि मेरे ज्ञानका अथवा मेरा विशुद्ध स्वरूप क्या है। तो उसकी तो एक युक्ति है, कसौटी है। वह युक्ति यह है कि ऐसा विचार करनेमे लग जाइए कि यह मैं जो कुछ भी हूँ। केवल मात्र यह मैं होऊँ और हू भी स्वरसत हमेशा तो केवल मात्र रहनेपर इस मुझमे क्या स्वरूप बनता है किन्ही पदार्थोका सम्बन्ध बननेपर किन्हीमे राग विरोध पहुँचनेपर तो इसके नानारूप बनते हैं। सयोग समागम रागादिक विरोध कोई भी विकार न जगे, कोई

भी उपाधि न आये तो यह मैं आत्मा अपने आपमे किस प्रकार रहता हुआ रहूगा ऐसी कल्पनाके आधारपर हम यह समझ पायेगे कि यह मैं आत्मा केवल विशुद्ध प्रतिभास मात्र हूँ। तो जो प्रतिभास है तावन्मात्र तो मैं हूँ और उसके अतिरिक्त जितने विकार हैं, कल्पनाजाल है वे सब मैं नही हूँ, वे सब औपाधिक भाव है।

अपने सत्त्वके लिये परकी अनपेक्षा—प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूपसे ही रहा करता है। कोई पदार्थ अपनी सत्ताका किसी अन्य पदार्थकी कृपासे नहीं बनाता या अपने आपके परिणमन स्वभावमे किसीकी अपेक्षा रखकर नहीं बनाता। प्रत्येक पदार्थ सत् है और वह स्वतन्त्र रूपसे अपने आपकी ही ओरसे अपने आपके ही कारण सत् है। तो यो अपने आपमे अपने स्वरूपको निरखिये वह स्वरूप एक चैतन्यमात्र मालूम होगा और उस चैतन्यमे जो सामान्य चैतन्य है वह तो स्वभावरूप है और जो चैतन्य विशेष है वह ज्ञानरूप है, वह विशेष भी तर्क विकल्प विचारात्मक नही है, किन्तु एक पदार्थ जैसा द्रव्य, गुण, पर्याय रूप है उस प्रकारका जानन बन गया इतना ही वह चेतन विशेष है। इस तरह आत्मा दर्शनात्मक है। ज्ञानात्मक है और वह सब ज्ञान स्वव्यवसायी है और परव्यवसायी भी है इस तरह वही ज्ञान प्रमाण हो सकता है जो ज्ञान अपने आपका भी निर्णय रखता है और अपूर्व अर्थका भी निर्णय रखता है।

प्रतिनियत अर्थके ज्ञानकी व्यवस्थाकी चर्चा—साकार ज्ञानवादियोंने यह दोष उपस्थित किया था कि यदि ज्ञान निराकार है तो उसमे सभी पदार्थोंका एक साथ ज्ञान क्यो नही होता ? इसके उत्तरमे प्रतिशङ्का की गई थी कि जब ज्ञान साकार है तो सभी पदार्थोंका आकार ज्ञानमे क्यो नहीं आ जाता ? उसके उत्तरमे साकार ज्ञानवादियोंने यह कहा था कि जैसे माता पिताका समान आहारादिक हैं तो भी पुत्र उत्पन्न होता है तो उन दो मेसे किसी एकका आकार रखता है, ऐसे ही पदार्थ बहुत है उपस्थित पर उन सबमे किसी एकका आकार ज्ञान ग्रहण करता सबका नहीं तो प्रत्युत्तरमे कहा गया यही बात तो निराकार ज्ञानमे है। ज्ञानका कार्य यद्यपि सर्वत्र है एक है पर जिस स्वभावमे योग्यतासे ज्ञान नीलका अनुकरण करता है उसी स्वभावसे, उस ही योग्यतासे यद्यपि ज्ञान सर्वत्र अनाकार है तो भी किसी पदार्थको जानता है सबको नही जानता। इससे जितने भी दोष दिये जा सकेंगे अन्योन्याश्रय आदिक वें सब साकार ज्ञानमे भी लग सकेंगे। और, दूसरी बात यह तो हुई ज्ञानकी ओरसे बात-अब पदार्थोंकी ओरसे सुनिये।

ज्ञानकी अर्थरूपताके मन्तव्यमे सर्वैकवेदनका प्रसग—ये पदार्थ यदि अपने आकार ज्ञानको सौंपा करते है तो जिस किसी प्रतिनियत पदार्थने ज्ञानको अपना आकार सौंपा याने जिस ज्ञानसे घडा जाना जा रहा है तो वहाँ हैं तो सभी पदार्थ पर घडेने ही अपना आकार ज्ञानको क्यो सौंप दिया है तो इसी प्रकार सभी वस्तु क्योंकि

ज्ञानके कारण तो सभी हैं वे अपना आकार क्यों नही सौंप देते । शायद यह कहो कि वस्तुका ऐसा ही सामर्थ्य है कि कोई ही किसी ज्ञानका कारण बनता है सब सबके ज्ञानका कारण नही होता । तो इसी तरह यहाँ भी मान लो कोई किसीका ग्राह्य है ग्राहक है, सब नही हैं सबके । प्रयोजन यह है कि ज्ञानमे योग्यता माने बिना काम नही चल सकता । उपादानभूत तत्त्वकी शक्तिकी प्रमुखतासे ही विवाद निपट सकता है । ज्ञान अर्थाकार नही होता अर्थात् ज्ञानमे अर्थका प्रतिबिम्ब नही है । अर्थके सम्बन्धमे जो जानन हो रहा, विकल्प हो रहा इस ही का नाम साकारता है । दर्पणकी तरह पदार्थ प्रतिबिम्बित हो ज्ञानमे और इस कारणसे जाने ऐसा नही है ।

प्रमाणमे अर्थरूपताकी असभवता एक अन्य बात यह है कि ज्ञान प्रमाण है । जो प्रमाण होता है उसमे अर्थाकारका अनुकरण नही होता । जिस जिसमे अर्थाकारका अनुकरण हो, प्रतिबिम्ब हो, झलके वे सब प्रमेय बन सकते है । यदि यहाँ भी अर्थका प्रतिबिम्ब आ जाय तो यह भी प्रमाण न रहेगा परन्तु ऐसा नही है अथवा यह भी नही है कि अर्थका प्रतिबिम्ब आ जाय और वह प्रमाण भी रहे क्योंकि प्रमाण और प्रमेय ये दोनों जुदी जुदी पद्धतिसे प्रतिभासमे आते है । प्रमेय तो बहिर्मुख आकारमे प्रतिभासमे आता है, यह है घडी । यह है चौकी और ज्ञानप्रमाण अन्तर्मुख आकारमे प्रतिभासमे आता है, अत प्रमाण और प्रमेयमे एक रूपता नही हो सकती । ज्ञान प्रमाण है इस कारण ज्ञानमे अर्थका प्रतिबिम्ब नही आता ।

प्रत्यक्षसे ज्ञानकी ज्ञानरूपताकी प्रतीति– अब इस प्रसगमे ये ज्ञानाद्वैतवादी क्षणिकवादी ज्ञानको अर्थाकार मानने वाले यह बात रख रहे है कि भाई प्रत्यक्षसे तो ज्ञानसे अर्थके आकार अनुभवमे आते हैं, बाह्य पदार्थ अध्यक्षसे प्रतिभास नही होते । इस सिद्धान्तके कहनेका यह प्रयोजन है कि यह साकार ज्ञानवादी समस्त विश्वको केवल ज्ञानरूप मानता है और वह समस्त विश्व जिस जिस आकारमे है उस उस रूपमे ज्ञान है । विश्व अलग कुछ नही है । बाह्य पदार्थ पृथक् कुछ नही हैं । जैसे स्वप्नमे अनेक चीजे दिखती है पर वहाँ चीजे कुछ नही हैं केवल एक अपना ज्ञान उस तरहका बन रहा है इसी तरह जागृत अवस्थामे भी जब कि इन्द्रियोको ऐसा लगा रहे हैं यह भी एक स्वप्न अवस्थाकी तरह है । मोह नशा है यह कुछ भी नही है । सिर्फ ज्ञानकी ही इस प्रकारकी तरग उठती है और भिन्न भिन्न रूपमे ये बाह्य पदार्थ विदित होते हैं । उस आशयको लेकर शङ्काकार यह कह रहा है कि प्रत्यक्षसे तो अर्थाकार ज्ञान ही अनुभवमे आता, बाह्य पदार्थ कुछ है ही नही, अनुभवमे नही आते प्रत्यक्षमे । यो व्यवहारमे, कल्पनासे बाह्य पदार्थ ज्ञात होते हैं तो कही वे परमार्थ बन जायेंगे । आचार्यदेव उत्तर देते है कि यह बात नही कह सकते । प्रत्यक्षमे तो ज्ञानकी ही ज्ञानरूपता प्रतिभासमे आती है पदार्थकी ज्ञानरूपता नही आती । ज्ञान ज्ञानरूपसे जाना जा रहा है ।

ज्ञानकी ज्ञानरूपताका स्पष्टीकरण देखिये ! जिस आशयका शङ्काकार होता है वह मान सके उस ही रूपमे उत्तर दिया जाना चाहिए। इस उत्तरमे भी यह भाव भरा है कि जितने भी ज्ञान होते हैं वे सब अपने आपका निर्णय रखते हैं वाह्य पदार्थका कोई ज्ञान निश्चय नही करता अर्थात् वाह्य पदार्थमे ज्ञान प्रवेश नही करता। प्रत्येक ज्ञान अपने आपमे ठहर करके अपने आपमे निश्चय बनाता रहता है। यो प्रत्यक्षकी ओरसे ज्ञानकी ही ज्ञानरूपता निश्चयमें आयी। वाह्य पदार्थ ज्ञानरूप हैं यह प्रत्यक्षमे नही आता। और, देखिये ! यहाँ दो की वात चल रही है ज्ञानने जाना पदार्थको जाना। प्रतिभासमे ज्ञान भी आया और पदार्थ भी आया, पर एक तो मैं जानता हूँ इस प्रकार अहं प्रतीतिके रूपमे प्रतिभासमे आया और एककर्म रूपसे इसको जानता हूँ इस रूपसे प्रतिभासमे आया तो जैसे ज्ञान प्रतिभासमे आया तो उसमे मैं हूँ, ऐसा विशेषण फवता है, पर जो वाहरी चीज चौकी घट आदिक ज्ञानमे आये उनमे मैं घट हूँ ऐसा तो कोई नही समझता। अहकार अहं शब्द जिसमे न जुड सके उस रूपसे तो अर्थका प्रतिभास होता और अहं जिसमे विशेषण लग सकता उस रूपसे ज्ञानका प्रतिभास हुआ प्रत्यक्षता तो अहं वाले ज्ञानकी ही है।

अहं और अनहं शैलीमे हुए प्रतिभासकी एकरूपताका अभाव अब दो ढङ्गके हुए प्रतिभास। तो ज्ञानरूपता तो उस प्रतिभासको ही दी जा सकेगी जिसके साथ अहं की वात उठती है, मैं चौकीको जानता हूँ ऐसा समझनेमे अहं का भी वोध हुआ चौकीका भी वोध हुआ, पर मैंका तो हुआ अहं रूपसे और चौकीका हुआ अनहम् रूपसे। तो जो अहं रूपसे वोध हो वह तो ज्ञानरूप वन जायगा पर जिसका अहं रूपसे वोध नही है वह ज्ञानरूप नही वन सकता क्योंकि अगर पदार्थका भी प्रतिभास अहं रूपसे माना जाने लगे तो फिर ऐसा ज्ञान होना चाहिए कि मैं घडा हूँ, मैं चोकी हूँ, समग्र ज्ञानोमे इस प्रकारके वोध जमना चाहिए, किन्तु प्रतीति तो हो रही हो और किस्मकी और व्यवस्था और ढङ्गसे करे यह वात नही वन सकती। प्रतीति होती हैं अहंमें ही ज्ञानरूपसे और व्यवस्था करे कि यह मैं इन पदार्थोरूप हू तो अन्य प्रकारकी प्रतीतिमे अन्य प्रकारकी व्यवस्था नही वन सकती, अन्यथा हम जानें तो नील आदिक पदार्थोंको और पीला है, काला है ऐसी अनेक व्यवस्था कर डालें इससे ज्ञान अथका प्रतिविम्व नही लेता। वह तो जानता है, ग्रहण करता है। ज्ञान स्व व्यवसायी है अपना भी निश्चय करता और पर पदार्थका भी निश्चय करता है।

अपने अपरिचयका आश्चर्य व खेद देखिये ! हम ज्ञान ही तो हैं और निरन्तर हमारा काम चलता रहता है ऐसा भी नही कि ज्ञानका काम वन्द हो जाय, कषायोंका तो प्रवर्तनन होता रहता है। अब क्रोध है, अब नही है, अब मान है कोई भी कषाय, कैसी भी वृत्ति चल रही हो, किन्तु ज्ञान सर्वत्र रहता है। तो मैं ज्ञानरूप हूँ और मेरा काम भी निरन्तर चल रहा है तिसपर भी मैं क्या हूँ, कैसा काम है किस

रूपसे चल रहा है इसका बोध नही हो रहा है । इसीको ही अज्ञान कहते हैं । अपने आपके निकटकी बात अपनेको विदित न हो, जिस घरमे रहते है उस घरकी बात अपनेको विदित न हो ता जैसे यह एक आश्चर्य और खेदकी बात मानी जायगी इसी प्रकार यह मैं ज्ञानरूप हूँ और इस ज्ञानके द्वारा मैं सारी व्यवस्था बनाता हूँ धनसम्पदा की व्यवस्था, समाजकी व्यवस्था, अनेक व्यवस्थाएँ इस ज्ञानके द्वारा ही तो बनाता हूँ और इस ज्ञानका ही हमे पता नही कि यह क्या है ? व्यवस्था करने वाला कौन है, जानने वाला कौन है, किस स्वरूपका है ? नही जान पाते हैं यह भी आश्चर्य व खेदकी बात है । है बात, पर बीत तो ऐसी ही रही है । अपने सर्वस्वको - ही जान रहे है ।

आत्म परिचयसे आत्मबोधकी अनेकश सुगमता जब तक अपने परिचयकी बात बीत रही तब तक अज्ञान है और जिस कालमे अपने हो इस ज्ञान स्वरूप का परिचय होगा जो अमूर्त है, केवल ज्योतिमात्र है, जाननहार है और जिसके प्रदेश जरूर है । आधार अवश्य है जहाँ यह सब कार्य हो रहा है उसका परिचय होनेपर फिर तो सुगमतामे अल्प ही प्रयाससे उसका बोध ह ता रहता है । जैसे कोई छपे हुए ऐसे कार्ड आते है कि जिनमे पेडके चित्र बने होते हैं और कुछ नही होता पर वे इस ढगमे बना दिये जाते कि उनमे कही गधाकी सकल, कही खरगोशकी सकल हो जाती है । किसीसे पूछे कि बतावो इसमे कोई जानवर है क्या । तो उसे देखकर प्राय कोई नही बता सकता । उसे तो लिखा ही लिखा नजर आयगा । कोई पेड जैसा दिखेगा लेकिन जब उसे समझा दिया जाय कि देखो ये कान है, यह पूछ है, यह मुख है, ये पैर है देखो यह गधा है ना, फिर उसे कोई कार्ड दिखाये को देखते ही वह झट कह देगा कि यह गधा है । पहिले बहुत श्रम कर रहा था तिसपर भी नही बता सकता था, अब देखते ही जरा सी निगाहमे बता देगा, ऐसी ही इस आत्मतत्त्व की बात है । जब तक इसका परिचय नही है तब तक कोई अनेक प्रयास करके भी समझाये पर वह नही समझ पाता, उसकी बुद्धि थक जाती है, और एक बार भी अनुभव हो जाय, इन बाह्य पदार्थोंका विकल्प न करे । जगतमे सब माया असार है, भिन्न है अतएव इसमे अपने उपयोगको फसानेमे लाभ नही है ऐसी भावनासे जब हम परकी उपेक्षा कर दे और अपने आपमे अपूर्व विश्रामसे स्थित हो जाये उस कालमे एक सहजरूपमे ही अपने आपके सहज स्वरूपका अनुभव होता है और उस ज्ञानानुभूतिमे जो विलक्षण अनुपम आनन्द प्रकट होता है उस आनन्दके अनुभवके कारण फिर यह आत्मा अविस्मरणीय हो जाता है । जरासी दृष्टि दी इसका तुरन्त स्मरण हो जाता है, और तुरन्त यो लगता कि यह हूँ मैं आत्मा, यह है वह ज्ञान जिसकी चर्चा की जा रही है ।

अर्थरूपतासे प्रतिनियत अर्थज्ञानकी व्यवस्थाका पुन पक्ष—यह ज्ञान अमूर्त है, पदार्थके प्रतिबिम्बसे रहित है, किन्तु ज्ञान अपने स्वभावसे, योग्यतामे इन पदार्थोंका ग्रहण करता है, जानता है, इस सिद्धान्त पर आपत्ति देते हुए साकार ज्ञान-

वादी यह बात रख रहे है कि भाई ज्ञानमे अर्थाकारता न आये तो ज्ञानको पदाथके साथ घटित नही किया जा सकता कि यह नीलका बोध है पीतका बोध है, यह इस पदार्थका ज्ञान है यह सम्बन्ध नही जोडा जा सकता जब कि पदार्थका आकार ज्ञानमे न आता हो, क्योकि पदार्थका आकार न आये, ज्ञान निराकार रहे तो निराकार ज्ञान का किसी पदार्थसे न तो निकटताका सम्बन्ध रहा न इसीका सम्बन्ध रहा फिर तो सभी अर्थ इसके ज्ञानमे घटित हो जाना चाहिए और फिर सभी पदार्थ एक रूपमे विदित होना चाहिए। अलग अलग भी क्यो विदित होता है कि यह चौकी है यह घडी है यह अमुक है। वह तो सब कुछ ऐक वेदन बन जायगा, तब फिर यह जुदी जुदी व्यवस्था न बन सकेगी कि पटज्ञानका विषय पट है, घट ज्ञानका विषय घट है यह इन सब व्यवस्थावोंका उपाय है कि ज्ञानको पदार्थके आकार मान लिया जाय। जो ज्ञान जिस पदार्थके आकार बना है वह ज्ञान उस पदार्थका ग्राहक है। ज्ञाता है यह व्यवस्था बन जायगी। अर्थ रूपताको छोडकर और कोई व्यवस्था ऐसी नही है कि जो ज्ञानको पदार्थसे सम्विदित करा सके ऐसा अपना पक्ष साकार ज्ञानवादियोने रखा।

ज्ञानकी अर्थरूपताके निराकरणमे घटयतिके भाव विकल्प ज्ञानकी अर्थरूपतासे व्यवस्था बनानेके सम्बन्धमे दार्शनिक पद्धतिमे उत्तर दे रहे है कि तुम्हारा जो यह कहना है कि अर्थरूपता ज्ञानको पदार्थसे घटित करा देती है तो घटित करा देती है इसका अर्थ क्या है ? क्या विवक्षित ज्ञानको घटसे सम्बन्धित करा देती है याने यह अर्थाकारता इस ज्ञानका पदार्थसे सम्बन्ध करा देती है या अमुक पदार्थमे सम्बद्ध यह ज्ञान है ऐसा निश्चय करा देती है। इन दो मेसे आपका घटयतिका अर्थ क्या है ?

अर्थरूपता द्वारा ज्ञानका अर्थसे सम्बन्ध करा देनेके विकल्पकी मीमासा यदि पहिली बात कहे कि घटित करनेके मायने यह है कि यह अर्थ यह भीतर उठा हुआ प्रतिबिम्ब ज्ञानका उस पदार्थके साथ सम्बन्ध करा देता है तो ज्ञानका सम्बन्ध ज्ञानकी अर्थरूपताके द्वारा नही किया जाता किन्तु अपने अपने जो कारण हैं इन्द्रिय हैं उनसे ही यह ज्ञान अर्थसे सम्बद्ध होता हुआ उत्पन्न होता है। पदार्थका ज्ञानमे प्रतिबिम्ब आया और वह प्रतिबिम्ब इस ज्ञानका उस पदार्थसे सम्बन्ध कराये ऐसा नही है किन्तु उस उस कारणरूप इन्द्रियके द्वारा वह ज्ञान उत्पन्न होता है तो अर्थ सम्बन्धी ही ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् अमुक पदार्थ है यह इस प्रकारका अपनेमे आकार बना कर, ज्ञान बनाकर ज्ञान उत्पन्न हुआ करता है। ऐसा तो नही है कि वह अर्थ रूपता पहिले ज्ञानको उत्पन्न करे और पीछे उस अर्थसे जुडे कि यह ज्ञान इस पदार्थका है ऐसा तो नही होता। भैया ! सीधी सी बात यह है कि वह जो अर्थ प्रतिबिम्बित होता है ज्ञानमे वह प्रतिबिम्ब ज्ञानका अर्थके साथ सम्बन्ध कराये इसका कारण नहीं बन सकता क्योंकि फिर तो तादात्म्यका अभाव हो जायगा। अर्थ रूपता और ज्ञानमें फिर

प्रयुक्त होती हैं और उसका भी निकट कारण यह है कि जिस चमकीली ज्योति वाले पदार्थमे पदार्थकी छाया आ जाती है इसी प्रकार कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि इस ज्योतिमे भी इस ज्ञानमे भी पदार्थका आकार आता है। और लोग कहते भी हैं क्यो जी तुम ध्यानसे क्यो नही सुनते ? तुम्हारे चित्तमे ज्ञानमे हमरा उपदेश क्यो नही समाता ? अजी क्या करें। ज्ञानमे तो घर समाया है। उपदेश क्या चित्तमे समाये ? तो ज्ञानमे भी कुछ समानेकी वात कहनेका व्यवहार है। तो यह सव एक औपचारिक वात है। वस्तुत ज्ञान निराकार है और अपने ही आधारमे रहकर सारी व्यवस्था वनाता है।

ज्ञानकी प्रतिनियतकर्म व्यवस्थाका कारण ज्ञान ज्ञानरूप है, उसमे पदार्थका प्रतिविम्व नही आता। फिर भी इन्द्रियका ऐसा ही व्यापार है कि वे सामने रहने वाले अभिमुख और प्रतिनियत अर्थमे ही ज्ञानके उत्पादनमें कारण है इस कारण समस्त अर्थोको एक साथ अटपट रूपमे जान लेनेका प्रसङ्ग नही आता। कोई यदि पूछे कि किस कारणसे इन्द्रियका यह नियम वना है कि वह सामने रहने वाले और प्रतिनियत अर्थको ही जाने। जैसे रसना इन्द्रिय रसका ही जाने घ्राण इन्द्रिय गधका ही जाने, चक्षु इन्द्रियके कारण रूपके ही ज्ञानका नियम वने कर्ण इन्द्रियके द्वारा शब्द के ज्ञानका ही उत्पादन वने ऐसे भिन्न भिन्न प्रकारके विषयोका विज्ञान और सामने रहने वाले पदार्थोका ज्ञान इन इन्द्रियके द्वारा होता है ऐसा नियम क्यो वना ? उत्तर यह है कि वस्तुके स्वभावमे प्रश्न नही चला करता। यहाँ तक तो जैसे कहा जा सकता है कि अग्निका सम्वन्ध होनेपर पानी गर्म हो जाता है ऐसा ही कारण है। अव कोई इसमे भी पूछ वैठे कि अग्निका ऐसा सम्वन्ध वना कि उसके सम्वन्धसे पानी गरम हो जाय ? तो इसमे और क्या उत्तर दिया जायगा ? कारण की वात वता दी अव फिर पूछे कि यह आयगा कि वस्तुका स्वभाव है, अग्निका स्वभाव है गरम रहना, जलका स्वभाव है कि अग्निका सम्वन्ध पाकर गरम हो जाना अव इसमे भी कोई कारण पूछे तो यो वहुत कारणोकी जो खोज करता है, वहुत क्यो चलाता है उसमे फिर वजन नही रहता। हर वातमे क्योकी वात लगाना एक कुतर्क है।

योग्यता माननेकी सर्वत्र अनिवार्यता—देखिये ! कारण कार्यकी उत्पत्ति मे नियम होता है, उनका प्रतिनियम होता है, उसमे प्रश्न नही हुआ करते। वहाँ प्रश्न वेकार हैं और फिर जो ज्ञान को साकार मानता है, पदार्थका आकार वन जाता है ऐसा मानने वालोंमे भी पूछा जा रहा है कि अर्थाकार होकर भी ज्ञान सन्निहित, सामने पडे हुए नील आदिकको ही क्यो जानता है, सवको क्यो नही जानता ? वहाँ तो यह कहा जायगा कि उस साकार ज्ञानकी इसी तरहसे उत्पत्ति होती और साकार ज्ञानके द्वारा वे पुरोवर्ती पदार्थ ही जाने जाते हैं, तो यही माना निराकार मे। ज्ञानमे जिस तरहकी योग्यता है और जिस पदवीमें ज्ञान जिन इन्द्रिय आदिकका निमित्त पाकर

जानता है वहाँ उन तरीकेसे जानता है, तब पदार्थकी व्यवस्था बनती है कि इस ज्ञानने अमुक पदार्थको जाना।

ज्ञानके उत्पादकका आकार ग्रहण करनेका अनियम—दूसरी बात यह पूछी जा रही है साकारवादियोंसे कि जिस पदार्थसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान उस पदार्थका आकार रख लेता है। तो जैसा ज्ञान इस पदार्थसे हुआ बल्कि पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न हुआ यह बात कम प्रतीतिमें आती है और इन्द्रियसे ज्ञान उत्पन्न हुआ यह बात अधिक प्रतीतिमें आती है। हमने आँखोंसे देखा, नाकसे सूँघा, कानोंसे सुना ऐसा स्पष्ट बात आ रहा है। तो जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है उसका आकार रखता है ज्ञान तो इन्द्रियसे उत्पन्न होनेके कारण ज्ञान इन्द्रियका आकार क्यों नहीं रख लेता? यदि कहोगे कि वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि ज्ञान पदार्थका आकार तो ग्रहण करता है और इन्द्रियका आकार नहीं ग्रहण करता तो वस्तुस्वरूप मानना पड़ा ना, ऐसी ही निराकरण ज्ञानकी बात है, उसमें ऐसा ही स्वभाव है, ऐसी ही योग्यता है कि वह कुछ पदार्थोंको जानता है और प्रतिनियत अर्थको जानता है।

ज्ञानकी अर्थाकारताके निश्चयका अनिर्णय—एक अन्य बात और पूछी जा रही है साकारज्ञानवादियोंसे कि ज्ञानको तुम साकार मानते हो अर्थात् जिस पदार्थको ज्ञान जानता है उस पदार्थका प्रतिबिम्ब ज्ञानमें आ गया और वह ज्ञान उस पदार्थरूप बन गया है तब वह पदार्थको जानता है, तो यह तो बतावो कि ज्ञानमें यह आकार आया है यह बात अर्थात् ज्ञानकी साकारता किसी साकार ज्ञानसे जानी जाती है या निराकार ज्ञानसे जानी जाती है, इस ज्ञानमें पदार्थका आकार आया है ऐसा ज्ञान जिस ज्ञानसे जाना जायगा वह ज्ञान साकार है या निराकार? यदि कहो कि साकार ज्ञानसे ही ज्ञानकी साकारता जानी गयी तो उस ज्ञानका आकार किसी तृतीय ज्ञानसे जाना जायगा फिर उसको किसी चतुर्थ ज्ञानसे जाना जायगा। यों अनवस्था दोष बन जायगा। यदि कहो कि निराकारसे ही ज्ञानकी साकारता जान ली जाती है अर्थात् ज्ञानमें पदार्थका आकार आया है इसका निश्चय किसी निराकार ज्ञानसे हो जाता है तो निराकार ज्ञानसे एकदम सीधा ही बाह्य अर्थोंका परिज्ञान मान लेनेमें तुम्हें क्यों द्वेष हो गया है?

ज्ञानकी निराकारता व स्वव्यवसायितासे व्यवस्था—ज्ञान है वह अमूर्त है, आकाशवत् निर्लेप है, स्वतन्त्र है और उसका विलास है जानते रहना। यह जानन विलास ज्ञानका कभी भी समाप्त नहीं होता है। शुद्ध हो जानेपर अनन्त पदार्थोंको यह ज्ञान जानता रहता है, अनन्तकाल तक जानता रहेगा। ज्ञानकी तो खूबी ही यह है, उसमें किसी परकी अपेक्षा लगाना कि पदार्थका इसमें प्रतिबिम्ब आया उससे फिर यह ज्ञान काम करता है, प्रमाण बनता है यह वस्तुके स्वभावको परतन्त्र बना देने वाली बात है और कभी स्वभावतः वस्तु परतन्त्र बन जाय तो जगत शून्य हो जायगा,

कोई चीज ही न रहेगी क्योंकि स्वय सहज सत्ता नही रही किसी की। तो इससे यह निर्णय रखो कि ज्ञान निराकार है और स्वव्यवसायी है और इस ही कारण वह पर पदार्थोंका भी निर्णायक होता है।

आकार ग्रहणसे सन्निकर्षके प्रामाण्यकी प्रशक्ति अब एक अन्य बात और पूछी जा रही है साकारज्ञानवादियोके सिद्धान्तमे कि जब यह माना कि पदार्थसे ज्ञानका सम्बन्ध बने तब ज्ञानमे प्रमाणता आती है अथवा वह ज्ञान जानता है तो इस का खुलासा अर्थ यह हुआ कि सन्निकर्ष प्रमाण है पर क्षणिकवादी सन्निकर्षको प्रमाण मानते नही लेकिन पदार्थके साथ ज्ञानकी घटना घटानेसे, सम्बन्ध बनानेसे सन्निकर्ष प्रमाण बनेगा और पदार्थका अवगम हो यह उसका फल रहेगा, क्योंकि ऐसा किए बिना प्रतिनियत अर्थमे ज्ञानका सम्बन्ध नही बन सकता सो सन्निकर्षकी प्रमाणता क्षणिकवादमे अनिष्ट है।

आकार ग्रहणसे ज्ञान द्वारा अर्थज्ञाप्तिकी असभवता यहाँ स्पष्ट दोष त यह है कि ज्ञान यदि पदार्थका आकार लेकर जाने तो ज्ञानके लिये तो सारे पदार्थ एक समान है। सभी पदार्थोंका आकार ज्ञानमे आ जाना चाहिए और फिर अनियत अर्थके साथ ज्ञानका सम्बन्ध जुट बैठेगा। तब सभी अर्थोमे एक ही ज्ञान रहना चाहिए यह भेद क्यो ज्ञान हो रहा है ? यह चौकी है यह चश्मा है, यह कमण्डल है ऐसे भिन्न भिन्न ज्ञान क्यो बन रहे है। आकार जब आता है पदार्थका तब फिर सभी का बन जायगा। ऐसा होनेपर फिर न कोई पदार्थ निकट है ऐसा ज्ञात होगा और न कोई पदार्थ दूर है ऐसा ज्ञान होगा, फिर इस ज्ञानकी कोई व्यवस्था ही न रहेगी।

साकारज्ञानवादमे इन्द्रियकी अनियामकताके कारणपर प्रश्न - अब अन्य दोष भी सुनिये। साकार ज्ञान माननेपर साकारज्ञानवादीने यह मन्तव्य रखा था कि चूंकि ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है सो जिस पदार्थसे जो उत्पन्न हुआ है ज्ञान वह उस पदार्थको जानने लगता है। तो जिससे उत्पन्न हुआ उसको जाने ऐसा सिद्धान्त बना लेनेपर इन्द्रियके साथ व्यभिचार हो जायगा अर्थात् इन्द्रियसे ज्ञान उत्पन्न हुआ, किन्तु यह ज्ञान इन्द्रियका नियामक नहीं है, जानने वाला नही है, कोई चीज अपनी आँखोसे जानी तो इन अपनी आँखोको हम देख सकते है क्या ? लेकिन इन्द्रियसे ही तो ज्ञान बना सके और ज्ञान आँखोको यह ज्ञान जानता नही, किन्तु यह नियम माननेपर कि जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है उसे ज्ञान जानता है तब फिर इन्द्रियको भी जान लेना चाहिए। पदार्थको ही जानता है, ज्ञान, इन्द्रियको नही जानता, यह नियम कैसे बनेगा जो ज्ञान जिस इन्द्रियसे उत्पन्न हो उस ज्ञानकी उस इन्द्रियके लिये बात कह रहे हैं।

तदुत्पत्ति और ताद्रूप्यसे ज्ञानकी नियामकता बनाकर दोष निराकरणका प्रयास यदि कहो कि बात तो दोनो होना चाहिए तब ज्ञानका नियम बनेगा

वे दो बाते क्या ? कि पदार्थसे जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है और उस ही पदार्थके आकार ज्ञान बनता है तो वह ज्ञान उस पदार्थका जानने वाला है यह कहा जाता है, इन्द्रियमे यह बात तो नही है। वही शकाकार कहे जा रहा है कि यह ज्ञान इन्द्रियमे उत्पन्न तो हुआ पर ज्ञान इन्द्रियके आकार तो नही बना। जैसे ज्ञान चौकीके आकार बन जाता है ऐसा मालूम किया जा रहा है, कुछ ऐसा यह तो नही मालूम होता कि यह ज्ञान इन्द्रियके आकार भी बन रहा है। तो जब दोनो बाते ज्ञानमे आ जायें जिस से उत्पन्न हुआ और उसीके आकाररूप बने तो ज्ञान उसे जाने। तो यह इन्द्रियजन्य ज्ञान इन्द्रियसे तो उत्पन्न होता पर इन्द्रियका आकार ग्रहण किया, अत इन्द्रियको नही जानता। पर पदार्थसे तो उत्पन्न होता है और पदार्थके ही आकार बना है इस कारण ज्ञान पदार्थको जानता है ऐसा शङ्काकारने अपनी बात रखी।

तदुत्पत्ति व ताद्रूप्यसे ज्ञानकी नियामकताका समानार्थसमनन्तर प्रत्ययमे व्यभिचार द्विरूपतावादके उत्तरमे आचार्यदेव कहते है कि देखो, उस इन्द्रियजन्य ज्ञानमे ताद्रूप्य न सही, लेकिन उस ही पदार्थमे उस ही ज्ञानके बाद उस ही पदार्थका जो एक द्वितीय ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस द्वितीय ज्ञानमे प्रथम ज्ञानका आकार भी आया और प्रथम ज्ञानसे उत्पन्न भी हुआ तो वह समनन्तर ज्ञान अर्थात् द्वितीय ज्ञान फिर प्रथम ज्ञानको क्यो नही जानने लगता क्योकि उस द्वितीय ज्ञान मे तो प्रथम ज्ञानका आकार भी आया और वह प्रथम ज्ञानसे उत्पन्न हुआ। दोनो बाते मिल गई फिर क्यो नही पूर्वज्ञानका प्रमाण कर लेता है यह दूसरा ज्ञान। इस कारण यह भी नही ठीक बनता है कि जिससे ज्ञान उत्पन्न हो और जिसके आकार ज्ञान बने वह ज्ञान उसे जानता है। यह तो दलील तुम्हारी थोथी ही है इस कारण ज्ञान साकार नही कहा जा सकता। इस सम्बन्धमे बारबार समझाया गया है और यह दोष दिया गया है कि ज्ञान यदि आकार ग्रहण करता है जिससे उत्पन्न हुआ उस पदार्थका जैसे आकार ग्रहण करता है इस तरह इन्द्रियका आकार क्यो नही ग्रहण करता ? आखिर ज्ञान इन्द्रियसे ही तो उत्पन्न हुआ है जैसे तुम पदार्थसे उत्पन्न हुआ मानते हो।

आलम्बन और उपादानमेसे आलम्बनके ही आकारके ग्रहण करनेकी असगतता देखिये उत्पत्तिकी समानता होनेपर यह ज्ञान पदार्थोसे उत्पन्न हुआ और इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ दोनोसे उत्पन्न हुआ है तिसपर भी इन्द्रियका आकार तो छोड देना और पदार्थके आकारका ग्रहण करना बताते हो और दृष्टान्त देते हो पुत्रका कि जैसे पुत्र है तो माता और पिता इन दोनोमे ही किसी एकका आकार रखता है इसी तरह उत्पत्तिकी यह विशेषता है ज्ञानमे। अर्थका तो आकार ले लेता है और इन्द्रिय का आकार नही लेता यह बात तुम्हारी असगत है क्योकि अब तो यहाँ तीन बातें आयी है केवल पदार्थ और इन्द्रियकी ही बात नही है। जैसे कोई ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न हुआ और इन्द्रियसे उत्पन्न हुआ और उस ज्ञानके बाद फिर अन्य ज्ञान हुआ तो वह

द्वितीय ज्ञान तो प्रथम ज्ञानसे हुआ ना । तो प्रथम ज्ञान उपादान हुआ ? उस उपादान का आकार क्यों नही ले लेता । दो बातें हो गयी ना । एक तो यह पदार्थ जैसा ज्ञान जान रहा है यह तो निमित्तभूत है और प्रथम ज्ञान जिसके सिलसिलेमे द्वितीय ज्ञान बना है उसका उपादान है ज्ञान । तो उपादान और निमित्त इन दोनोंसे ही तो कार्य बताया जा रहा है । कोई ज्ञान उत्पन्न हुआ है तो जैसे वह पदार्थके आलम्बनसे होता है इसी प्रकार अपने ज्ञानके सिलसिलेसे भी तो होता है । तो ज्ञानका उपादान है पूर्व ज्ञान और ज्ञानका आलम्बन है बाह्य अर्थ । फिर बाह्य अर्थका तो आकार ले ले और उपादानसे न ले । यदि कहो कि दोनासे ले लेगा । विषय तो आलम्बन रूप कारण हैं और उसका उपादान समनन्तर प्रत्ययरूप है अर्थात् ज्ञान ही सिलसिलेमे ज्ञान उत्पन्न होता है । दोनोंका सम्बन्ध रहा ज्ञानसे इस कारण दोनोंका आकार ग्रहण कर लेगा क्या हर्ज है । तो उत्तर दे रहे हैं आचार्य कि हर्ज यह है, तब फिर जैसे पदार्थका ज्ञान हो जाता है, पदार्थ विषय बन जाता है इसी प्रकार उपादान भी विषय बन जायगा । अर्थात् जैसे हम पदार्थको ज्ञानमे सीधा जान लेते हैं इस तरह उपादानको भी सब लोग रहें ।

पूर्वपक्षकार द्वारा अध्यवसायका तीसरा सुझाव अब इस प्रसगमे एक अन्य बात पूर्व पक्षकार कह रहे हैं कि भाई ज्ञानमे दो बातें अभी बतायी हैं कि यह ज्ञान जिससे उत्पन्न हो और जिसके आकार रूप बने उसे जानता है तो ये दो बातें जैसे पदार्थके लिये बन गई ऐसे ही समनन्तर ज्ञानके लिये भी बन गई । द्वितीय ज्ञानमे भी ये दोनो बाते हैं, वह पूर्व ज्ञानसे उत्पन्न हुआ और पूर्व ज्ञानका आकार भी रख रहा लेकिन अध्यवसायका नियम नहीं है अर्थात् ज्ञानका नियामक नही है, ज्ञान ज्ञानको नही जानता । ज्ञान तो पदार्थोंको जानता है, जैसे कि लौकिक जन उसके बारेमे ऐसा ही अपना भाव बनाये है । तो अध्यवसायका नियम अर्थात् निश्चय करनेका नियम केवल पदार्थके साथ है इस कारण ज्ञान अर्थका ही नियामक है । तो उत्तर दिया जा रहा है कि उपादानका निश्चय क्यो नही करा बैठते ? अन्यथा दोनोका ही निश्चय न रहा न तो पदार्थका ज्ञान बने और न अपने उपादानका ज्ञान बने ।

तदुत्पत्ति, तादूप्य व अध्यवसायसे भी व्यभिचारका अनिवारण - तदुत्पत्ति तादूप्य व अध्यवसाय तीनो बातें माननेपर भी एक दोष यह है । वे तीन बातें क्या मानी है इन साकार ज्ञानवादियोने कि यह ज्ञान पदार्थसे तो उत्पन्न हुआ और पदार्थका ही आकार रख रहा और फिर उस हीका निश्चय कर रहा इसलिये ज्ञानमें उस प्रतिनियत पदार्थके जाननेका नियम बना है। तो देखो जिस पुरुषको कामला रोग है जिसकी वजहसे प्रत्येक चीज पीली पीली दिखती है पीलीया रोग होता है, उससे चक्षु आहत हो । गए हैं वह तो सफेद शङ्खको देखेगा तो उसे पीला बतावेगा । सफेद शङ्खमे पीताकारका ज्ञान हुआ तो यह प्रमाण क्यो नही बन बैठा पूर्वज्ञानके निर्णयम

साकार ज्ञान माननेपर विज्ञान अपने स्वरूपमे प्रमाण है यह बात भी बनती नही है।

ज्ञानका साकार स्वरूप और उससे अर्थव्यवस्था—ज्ञान होता है पदार्थों को जानता है, पदार्थोकी मुद्रा, पदार्थोंका आकार अपने जाननेमे लेता है बस यही है ज्ञानकी साकारता। इससे और आगे न बढिये। किसी भी बातमे अपनी बात बढानेसे कोई सीमाका उल्लघन कर दिया जाय तो वह बात बैंटती नही है चलती नही है। जैन लोगोने भी ज्ञानको साकार माना है पर वह आकार है पदार्थके जानन रूप विकल्पका, किन्तु मैं इससे भी अधिक साकारवादी बन जाऊँ तो मेरी कुछ और पोजीशन बढेगी दर्शन क्षेत्रमे, सोचकर ऐसा आकार मान ले कि जैसे पदार्थोका आकार दर्पणमे झलकता, दर्पणमे छाया पडती इस तरह पदार्थोंका आकार ज्ञानमे झलकता। ज्ञानमे प्रतिविम्ब आ जानेकी बात लगती है ऐसी कि जिस पदार्थको जाना उस पदार्थकी मुझमे फोटो आ गयी है किन्तु ऐसा होता नही है। फोटो तो वहाँ आये जहाँ कुछ भौतिकपना हो। मूर्तमे मूर्तका फोटो आता है। यह अमूर्त पदार्थका फोटो कैसे आ सकता है। ज्ञान ऐसा प्रतिविम्ब वाला नही है। वह तो एक ज्योति है ऐसा परम चैतन्य स्वरूप आत्मा है कि जो समस्त विश्वकी व्यवस्था बनाता है फिर उसे किसी भी पदार्थके आकार रूप नही बनाता। समस्त विश्वको जानकर भी समस्त विश्वमे निराला ही यह ज्ञान रहता है और तभी यह ज्ञान पूज्य है, प्रशसनीय है। तो जान कर भी पदार्थसे अपनेको निराला बनाये रहे ऐसी बात प्रभुमे तो स्पष्ट है, पर ज्ञानी पुरुषोमे भी प्रतीतिबलसे यह बात बनती है। ज्ञान समस्त अर्थको भी जाने तब भी किसी भी अर्थके आकार रूप नही बनता है। वह निराकार रहकर भी पदार्थोंके आकारको जानन रूपसे ग्रहण करता रहता है।

साकार ज्ञानवादमे नीलाकार व क्षणिकतामे भेद-अभेदके विकल्प—ये क्षणिकवादी दार्शनिक ज्ञानको साकार सिद्ध कर रहे है। उनका मन्तव्य है कि जैसे दर्पणमे पदार्थोंका फोटो आ जाता है इसी तरह ज्ञानमे इन पदार्थोका अक्स आ जाता है और फिर उस ज्ञानसे जानता है कि यह अमुक चीज है। लेकिन सिद्धान्त यह है कि ज्ञानमे इन पदार्थोंका फोटो नही आता, किन्तु ज्ञानके जाननेकी शैली ही ऐसी है कि जो जैसा पदार्थ है उस रूपमे यह जानता है और उस ज्ञान मे ऐसा लगता है जैसा कि मेरेमे इस पदार्थका फोटो आ गया हो। तो इसपर उनसे पूछा जा रहा है कि ज्ञानमे आया कोई पदार्थ और पदार्थ भी नही, क्षणिकवादियोके यहाँ ज्ञानमे गुण-पर्ययपिण्ड पदार्थ आते नही, क्योकि पदार्थ कोई चीज नही वे, ये नीला पीला आदिक जो रङ्ग हैं ये पदार्थ हैं। जैसे आत्मा कोई पदार्थ नही है किन्तु आत्मामे जो प्रति समय जानकारी बनती है वह ज्ञान क्षण तत्त्व है, आत्मा तत्त्व नही है। इसी प्रकार ये पुद्गल भी कोई पदार्थ नही हैं किन्तु नीला पीला जो आकार हैं, रङ्ग है यह ही तत्त्व है। तो उनमे पूछा जा रहा है कि जब ज्ञानमे ये नीले पीले आदिक पदार्थ आये

तो ये पदार्थ जो तुम्हारे ज्ञानमे आये यह नीला है तो पदार्थको क्षणिक भी तो मानते हो। तो उस पदार्थमे जो यह क्षणिकपना है यह पदार्थसे भिन्न है या अभिन्न है ? ज्ञानमे जो चीज आयी जैसे ज्ञानमे चौकी आयी तो यह नील है यह तो आयगा ज्ञान में पर यह चौकी क्षणिक है, विनाशीक है, नष्ट हो जायगी, हो गयी, इस प्रकार जो उसमें क्षणिकपना है उसका आकार इन पदार्थोंसे न्यारा है या एकमेक है ? नील आदिक रूप और विनाशीकता ये दोनो जुदी-जुदी चीज हैं या अभिन्न हैं ? यह पूछा जा रहा है।

नीलाकारसे क्षणिकताका भेद या अभेद माननेपर आपत्ति यदि नीलाकार अलग है और क्षणिकत्व आदिकका आकार अलग है तो इसका अर्थ है कि नीलाकार क्षणिक नही रहा। तब नीलाकार अलग है याने यह पदार्थ न्यारा है और पदार्थमें जो क्षण–क्षणमे नष्ट होनेका धर्म है वह है न्यारा। तो इसका अर्थ यह हुआ कि यह नीलाकार पदार्थ नित्य हो गया और नित्य कोई चीज मानी नही गयी क्षणि-कवादमे। यदि कहो कि नही वह क्षणिकपना और ये नीले पीले रूप एकमेक है। तो ये नील आदिक पदार्थ और यह क्षण–क्षणमे नष्ट हने वाला धर्म जब दोनो एक हो गए तो जिस ज्ञानसे हमने नीले पीले पदार्थोंको जाना उसी ज्ञानमे क्षणिक भी जानने मे आ जायगा, क्योकि दोनो एक है। यह रूप और यह क्षणिकपना ये दोनो एक हैं तो जब हमने नील पील आदिक पदार्थ जाना तो यह क्षणिक भी ज्ञानमे आ जायगा फिर उसके लिए अनुमान क्यो बना ? बौद्धजन ऐसा अनुमान बनाते हैं कि जगतके सब पदार्थ क्षणिक हैं सत्त्व होनेसे। जो क्षणिक नही है वह पदार्थ ही नही है ऐसा अनुमान बनाकर पदार्थको क्षण–क्षणमे नष्ट होने वाला सिद्ध करनेका प्रयास क्यो करते ? जिस ज्ञानसे नीले पदार्थ जान लिए गए उस ही ज्ञानसे क्षणिकपना जान लिया जायगा। क्योंकि नील आदिक पदाथ और पदार्थमे रहने वाला क्षणिकपना ये दोनो अभिन्न हो गये।

नीलाकारसे क्षणिकताका अभेद माननेपर अनेक युक्तियोसे भी दोपका अनिवारण – यदि कहो कि नही नीलादिक और क्षणिकत्व अभिन्न होते तो हैं, पर क्षणिकत्वको प्रत्यक्ष नही जानता इसलिये क्षणिकत्वका अनुमान बनाना पड़ता है। तो अभिन्न होनेपर भी क्षणिक नही जाना गया तो नील आदिक पदार्थ भी न जाने जाये। जब वह भिन्न है एक है तो एक न जाना गया तो दूसरा भी अज्ञात रहा। शायद यह कहो कि पदार्थमे अनेक स्वभाव हैं, अनेक स्वभावका पदार्थ उसका आकार तो आ गया पर ज्ञानकी जितने अंशमे कुशलता है, संस्कार है, उसका तो निश्चय बनता है औरका नही बनता अर्थात् क्षणिकपना और ये नील आदिक रूप ये दोनों यद्यपि एक हैं और ये सबके सब ज्ञानमें आ गए तिसपर भी जिस चीजका अभ्यास पड़ा हुआ उसका तो निश्चय होता है प्रत्यक्षसे और जिसका अभ्यास नही होता उसका

निश्चय नही होता। उस नील आदिक पदार्थका तो अभ्यास है इसलिए उसका तो निश्चय बन जाता है कि यह नीला पदार्थ है पर क्षणिकपनेका निश्चय नही बनता कि यह क्षणिक है। तो इसपर पूछ रहे हैं कि यह जो निश्चयपना है यह भी साकार है या निराकार ? उसका भी कुछ आकार आया या नही ? अगर आकार आया तो वहाँ भी प्रश्न करेंगे कि उस आकारसे भी क्षणिकपना भिन्न है या अभिन्न ? तो उसमे भी दोष आ जायगा।

अमूर्त ज्ञानमे मूर्त पदार्थकी छाया आदिक--जरा कुछ विचार कीजिये इसमे क्या आपत्ति आनी है यदि यों परख लिया जाय कि मैं ज्ञान स्वरूप हू। ज्ञान मेरा स्वभाव है। जानना मेरा काम है। मैं अपने कामको जानता रहता हूँ। इसमे पदार्थ प्रतिबिम्बित हो तब ही जाने ऐसा नही है क्योकि पदार्थकी छाया, पदार्थका प्रतिबिम्ब मूर्तिकमे पडेगा अमूर्तमे नही चूंकि ज्ञान अमूर्त है। ज्ञानमे रूप रस कुछ भी नही है, उसमे फोटो क्या पडेगा ? दर्पण हो, चिकनी भीट हो या कुछ भी चमकदार चीज हो उसमे पदार्थका फोटो आ गया तो वह पदार्थ भी मूर्तिक है पिण्ड है, रूप, रस वाला है और दर्पण भी पिण्ड हैं, रूप, रस वाला है। तो मूर्तिकका मूर्तिकमे ता प्रतिबिम्बत आ जायगा पर अमूर्तिकमे प्रतिबिम्ब नही आता। जैसे आकाशमे भी क्या फोटो आता है ? इतने पदार्थ पडे हैं इनका आकाशमे फोटो तो नही आता क्योकि आकाश अमूर्त है। तो आकाश की ही भाति हम आप सब जीवोका स्वरूप अमूर्त है। जैसे आकाश छेदसे छिदता नही, भेदसे भिदता नही, पकडनेसे पकडा जाता नही ऐसे ही यह आत्मा और ज्ञान छेदेसे छिदता नही, पकडेसे पकडा जाता नही। कभी कोई शस्त्र चला दे तो शस्त्र चलानेसे आत्मा नही छिदता। यह जो पोद्गलिक शरीर है इस के टुकडे हो गए, पर आत्माका टुकडा नही हो सकता। क्योकि वह एक अमूर्त, स्वतत्र परिपूर्ण पदार्थ है हाँ उसका प्रवर्तनमात्र आधार बिगाड देनेसे आत्मा यहाँसे निकल जायगा, कही पहुचेगा पर आत्मा भेदसे भिदता नही।

तद्भवमरणमे कष्ट होनेका कारण—आत्माको मरण समयमे कष्ट क्यो होता है ? कष्ट यो होता कि इसने आपका निर्णय नही बनाया कि मैं इस देहसे भी न्यारा हू और यह समागम मिलता है उस समागमोसे भी मैं न्यारा हूँ। जो भी धन वैभव मकान इज्जत कुटुम्ब आदिक हैं इन सबसे न्यारा हूँ। यहाँसे निकल जानेके बाद मुझे कोई टोटा पडनेका नही। ऐसा निर्णय नही है आत्माको इस कारण मरण समय मे क्लेश होता है, और वहाँ देखो तो क्या टोटा है। यहाँ ये सब पदार्थ हैं और चले गए यहाँसे छोडकर तो उससे मेरा क्या बिगाड ? जिन लोगोसे परिचय है। जिनमे कुछ नाम है, इज्जत है वे तो सब माया रूप हैं। यहाँसे चले गए तो आखिर थे तो सब मायामय असार, अपने कर्मोंके पूरे जन्म-मरणके भारमे रहने वाले। यहाँसे हट गए तो उससे मेरा बिगाड क्या ? और ऐसा विचारने वाले जो लोग होगे वे मरण

करके शरीर छुटाकर जायेंगे तो उससे भी अच्छा समागम उन्हें मिलेगा। जो ऐसे ज्ञानी और वैराग्य चित्तके पुरुष हों उनका बिगाड़ क्या ? बिगाड़ तो उनका है जिन्होंने ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया, श्रेष्ठ जाति कुल धर्म पाया और फिर भी इसका लाभ न उठा सके। अपने आत्माका ज्ञान न कर सके और यहांसे छूटकर अब जाने लगे तो उनका बिगाड़ है। जो ज्ञानी है, विरक्त है आत्म स्वरूपसे परिचय है उनका मरण से भी बिगड़ता कुछ नहीं है।

ज्ञानकी उदारता— यह ज्ञान अमूर्त है। ज्ञानमात्र मैं आत्मा हूँ। यह ज्ञान स्वयं निराकुल है, उदार है और धीर है। ज्ञान ज्ञानकी धाराको ही पैदा करता रहता है अतएव वह धीर है, अपने मार्गसे विचलित नहीं होता। क्षोभमें नहीं आता और उदार है। यह ज्ञान जानता तो रहता है मगर किसी विभूतिको नहीं अपनाता है न घृणा करता है। यह कितनी बड़ी उदारता है कि पदार्थका वह बिगाड़ नहीं कर रहा किसी पदार्थमें हमें घृणा होगी तो हम उनका बिगाड़ करेंगे। विनाश करेंगे। तोड़ फोड़ करेंगे, और जो चीज प्रिय होगी उसका हम इससे भी ज्यादा तोड़ फोड़ करेंगे। भोजन कितना इष्ट है तो लोग उसका कितना तोड़ फोड़ कर डालते हैं। जब खाते हैं तो उसे चकनाचूर कर देते हैं। जब गलेके नीचे उतरता है तो उस समय भोजनकी जो स्थिति होती है वह घृणास्पद होती है। तो जो प्यारा है, इष्ट है, उस इष्टका हम बहुत तोड़ फोड़ करते है। कोई साल डेढ़ सालका छोटा बच्चा हो, उससे यदि आपका ज्यादा प्रेम हो जाय तो उस बच्चेकी आफत आ जायगी। आप उसे कहीं ऊपर उच-कायेंगे कहीं उसके हाथ पैर हिलायेंगे। उसके ऊपर तो आफत सी आ जायगी। तो जो इष्ट पदार्थ है उसका बिगाड़ कर दिया जाता है। तो ज्ञान इतना उदार है कि इन पदार्थोंको जाना करता क्योंकि न किसीको इष्ट मानता और न अनिष्ट। यदि किसीको इष्ट माने तो उसके ऊपर आफत आ जायगी। ज्ञान तो उदार रहता है क्योंकि मात्र वह जाननहार है। ऐसा धीर उदार गम्भीर निराकुल ज्ञान वह अपने स्वरूपमें ज्ञाता रहता नहीं करता किसी चीजका, इतना भी क्षोभ इस ज्ञानमें नहीं आया करता। यह तो अपने स्वरूपमें पूरा सुरक्षित ज्योंका त्यों रहता हुआ पदार्थका विज्ञान करता रहता है।

स्वरूपमें ज्ञान द्वारा व्यवस्था और अर्थाकारसे ज्ञानकी अव्यवस्था— मुख्य बात तो यह है कि ज्ञानका बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणसे जो योग्यता बनी है उन योग्यताके अनुसार ज्ञान पदार्थको जानता रहता है। ज्ञानमें इतनी योग्यता है कि वह समस्त विश्वको लोकालोकको एक साथ स्पष्ट जानता रहे, लेकिन जब यह जीव विषय कषायोंमें अपना उपयोग फसाता है तो विषय कषाय विकार विभावके कारण ज्ञानपर आवरण आ जाता है। निमित्त दृष्टिसे तो कर्मका आवरण है और आन्तरिक दृष्टिसे विकारका आवरण है रागद्वेष मोहके विकार आनेसे आत्मामें ज्ञानका विकास

रुक गया है। अब उस परिस्थितिमे ज्ञानावरण प्रकृतिकी कमी हो, क्षयोपशम हो उतनी इस ज्ञानमे योग्यता आती है और उस योग्यताके अनुसार यह पदार्थोंको जानता है। साकार ज्ञान माननेपर यह आपत्ति आती है कि ज्ञान जब इन पदार्थोंका आकार ग्रहण करता है तो सारे पदार्थोंका आकार क्यो नही ग्रहण करता। यह पदार्थ यदि यदि अपना आकार ज्ञानका सौंपा करता है तो सारे पदार्थ अपना आकार ज्ञानको क्यो नही सौंप देते ? फिर तो जब सब पदार्थोंका फोटो आ गया तो यह निर्णय भी न बन सकेगा कि यह अमुक चीज है यह अमुक सभी पदार्थोंका प्रतिबिम्ब ज्ञानमे आ गया। तो वहाँ प्रतिनियत पदार्थकी व्यवस्था नही बन सकती। कि यह अमुक है और ऐसा निश्चय करने वाले ज्ञानको अपनेसे दोष बचानेके लिये। निराकार मानोगे तो फिर उसमे भी नियम नही बन सकता। निराकार होनेपर भी योग्यताके कारण प्रतिनियत पदार्थके ज्ञानकी व्यवस्था बना करती है। आकार प्रतिबिम्बित होता है ज्ञानमे और फिर ज्ञान जानता है इतनी कल्पनाका श्रम करनेकी आवश्यकता नही है। ज्ञान है, निराकार है और वह पदार्थोंको जानता रहता है।

ज्ञानकी साकारताका दिग्दर्शन - जैनदर्शनमे ज्ञानको जो साकार कहा है उसका यह अर्थ नही है कि पदार्थका प्रतिबिम्ब आता है। कहा जरूर है कि ज्ञान तो साकार होता और दर्शन निराकार होता। निराकार उपयोगका नाम दर्शन है और साकार उपयोगका नाम ज्ञान है, पर वहाँ साकारताका अर्थ ज्ञानमे पदार्थोंकी फोटो आ जाय यह नही है, किन्तु ज्ञानके कामकी शैली यह है कि वह पदार्थोंका आकार जाने, पदार्थोंकी विशेषता समझे, इस प्रकारसे उनके आकार मुद्रा, विशेषताके जानने का ही नाम आकार है। ज्ञानका कोई ढङ्ग बनता है, नानारूपसे प्रतिभात होता है इसका नाम है आकार। ऐसी साकारता तो ज्ञानमे है परन्तु ज्ञानमे पदार्थका फोटो आये ऐसी बात नही है।

स्वपरव्यवसायी ज्ञानमे प्रमाणताकी सिद्धि – यह सब प्रकरण इस बात पर चल रहा है कि प्रमाणताका लक्षण आचार्यदेवने यह कहा था कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है। तो इसके विशेषणमे विलोम पद्धतिसे प्रत्येक शब्दका सार्थक्य बताया है। ज्ञान प्रमाण है किन्तु जो अचेतन है, अज्ञान है वह प्रमाण नही बनता। फिर बताया कि अर्थका निश्चय प्रमाण है, फिर बताया अपूर्व अर्थका निश्चय प्रमाण है। अब उसी सिलसिलेमे यह बताया जा रहा कि स्वका व्यवसायी ज्ञान प्रमाण है और जो स्वका निश्चय न करे वह ज्ञान पर पदार्थोंका भी निर्णय नही बना सकता। तो स्वका निश्चय करने वाला ज्ञान हुआ करता है। इसके विरोधमे अचेतनवादियोंने यह कहा कि चूँकि ज्ञान अचेतन है, प्रकृतिका धर्म है, आत्माका स्वभाव नही है अतएव ज्ञान खुदका निश्चय नही करता। उसके बाद साकारज्ञानवादियोंने यह कहा कि ज्ञानमे पदार्थका आकार आता है इससे

द्वितीय ज्ञान [illegible] हुआ था। तो प्रथम ज्ञान उपादान हुआ? इस उपादान का आकार क्यों नहीं ले लेगा। दो बातें हो गयी ना। एक तो यह पदार्थ जैसा ज्ञान जान रहा है यह तो निमित्तभूत है और प्रथम ज्ञान जिसके सिलसिलेमें द्वितीय ज्ञान बना है उसका उपादान है ना। तो उपादान और निमित्त इन दोनोंमें ही तो कार्य बताया जा रहा है। कोई ज्ञान उत्पन्न हुआ है तो जैसे वह पदार्थके आलम्बनसे होता है इसी प्रकार अपने ज्ञानके सिलसिलेमें भी तो होता है। तो ज्ञानका उपादान है पूर्व ज्ञान और ज्ञानका आलम्बन है बाह्य अर्थ। फिर बाह्य अर्थका तो आकार ले ले और उपादानका न ले। यदि कहो कि दोनोंका ले लेगा। विषय तो आलम्बन रूप कारण है और उसका उपादान समनन्तर प्रत्ययरूप है अर्थात् ज्ञानके ही सिलसिलेमें ज्ञान उत्पन्न होता है। दोनोंका सम्बन्ध रहा ज्ञानमें इस कारण दोनोंका आकार ग्रहण कर लेगा [illegible]। तो उत्तर दे रहे हैं आचार्य कि [illegible] यह है, तब फिर जैसे पदार्थोका ज्ञान हो जाता है, पदार्थ विषय बन जाता है इसी प्रकार उपादान भी विषय बन जायगा। अर्थात् जब हम पदार्थोको ज्ञानमें सीधा जान लेते हैं इस तरह उपादानको भी सब लोग [illegible]।

पूर्वपक्षकार द्वारा अध्यवसायका तीसरा सुझाव — अब इस प्रसंगमें एक अन्य बात पूर्व पक्षकार कह रहे हैं कि भाई ज्ञानमें दो बातें अभी बतायी हैं कि यह ज्ञान जिससे उत्पन्न हो और जिसके आकार रूप बने उसे जानता है तो ये दो बातें जैसे पदार्थोके लिये बन गईं ऐसे ही समनन्तर ज्ञानके लिये भी बन गईं। द्वितीय ज्ञानमें भी ये दोनों बातें हैं यह पूर्व ज्ञानसे उत्पन्न हुआ और पूर्व ज्ञानका आकार भी रख रहा लेकिन अध्यवसायका नियम नहीं है अर्थात् ज्ञानका नियामक नहीं है, ज्ञान ज्ञानको नहीं जानता। ज्ञान तो पदार्थोको जानता है, जैसे कि लौकिक जन उसके बारेमें ऐसा ही अपना भाव बनाये हैं। तो अध्यवसायका नियम अर्थात् निश्चय करनेका नियम केवल पदार्थके साथ है इस कारण ज्ञान अर्थका ही नियामक है। तो उत्तर दिया जा रहा है कि उपादानका निश्चय क्यों नहीं करा बैठते? अन्यथा दोनोंका ही निश्चय न रहा न तो पदार्थका ज्ञान बने और न अपने उपादानका ज्ञान बने।

तदुत्पत्ति, ताद्रूप्य व अध्यवसायसे भी व्यभिचारका अनिवारण — तदुत्पत्ति ताद्रूप्य व अध्यवसाय तीनों बातें माननेपर भी एक दोष यह है। वे तीन बातें क्या मानी है इन साकार ज्ञानवादियोंने कि यह ज्ञान पदार्थसे तो उत्पन्न हुआ और पदार्थका ही आकार रख रहा और फिर उस हीका निश्चय कर रहा इसलिये ज्ञानमें उस प्रतिनियत पदार्थके जाननेका नियम बना है। तो देखो जिस पुरुषको कामला रोग है जिसकी वजहसे प्रत्येक चीज पीली पीली दिखती है पीलीया रोग होता है, उससे चक्षु आहत हो। गए हैं वह तो सफेद शङ्खको देखेगा तो उसे पीला बतायेगा। सफेद शङ्खमें पीताकारका ज्ञान हुआ तो यह प्रमाण क्यों नहीं बन बैठा पूर्वज्ञानके निर्णयमें

रुक गया है। अब उस परिस्थितिमे ज्ञानावरण प्रकृतिकी कमी हो, क्षयोपशम हो उतनी इस ज्ञानमे योग्यता आती है और उस योग्यताके अनुसार यह पदार्थोंको जानता है। साकार ज्ञान माननेपर यह आपत्ति आती है कि ज्ञान जब इन पदार्थोंका आकार ग्रहण करता है तो सारे पदार्थोंका आकार क्यो नही ग्रहण करता। यह पदार्थ यदि यदि अपना आकार ज्ञानका सौंपा करता है तो सारे पदार्थ अपना आकार ज्ञानको क्यो नही सौंप देते ? फिर तो जब सब पदार्थोंका फोटो आ गया तो यह निर्णय भी न बन सकेगा कि यह अमुक चीज है यह अमुक सभी पदार्थोंका प्रतिबिम्ब ज्ञानमे आ गया तो वहाँ प्रतिनियत पदार्थकी व्यवस्था नही बन सकती । कि यह अमुक है और ऐसा निश्चय करने वाले ज्ञानको अपनेसे दोष बचानेके लिये। निराकार मानोगे तो फिर उसमे भी नियम नही बन सकता। निराकार होनेपर भी योग्यताके कारण प्रतिनियत पदार्थके ज्ञानकी व्यवस्था बना करती है। आकार प्रतिबिम्बित होता है ज्ञानमे और फिर ज्ञान जानता है इतनी कल्पनाका श्रम करनेकी आवश्यकता नही है। ज्ञान है निराकार है और वह पदार्थोंको जानता रहता है।

ज्ञानकी साकारताका दिग्दर्शन - जैनदर्शनमे ज्ञानको जो साकार कहा है उसका यह अर्थ नही है कि पदार्थका प्रतिबिम्ब आता है। कहा जरूर है कि ज्ञान तो साकार होता और दर्शन निराकार होता। निराकार उपयोगका नाम दर्शन है और साकार उपयोगका नाम ज्ञान है, पर वहाँ साकारताका अर्थ ज्ञानमे पदार्थोंकी फोटो आ जाय यह नही है. किन्तु ज्ञानके कामकी शैली यह है कि वह पदार्थोंका आकार जाने, पदार्थोंकी विशेषता समझे, इस प्रकारसे उनके आकार मुद्रा, विशेषताके जानने का ही नाम आकार है। ज्ञानका कोई ढङ्ग बनता है, नानारूपसे प्रतिभात होता है इसका नाम है आकार। ऐसी साकारता तो ज्ञानमे है परन्तु ज्ञानमे पदार्थका फोटो आये ऐसी बात नही है।

स्वपरव्यवसायी ज्ञानमे प्रमाणताकी सिद्धि—यह सब प्रकरण इस बात पर चल रहा है कि प्रमाणताका लक्षण आचार्यदेवने यह कहा था कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है। तो इसके विशेषणमे विलोम पद्धतिसे प्रत्येक शब्दका सार्थक्य बताया है। ज्ञान प्रमाण है किन्तु जो अचेतन है अज्ञान है वह प्रमाण नही बनता। फिर बताया कि अर्थका निश्चय प्रमाण है, फिर बताया अपूर्व अर्थका निश्चय प्रमाण है। अब उसी सिलसिलेमे यह बताया जा रहा कि स्वका व्यवसायी ज्ञान प्रमाण है और जो स्वका निश्चय न करे वह ज्ञान पर पदार्थोंका भी निर्णय नही बना सकता। तो स्वका निश्चय करने वाला ज्ञान हुआ करता है। इसके विरोधमे अचेतनवादियोने यह कहा कि चूंकि ज्ञान अचेतन है प्रकृतिका धर्म है, आत्माका स्वभाव नही है अतएव ज्ञान खुदका निश्चय नही करता उसके बाद साकारज्ञानवादियोने यह कहा कि ज्ञानमे पदार्थका आकार आता है इसस

ज्ञान जानता है। ज्ञान स्वव्यवसायी नही है। जिस पदार्थका आकार आया करे वह अपना क्या निश्चय करेगा ? जैसे दर्पण आदिक। तो इन दोनो मन्तव्योका निराकरण करते हुए यह बताया कि ज्ञान प्रमाण है और पदार्थोका आकार जानता रहता है। अपने आपको भी उन पदार्थोंके आकार रूप बना ले, पदार्थरूप बनाले ऐसा नही हुआ करता। इस प्रकार स्व और परका निर्णय करने वाला ज्ञान प्रमाण होता है।

भौतिकवाद और उसकी अयुक्तता - ज्ञानकी इन विशेषताओको सुनकर अब एक नास्तिक-सिद्धान्त जो आत्माको भी और ज्ञानको भी तत्त्व नही मानते और मानते यह हैं कि केवल जो दिख रहा है यही तत्त्व है और जो यह शरीर है सो सब कुछ है। यह शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुसे उत्पन्न होता है और इन चार चीजोंके मिलनेसे ऐसी कोई अद्भुत बिजली सी उत्पन्न होती है जिसके कारण यह जानता रहता है और सारी व्यवस्था बनाता है। यह विज्ञान अपने आपका स्वसम्वेदन नही कर सकता क्योंकि वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार भूतोका परिणमन है जैसे कि दर्पण। दर्पण पृथ्वी, जल अग्नि वायुका एक विपरिणमन विशेष है, तो दर्पण खुदका भी निश्चय नही करता। यह सिद्धान्त चारुवाक लोगोने रखा। उत्तरमे आचार्यदेव कहते हैं कि तुम्हारा हेतु सिद्ध नही है तुम्हारा हेतु है कि यह भूतका परिणमन विशेष है भूतका अर्थ है पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। भूतका परिणमन है ज्ञान। यह बात अायत असगत है क्योकि यदि यह ज्ञान पृथ्वी आदिकका परिणमन होता तो वाह्य इन्द्रियसे इसका ज्ञान होना चाहिए था। जैसे शरीर पृथ्वी आदिक भूतोका परिणमन है तो शरीर आँखो दिखता। इसमें रूप, रस, गध, स्पर्श भी पाया जाता है। तो जैसे यह शरीर भूत विषयोंसे उत्पन्न होता है अतएव वाह्य इन्द्रियका विषय है। यो ही ज्ञान यदि पृथ्वी आदिकसे उत्पन्न होता है तो इन्द्रियके द्वारा ज्ञानका स्वरूप जान लिया जाना चाहिए था पर इन्द्रियके द्वारा ज्ञानका स्वरूप ज्ञात नही होता अतएव इतना तो निर्णय है कि ज्ञानभूतका परिणमन विशेष नही है।

सूक्ष्म भूत परिणमनका तर्क- यदि कहो कि नही, ये शरीर आदिक तो स्थूलभूत रूप हैं और ज्ञान सूक्ष्मभूत परिणमन है इस कारण वाहरी इन्द्रियो के द्वारा ज्ञान नही जाना जाता। तो इसपर आचार्य पूछते हैं कि वह जो सूक्ष्मभूत विशेष परिणमन है। वह सूक्ष्म परिणमन विशेष क्या चैतन्यसे सजातीय होकर ज्ञान के उत्पन्न करनेका कारण बना ? या चैतनसे विजातीय वनकर विपरीत वनकर ज्ञान के उत्पन्न करनेका कारण बना। यदि कहो कि चेतन उस जाति वाला बन कर वह सूक्ष्मभूत परिणाम ज्ञानको उत्पन्न करता है तो चला नाममें ही तो फर्क रहा। बात तो वही हुई जो हमकी है और फिर भूतका अर्थ अगर वदल दें तो बिल्कुल सीधा सिद्धान्त बन जायगा। भूत मायने पृथिवी आदि है और प्राणी भी है यहाँ भूतका अर्थ

प्राणी कहिये तो प्राणीका वह परिणाम है ज्ञान जो ज्ञान चैतन्यका सजातीय है, अगर कहो कि विजातीय है तो विजातीयसे विजातीयकी उत्पत्ति नही होती । तो ज्ञान उत्पन्न ही न होगा । यो ज्ञान स्वतन्त्र है और वह स्वपर प्रकाशक है । वह अपने आपको भी जानता और परको भी जानता यह निर्णय रखना चाहिए ।

चैतन्यस्वजातीय सूक्ष्म भूतपरिणमनका भाव—भौतिकवादमे आत्माका नास्तित्व सिद्ध किया जा रहा था जिसमे उन्होने यह युक्ति दी कि है तो यह चैतन्य भौतिक, पर घट-पट आदिक की तरह दिखनेमे इस कारण नही आता कि वह सूक्ष्म भूतका परिणाम है । ये सब दिखनेमे जो आ रहे हैं यह तो है स्थूल परिणमन, पर यह चैतन्य है इस पृथिव्यादिक भूतका सूक्ष्म परिणमन । इस कारण चैतन्य दृष्टिमे नही आता, किन्तु है कुछ नही । इसपर याने पृथिवी, जल, अग्नि, वायुके समुदायके कारण यह एक चेतना जग गयी है । इसके उत्तरमे पूछा जा रहा है कि वह जो तुम्हारा सूक्ष्म भूतपरिणमन है जो कि चैतन्यको उत्पन्न करने वाला माना जा रहा है वह चैतन्यकी जातिका है या चैतन्यसे विरुद्ध जातिका है ? यदि चैतन्य जातिका है तो यही बात तो तत्त्वकी है । है कोई ऐसा सूक्ष्म प्राणविशेष जो अचेतन द्रव्यसे अलग है ? जिसमे रूप रस, गन्ध, स्पर्श नही है, जो इन बाहरी इन्द्रियोके द्वारा जाननेमे नही आता केवल स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है ऐसा चैतन्य विशेष अचेतनसे अलग है और उसका लोक परलोक है इस भवमे है सो सब जानते है, पर मरकर उसका परलोक भी होता है । उस परलोकके स्वामीपनेसे वह अनुमेय है, उसका दूसरा नाम है आत्मा । वही ज्ञानका उपादान कारण है यह माना जाना चाहिये क्योकि अब चारुवाकोंने भी उस विज्ञानको चैतन्यकी जातिका बताया है ।

ज्ञानको चैतन्यविजातीय परिणमन माननेपर आपत्ति – यदि यह ज्ञान चैतन्यसे विजातीय है तो जो चारुवाक लोग पृथिवी, जल, अग्नि, वायुके सम्बन्धसे जीवको उत्पाद मानते हैं । जीवस्वरूप अन्य कुछ नही है । न पहिले था न आगे रहेगा पृथिवी वगैरह मिल गए सो जीव बन गया, ऐसा मानते हैं चार्वाक लोग । तो वह जो ज्ञान बन गया वह चेतना जातिसे यदि विलक्षण है, तो विलक्षण उपादान कहो बना क्यें कि विजातीय पदार्थसे विजातीयकी उत्पत्ति नही हुआ करती । जैसे आगसे जल उत्पन्न तो नहीं होता ऐसा भौतिक वादियोने माना है । उनके ये चार तत्त्व हैं, पृथिवी जल, अग्नि और वायु । इनके अतिरिक्त और कुछ पदार्थ नही मानते भौतिकवादी लोग । जो इन्द्रियसे जाननेमे आये बस वह ही सब कुछ हैं, इससे अतिरिक्त और कुछ भी सूक्ष्म चैतन्य या अन्य कुछ नही है । तो तुमने भी यह माना कि आगसे जल नही बनता । क्योकि आगकी जाति न्यारी है जलकी जाति न्यारी है तो इस तरह अचेतनसे चेतन भी नही बन सकता क्योकि अचेतनकी जाति न्यारी है चेतनकी जाति न्यारी हैं । अचेतन है जड गैर समझ और ज्ञान है समझ वाला तो अचेतनसे अगर

ख्या अपने अपने पक्षसे कर रखी है। जो हमारे धर्मको न माने सो नास्तिक जो हमारे धर्म शास्त्रको न माने सो नास्तिक। ज वेदकी निन्दा करे सो नास्तिक। यों व्याख्या बना रखी है पर शब्दसे यह अर्थ नही निकलता। शब्दसे अर्थ यह निकलता कि जो अस्ति है उसे न माने सो नास्तिक अब तो अनन्तानन्त जीव नास्तिक हा तो है अरे जिनके मन नही है वे अस्तिको मान ही क्या सकते है। जिनके मन है समझ है ऐस पुरुष भी इन्द्रिय द्वारा जो कुछ ज्ञात होता है उसे ही मानते हैं पर जो मना करे आत्माको ऐसा मना करने वाली है जो कुछ इस शरीरसे भी विलक्षण चीज है, लो उसका ही नाम आत्मा है।

आत्माकी भूतचतुष्टयसे विलक्षणताका विवरण—तो यह चैतन्य इन पृथ्वी आदिक तत्त्वोसे विभिन्न जातिका तत्त्व है। चेतनका स्वरूप है ज्ञान दर्शनोपयोग जो कुछ अपने अन्तरङ्गमे भी प्रतिभास आ रहा है और जो समस्त बाह्य तत्त्वोका भी प्रतिभास किया करता है ऐसा ही उपयोग स्वरूप यह चैतन्य है। तो आत्माका तो चैतन्य स्वरूप है और पृथ्वी,जल, अग्नि वायुका और और कुछ स्वरूप है। जैसे पृथिवी का स्वरूप है धारण। किसी वस्तुको अपने पर धर लेना। जिसपर कुछ चीज रखी जो सके वह है पृथिवी। जिसपर चलते वह है पृथ्वी। ये काठ, चौकी दरी वगैरह जो कुछ है ये सब पृथिवी हैं। वनस्पति तत्त्व नही माना चार्वाकोने। जो पिण्डात्मक हो, घन हो वह पृथिवी है। फल-फूल काठ पत्थर जो भी घनरूप है वह पृथिवी है, उस का काम है धरना। किसी भी पदार्थको अपनेपर धर लेना। जलका काम वे ईरण, जो नीचेकी ओर चलना जो बह स ", ढल सके वह सब जलतत्त्व है। और, अग्निका काम है उष्णता और हवाका काम है बहना चलना। तो ये लक्षण है भूतोके और आत्माका लक्षण है ज्ञान दर्शन। इन दोनोको एक क्यो किये जा रहे हो ? आत्मा इस पृथिवी आदिक पिण्डसे जुदी वस्तु है पृथिवी आदिकमे। ज्ञान दर्शन उपयोग नही नही है क्योकि ये बाह्य इन्द्रियोके द्वारा इनमेसे अनेक पुरुषोके द्वारा जाननेमे आ रहे हैं। जिसमे ज्ञान दर्शन उपयोग होता है बाह्य इन्द्रियसे नही जाना जा सकता। इन बाह्य इन्द्रियोसे तो ये ही पदार्थ जाने जा रहे है जो पुद्गल है। रूपी हैं, पिण्डभूत है जो ज्ञान दर्शन उपयोग वाला है वह साधारण जैसे अनेक जिस चाहे पुरुसके द्वारा नही जाना जा सकता। जिनकी साधना हो, अन्त तत्त्वज्ञान हो ऐसे ही पुरुष उस आत्माको समझ सकते है। वह आत्मा इस शरीरसे न्यारा है ज्ञान स्वरूप है और वह ज्ञान अपने आपका भी निर्णय रखता है और पर पदार्थोका भी निर्णय रखता है।

नास्तिकतामे शान्तिसे गुजारेका अभाव—भैया बाह्य दृष्टि साधारण दृष्टि रखकरके तो जो कुछ कोई वर्णन करता है वह वर्णन बडा प्रिय लगता है। क्या है जीव कुछ नही है, जब तक शरीर है तब तक हम है तो जब तक जिन्दा है तब तक क्यो व्यर्थमे कष्ट उठाये। खूब खावें, पियें। मौजसे रहे, संयमका भूत क्यो शिरपर

लादना । व्रत तपश्चरणके कष्ट सहना ? इससे कुछ भी लाभ नही है । पृथिवी आदिक मिल गई तो एक बिजली सी बन गई । इसमे अन्य कुछ नहीं है, क्यों कष्ट करें यह बात कितनी प्रिय और अच्छी लगती है । क्योंकि अनादिकालसे विषय कषायकी वासना लगी हुई है और उसके अनुकूल ही ये सब बाते हैं तो प्रिय तो लगेगी ही । लेकिन इतना भी तो नही है कि तुम्हारा चित्त जिनको चाहता है पञ्चेन्द्रियके विषयो को लौकिक इज्जतको पोजीशनको इससे लगे हुए भी शान्ति मिले इतना भी तो नही है ।

अशान्तिकी विधिसे शान्तिकी अशक्यता थोडी देरको मान लो न सही आत्मा अलग । जो शरीर है, पृथिवी आदिकका पिण्ड है उस हीमे ज्ञान है । मान भी लो नही है कुछ, ज्ञानका उपादानभूत आत्मा और, ऐसा मानकर यह तो अच्छी बात है ना कि हमारे सुखमे कमी न आये । मौजसे खावें पिये, न्याय अन्याय कुछ नही, जिसमे विषयोंके साधन जुडें वह काम करें और अपनेको किसी बातसे हैरान तो मत करे । इसी बातके लिए ऐसा माना जाता है कि आत्मा कुछ नही है, लेकिन इसपर भी तो और इस रास्तेमे चलनेपर भी तो शान्ति नही है, नही है लो आत्मा । खूब लगे रहे विषयोंके साधनोंमे जो चाहे न्याय अन्याय करे, जैसा चाहे रहे, लो मौज खूब, पर मौज कहाँ मिलती है ? अनुभवमे तो खूब आ रहा कि मौज किसीको कहीं नही मिल रही । सभी विषयोकी होडमे लग रहे हैं । बढाते जावो सम्पदा । और प्राय करके यह सम्भव है कि खूब बढाते जावो सम्पदा । एक दिन वह आ जायगा कि यह घोषणा हो जायगी कि जितना जो कुछ है वह सब राष्ट्रकी सम्पदा है । किसीका कुछ नहीं है । ऐसे दिन आनेमे देर नही मालूम हो रही । ऐसा वातावरण ही अब चल रहा है । तो विषयोके साधनोंके सचयमे भी तो कोई शान्ति नही नजर आ रही है । तो यहाँ भी तो कुछ न्यायसे रहित, रहनेमे कुछ लाभ नही मिल पाता है, उल्टी अशान्ति रहती है ।

शान्तिकी विधिसे ही सर्वत्र शान्तिकी सम्भवता - उस स्थितिकी बात कर रहे हैं कि जब कोई यह मान रहा हो कि आत्मा कुछ नहीं है, जो कुछ है सो शरीर है । इसीमें चैतन्य है, इसीमे ज्ञान है जीव कुछ नही है । अच्छा नही है न सही अब करेंगे क्या ? मनमानी प्रवृत्ति करेंगे, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, लूटमार, ये काम यदि किए जायेंगे तो सुख मिल जायगा क्या ? पिटाई और होगी । तो सुख यहाँ भी नही । आत्मा न भी माने फिर भी सदाचारसे रहनेमे ही सुख है । और मान लो कि पृथिवी आदिकके मिलनेसे एक बिजली बन गयी उतनी देरको सही चैतन्य, मगर चैतन्यपर जो गुजरता है, जैसा जो कुछ बनता है, बात तो उस तरह बनेगी । पर इतना ही तो आया कि यह चैतन्य पहिले न था और चैतन्य आगे भी न रहेगा, मगर बिखरा और चैतन्य समाप्त । इतनी ही तो माननेकी बात आयगी, पर जब तक यह चैतन्य है तब तक तो जो इसके हिसाबमे बात होनी है वह हो होगी । जैसे सुख दुःख,

चैतन्यको माने पहिले और बादमें तब भी वर्तमान आनन्दके लिये जो करना चाहिए वो ही तो करना होता है, वही इसे भी करना चाहिए। चाहिए तो यह चैतन्य जो जितनी भी हुआ हो वह अपने आपके स्वरूपको चेतने लगे। आगे पीछे है या नही, यह बात तो आगेकी है पर वर्तमानका आनन्द लेना है तो अपने स्वरूपको चेतना चाहिए और तब यह स्वयं विदित करने लगेगा कि चैतन्यस्वरूप कोई पदार्थ स्वतन्त्र न्यारा है। विजातीयसे विजातीयकी उत्पत्ति नही होती। पृथिवी आदि अचेतन हैं, अचेतन पदार्थोंसे चेतनकी उत्पत्ति नही होती।

चार्वाकका आशय - इस प्रसङ्गमें भौतिकवादी अपना फिर मन्तव्य रख रहे हैं कि देखिये! ज्ञानदर्शन उपयोग विशेषके अलावा कोई ज्ञान दर्शन वाला पदार्थ है, आत्मा है यह तो प्रकरणसे समझमें नहीं आ रहा। हां, ज्ञान दर्शन उपयोग समझमें आ रहा है सो उसे हम कब मना करते है। ज्ञान दर्शन है, पर वह पैदा होता है पृथिवी, जल, अग्नि, वायुके सम्बन्धसे। ज्ञान स्वभाव वाला कोई पदार्थ न है, न था, न होगा। यह तो नव शरीरसे बात बन रही है, शङ्काकार कह रहा है, इसलिए तुम्हारा जो यह कहना था कि पृथिवी आदिकसे विभिन्न विशिष्ट लक्षण वाला कोई आत्मा है सो तो है ही नही क्योंकि वह आत्मा प्रत्यक्षसे तो किसीको दिखता नही है। जैसे हम इन रूप आदिकवान पदार्थोंका निर्णय रखते हैं, यह चौकी है, रूप, रस, गंध, स्पर्श वाली है, इस तरह आत्माके स्वरूपका कोई विवरण नही है, कोई निर्णय नही है और न अनुमानसे आत्माकी प्रतीति है, अनुमान तो प्रमाण ही नही होता। यह तो ख्याल ही ख्याल है, कुछ भी अनुमान कर लो, प्रमाण तो केवल प्रत्यक्ष है सो प्रत्यक्ष न आत्मा कुछ नजर नही आ रहा। आत्मा नामकी कोई चीज नही और आत्माको सिद्ध करने वाला कोई अनुमान भी नही, अतएव आत्माका धोखा मत करो। क्यों व्यर्थमें अपनेको कष्टमें डालते मौजमें रहो, यह बात चार्वाक लोग कह रहे है।

आत्माकी अहंप्रत्ययवेद्यता - चार्वाक जनोंकी अविचारितरम्य शिक्षा सुननेमें तो अच्छी लगती है पर इसपर विचार करें तो वह ठीक सगत नही बैठ सकता, क्योंकि आत्माकी प्रतीति तो अहं प्रत्ययसे ही हो रही है। प्रत्येक जीव अपने आपमें अनुभव कर रहे हैं मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं ऐसी पोजीशनका हूँ, यों जिसमें अहं प्रत्यय बन रहा है वही तो आत्मा है और ऐसा अहं अहं का अनुभव प्रत्येक प्राणीमें हो रहा है। मैं यों होऊँ मैं ऐसा न होऊँ, मैं दुःखी होऊँगा, मैं सुखी होऊँगा, यों जिसमें 'मैं-मैं' की आवाज अन्दरमें उठ रही है? इसमें कि देखे कि किसमें? जिसमें अह प्रत्यय हो रहा है वही तो आत्मा है और यह बात मिथ्या है नही क्योंकि कोई बाधा नही आ रही। छोटे-बड़ेमें सब लोग 'अहं-अहं' का अनुभव किया करते हैं। यह अहं प्रत्यय जिस आधारसे उठा, उसका उपादान क्या है? वह यही आत्मा है। यह अहं बोध शरीरके सम्बन्धसे नही होता क्योंकि अहं का अनु-

भव इन्द्रियके व्यापार बिना हो रहा है। शरीर तो इन्द्रियके व्यापारसे जान लिया जाता है। इन्द्रियके व्यापार बिना शरीरका बोध तो नही होता।

आत्माकी विशुद्ध प्रत्यक्षगम्यता प्रत्येक प्राणीमें जो अनुपचरित रूपसे, सही रूपसे अहं प्रत्ययका बोध बन रहा है उसका जो विषयभूत है वही आत्मा है और अहं प्रत्ययका बोध प्रत्यक्षसे हो रहा है। प्रत्यक्षका सही अर्थ तो यह है कि अक्ष मायने आत्मा और उसका ही सहारा ले कर जो ज्ञान हो उसका नाम है प्रत्यक्ष। इन इन्द्रियोसे कुछ जानते हैं औ उसे प्रत्यक्ष कह बैठते हैं यह तो उपचार कथन है, यह प्रत्यक्ष नही है, इसमें तो इन्द्रियकी आधीनता है। इन्द्रियकी आधीनता लिए बिना केवल आत्माका ही जो बोध हो उसे कहते हैं प्रत्यक्ष। तो मैं हूँ, मैं हूँ इस प्रकारका जो बोध हो रहा है प्रत्यक्ष तो वह है। तो अहं प्रत्ययका जो विषयभूत है वह मैं आत्मा हूँ, ऐसा प्रत्येक पुरुषमे आत्माका अनुभव हो रहा है। शरीरको निरखकर यह मैं हू ऐसा बोध करे तो वह जीव मिथ्यादृष्टि है। सभी जीवोंका अहं प्रत्ययका अनुभव अन्त आश्रयसे होता है, शरीरके आश्रयसे नही होता। अहं प्रत्ययके अनुभवकी शैली ही ऐसी है कि कोई अन्त तत्त्व है, उसका आश्रय लेकर ही अहं अहंका अनुभव हुआ करता है। तो जो अहं प्रत्ययका विषयभूत है वह मैं आत्मा हूँ। पृथ्वी आदिक भौतिक पदार्थोंसे यह ज्ञान नही बनता। किन्तु आत्मासे ज्ञान बनता और वह ज्ञान अपने आपका भी निश्चय रखता और परका भी निश्चय रखता है।

आत्माके प्रत्यक्षगम्यकी पुष्टि चारुवाक सिद्धान्त वाले आत्माके अस्तित्व का निषेध कर रहे हैं। आत्मा प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञानमे नही आता, अनुमान अन्य कोई प्रमाणोने प्रमाण नही अतएव आत्मा नही है किन्तु जो कुछ चेतना चल रही है, क्रिया चलती है, बोलचाल चल रहा है वह सब इस भूतपिण्डमे एक नवीन चेतना शक्ति उत्पन्न हुई है। पृथ्वी, जल, अग्नि वायुका सम्बन्ध होनेसे। इसपर उत्तर दिया जा रहा है कि आत्माका तो मान प्रत्यक्षसे हो रहा है। मैं सुखी हूँ, दुखी हू, इच्छावान हूँ, इस प्रकार जो सही यथार्थ अनुपचरित अहं प्रत्यय हो रहा है वही तो आत्माका प्रत्यक्ष कर रहा है। यह अनुभव आत्माके आधारसे नही हो रहा। शरीरके ये रूप, रस गध स्पर्शके परिणमन शरीरके आधारमे हैं पर वाञ्छा होना मैं सुखी हू, दुखी हूँ या कुछ भी मैं के सम्बन्ध अनुभव होना यह सब आत्माके आधारमें है। अहं प्रत्यय के द्वारा शरीर नही जाना जाता। अर्थात् शरीरमे अहं प्रत्ययका बोध नही होता क्योंकि शरीर बाह्य इन्द्रियका विषय है। वह अहं प्रत्ययका विषय नही बन सकता।

शरीरकी अवस्थावोमे अहं प्रत्ययकी औपचारिकता- शायद यह कहो कि जब लोग यो बोलते है कि मैं मोटा हूँ, मैं दुबला हूँ तो इस अहंका अभिन्न आधार शरीर ही तो हुआ। देखनेमे तो शरीर ही है ना, यह

कमजोर है, मोटा है, स्थूल है, दुर्वल है ऐसा तो बोध होता है। तो शरीरके आधारसे ही तो अहका बोध हुआ। समाधानमे कहते हैं कि यह बोध अनुपचरित नही है उपचरित है। जैसे कोई अन्य उपकारी हो मित्र हो या कर्मचारी तो उसके प्रति यह कहते कि जो यह है सो मैं हूँ। तो क्या वह मैं बन गया। जो अधिक उपकारी हैं अधिक सन्निकट है उसमे अहका व्यवहार हो जातापर वह उपचारसे होता यथार्थ नही कोई नौकर बहुत ईमानदार है और बडा हितैषी है तो उसके प्रति भी मालिक कहता है कि यह ही मैं हूँ तो क्या ऐसा है। यह कहना उपचारसे है इसी प्रकार मैं स्थूल हूँ, मैं सूक्ष्म हू आदिक जो अह होते हैं वे सब उपचरित हैं। यदि कहो कि नौकर आदिक मे अह कहना यह तो उपचरित यो है कि सीधा भेद नजर आ रहा। नौकर अलग बैठा, दोनोके भिन्न-भिन्न कार्य हैं फिर उपकारकी वजहसे ऐसा सभी बोल देते हैं कि यह मैं हूँ। तो यह जुदा जुदा मालूम पड रहा है उसमे मै की बात लगाना उपचरित है, यथार्थ नही है। तो यही बात तो शरीरमे है। शरीर और आत्मामे भी स्पष्ट भेद है और फिर शरीरमे अह लगाना मैं वलिष्ठ हूँ,दुर्वल हू,स्थूल हूँ, यह सब उपचरित है।

अह रूपसे शरीरकी अप्रतीतिकी एक घटना –भैया! जरा अब यह भी अनुभव करिये। बहुत गहन अधकार है जिसमे कुछ नजर नही आता इतने गहन अधकारमे पडा हुआ कोई पुरुष है और जब वह अह अहका अनुभव करता है तो उस अहके अनुभवमे तो शरीर उसे नजर ही नही है। स्थूल होना, दुर्वल होना यह कुछ उसे नजर ही नही है जैसे कोई मोटा पुरुष है और उजेलेमे उसे शरीर दिखता है और उस शरीरमे उसे मोटेपनका ख्याल भी रहता है पर गहन अधकारमे पडा हुआ पुरुष अह प्रत्ययके द्वारा शरीरका मोटापा नही देख पाता, नही अनुभव कर पाता। भले ही वह हाथसे छुवे और जाने कि मे मोटा हूँ वह बात अलग हे मगर पडे रहे शरीर जहाँ का तहाँ तो उसे अह अहकी भावनामे शरीरके मोटापाका कुछ पता नही रहता। इस से शरीरमे कोई अहकी बात लगाना मैं मोटा हू, दुर्वल हूँ कमजोर हूँ वलिष्ठ हू यह सब उपचार कथन है और उपचार निमित्तके विना हुआ नही करते। कोई चीज तो मुख्य हो तब उपचार होता। तो वह मुख्य आत्मा ही है।

शरीरमे अह प्रत्ययकी मान्यताकी अव्यवहारिकता—भैया! यहाँ यह तो कह सकते कि मेरा शरीर है पर मैं शरीर हूँ यह अनुभव नही होता है। जैसे यह मेरा नौकर है, यह मेरा मित्र है, मेरा अमुक है ऐसा मेरापन लेते जाते है वहाँ सही है मुख्य है, ऐसा ही मेरा शरीर है ऐसा प्रत्यय भेद होना यह भी मुख्य है। दर्शन शास्त्रके क्षेत्रमे बात कही जा रही है। अध्यात्मिक क्षेत्रमें तो मेरा शरीर है यह भी गलत बात है पर इस प्रसगमे जहाँ शरीरमे अह रूपसे अनुभव करनेका निषेध किया जा रहा और जिसका प्रयोजन केवल यह है कि अहसे यह शरीर अभिन्न आधार न बन जाय उस दृष्टिसे यह मेरा शरीर है यह कहना तो ठीक बैठता है पर मैं दुर्वल हू,

मैं कमजोर हूँ, मै बलिष्ट हूँ, स्थूल हूँ यह सब कहना यथार्थ नही है। वह सब औपचारिक कथन है।

भावात्मक वृत्तिसे भावात्मक पदार्थका निर्णय—तो अह अहकी भावना से इस आत्मतत्त्वका बराबर सबको भान हो रहा है। आत्माका निषेध नही किया जा सकता। जिसपर बात गुजर रही है वेदनाएँ हाती हैं, चिन्ताएँ होती हैं, सुख–दुःख होते हैं ऐसा वह आधार क्या है ? वेदनाका अनुभव, सुख–दुःखका अनुभव किसी घन पदार्थमे पिण्डात्मक पदार्थमे नही हो सकता। यह शरीर एक पिण्डात्मक है इसमे चेतनाका अनुभव नही बन सकता। अमूर्त चेतनमे अमूर्त ज्ञान धर्म है और अह अह के द्वारा अनुभवमे आता है। और इतनी बात तो खुद करके कोई देखे कि इस ही भीतर जो कल्पना जगती है तो किन कल्पनाओंसे शोक उत्पन्न होता, चिन्ता होती, आकुलता बनती और किन विचारोसे निराकुलता उत्पन्न होती ? यह तो प्रयोग करके देखा जा सकता है और तब यह विदित होगा कि यह सब भावात्मक इसका परिणमन है।

भावानुसारिणी सृष्टि—भैया ! यह आत्मा जैसा भाव बनाता है वैसा ही इसपर गुजरता है। ममता, अहङ्कार ये सब भाव जीवकी बरबादीके ही कारण है और अपनेको सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूपमात्र निहारते रहना किसीको इष्ट-अनिष्ट न समझना, किसीमे रागद्वेष विकार न लाना ऐसी समतासे जब चेतना चलती है तो इसमे निराकुलता उत्पन्न होती है। इसके विरुद्ध बाहरी पदार्थोंमे दृष्टि देकर कहाँ शान्तिका अनुभव हो पाता है ? तो ऐसी दृष्टि बने कि अपना जो आनन्दका धाम है वह सर्व परसे भिन्न है। जब पर पदार्थोंमे दृष्टि हटाकर अन्तरमे दृष्टि डालो तो यह ज्ञानका जो मालिक है, जो आनन्दका धाम है उस प्रभुसे यह ज्ञान न्यारा हो गया दृष्टि द्वारा। तो जो इतना अपराध करे, अपने प्रभुके विरुद्ध मुख करके चले इतने बडे अपराध वालेको आकुलता होना तो प्राकृतिक ही बात है। यही निर्णय हितकी वार्ता है कि हम अपने प्रभुसे विमुख होकर जब जानते रहते हैं तो उसमे आकुलता है और प्रभुके उन्मुख होकर हम यहाँ ही अपना शरण गहते हैं तो वहाँ निराकुलता हुआ करती है। इतना स्पष्ट जहाँ निर्णय है ऐसे आत्माको मना किया किया जा रहा है यह केवल और मोही जीवोंका ख्याल है कि आत्मा कुछ नही है।

आत्मस्वभावकी दृष्टिसे ही आत्माके परखकी सम्भवता—आत्माके प्रतिषेधके लिये जो यह कहा कि जैसे इन पदार्थोंके रूप आदिक ज्ञानमे आ रहे है, निर्णयमे आते हैं इस तरह आत्माका कोई स्वभाव निर्णयमे नही आ रहा वह भी बात गलत है। मैं मैं इस प्रकारसे जो भी प्रतिभास होता है अन्तरमे वही तो आत्माका स्वभाव है, वही तो चैतन्य है। अब जो स्वभाव जिस रूपसे समझमे आ सकता है उसको उसी रूपसे ही तो समझना चाहिए। हम इन इन्द्रियोके द्वारा आत्माके स्वभाव

को समझना चाहे तो वह प्रक्रिया तो गलत है। यदि हम दूसरे पदार्थोंको दूसरेके स्वभावसे देखें तो किसी भी पदार्थका निर्णय नहीं हो सकता। अपनेको अपने स्वभावसे देखिये, एक चेतना भावसे देखिये।

आत्मा रासिद्धिकी एक घटना एक वार दो मित्रोंमें चर्चा चली, एक सिद्ध कर रहा था कि आत्मा कुछ नहीं है और एक सिद्ध करता था कि आत्मा है। परलोक है यह तो आत्मवादी कह रहा था और परलोक नहीं है यह अनात्मवादी कह रहा था। खूब चर्चा चली। अन्तमें निष्कप रूपसे उस आत्मवादी मित्रने कहा कि यह तो बतावो कि आत्मा है या नहीं है यह वात तो अभी छोड दो, पर सुखी होनेके लिए अपनेको क्या करना चाहिए ? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, लालच अन्याय,अत्याचार आदि परिणामोंसे कोई सुखी हो सकेगा क्या ? नहीं हो सकता, अनुभव बताता है। और, सदाचार मे रहना, व्रत नियममे रहना, दूसरोके उपकारमें रहना, ये सब प्रवृत्तियाँ होगी तो वह सुखी हो सकेगा। सदाचारमे रहते हुए जीवन गुजारना यह ता एक सम्मतिसे निर्णीत है कि सुखी होनेके लिए जरूरी है। अब इस सद्वृत्तिसे रहनेपर यदि परलोक हो तो वहाँ भी लाभ मिलेगा और न हो तो कमसे कम इस जीवनमे तो कोई सुखी रह सकेगा। जो चैतन्यके लिए कर्तव्य है उसकी पद्धति तो वही रहेगी। चाहे आत्मा परलोकमे जाय या न जाय, चाहे आत्मा इस ही भवमात्र रहा करे, सुखी होनेकी जो तरकीब है, परकी ओर राग न करना, आकर्षण न करना अपने आपकी प्रभुता देखना, अपने निकट रहना जो ऊँची पद्धतिया हैं उनसे ही इसको आनन्द प्राप्त होगा। आगे यह रहे अथवा न रहे मगर जिस जातिमे जो पद्धति बनती है वह उसी तरहसे निभेगी।

आत्मशान्तिके योग्य ज्ञानक्रियान्वयन —भैया ! आत्माको उस चेतनारूप श्रद्धान करना, उस चेतनारूपसे ही ज्ञान करना और उसमे ही मग्न होना यह बात उनके लिए भी जरूरी है जो आगे आत्माको नहीं मानते, केवल इस भवमात्र ही मानते। तो उसमे आनन्द पानेके लिये उनको भी इसी तरकीबके करनेकी जरूरत है और इस तरकीबसे करे तो कुछ सत् रूप, परसे भिन्नरूप, कुछ वास्तविक बात अनुभूत होगी और उनसे यह श्रद्धा भी बन सकेगी कि जो पदार्थ वास्तवमे है उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। यह आत्मा है सदा रहेगा, उसकी परिस्थितियां बदलती रहेंगी अर्थात् आत्माके स्वभावको आत्माके ही स्वभावकी विधिसे देखे तो पता पडेगा कि जैसे इन भौतिक पदार्थोंका रूप रस आदिक स्वभाव है उसी प्रकार इस आत्माका स्वभाव है।

आत्मा और परमात्माके उद्बोधनकी एक घटना - यह आत्मतत्त्व अह प्रत्ययवेद्य है। एक राजा था तो उसने अपने मन्त्रीको बहुत बहुत समझाया, बडे धर्ममें रहना चाहिये, आत्माका परलोक भी होगा उसकी भी कुछ विधि बना लेना चाहिए।

यह रोज मना करे कि क्या आत्मा है, आत्मा कैसा क्या है ? कहाँ है लोक-परलोक, कहाँ है ? ईश्वर, परमात्मा भी क्या है । यह सब सर्वोक्त जो कुछ है वही ठाठ है। मत्री बहुत समझाये । एक बार राजा घोडेपर बैठा कहीं जा रहा था । रास्तेमे मत्री का घर पड़ा । मत्री बाहर खडा था तो राजा बोला मत्री तुमसे कहा तुम आत्मा और परमात्माकी बात समझाये, कुछ मजाक किया तो मत्री बोला महाराज ऐसे घोडेपर चढे-चढे तो नही समझाया जाता । उतरो बैठो, घटा दो घटा बात सुनो । तो राजा बोला कि इतना समय नही है । तुम समझा सको तो १० मिनटमे समझा दो। तो मत्री बोला महाराज मेरा कसूर माफ हो तो पाच मिनटमे ही समझा दूँगा । तो राजाने कहा हाँ सारा कसूर माफ । मत्रीने क्या किया कि राजाके हाथमे हटर छुडा कर चार पाच हटर राजाके ही मार दिये । तो राजा कहता है - अरे रे रे भगवान । तब मत्री बोला सुनो राजन जिसमे अरे रे रे रूपमे दु खका अनुभव किया जा रहा है वह है आत्मा और जिसे तुमने पुकारा भगवान कह कर वह है परमात्मा अब देखिये जानन देखन हारा कोई आत्मा है जीव है और इन आत्माओंमे ये भेद नजर आ रहे है कि कोई विशेष रागी है, कोई कम रागी है कोई इन विभूतियोकी उपेक्षा करता है कोई इन विभूतियोमे लग रहे है । तो नाना तरहके राग भाव वाले जब नजर आये, किसीमे कम है किसीमे और कम रहे तो समझिये कि कोई ऐसा भी हो सकता है कि जिसमे राग बिलकुल न रहे । जब राग बिल्कुल नही रहा तो जैसे यहाँ भी देखे जा रहा है कि किसीमे ज्ञान अधिक है किसीमे और अधिक है तो राग न रहनेपर कोई ऐसा भी जीव होगा कि जिनका ज्ञान परिपूर्ण है । जिसमे गुण परिपूर्ण हो और दोष एक भी न हो सो ही प्रभु है, भगवान है ।

आत्मतत्त्वकी सन्निकटतामे विह्वलताका अप्रसग—आत्म दृष्टिके पथपर जो जो भव्य जीव चलते है और जिसे यह प्रतीति रहती है कि आत्मा है, अनादिसे है, अनन्तकाल तक रहेगा, सद्भूत है और वर्तमानके प्रसङ्गोसे यह अनुभव भी कर रहा है । जब यह रागादिक विकारोमे पडता है तब तो यह व्याकुल रहता है और जब अपनी ज्ञानज्योतिकी ओर आता है तब यह निराकुल रहता है । ऐसा अध्यात्म पथ जिसने देखा है उसने सब गुत्थिया सुलझा ली । उसे कोई अब घटना ऐसी न आयगी कि जहाँ वह कि कर्तव्यविमूढ हो जाय । कौनसी समस्या है ऐसी, बडे फसाव वाली भी समस्या हो वहाँ भी यह अपनी ऐसी दृष्टि बना सकेगा कि वह बाह्यमे है, रहो । मैं तो यह परिपूर्ण और छेदन-भेदन रहित केवल अतस्तत्त्व हू, यहाँ कहाँ क्लेश है, क्लेश नहीं है, पर ज्यो ही दृष्टि बाहर गयी यह मेरा अमुक है बस यही बरबादी शुरू हो जाती है । और, कुछ तो आशक्तिके कारण लोग चेतन-अचेतन परिग्रहोंमे चिपट गए हैं और कुछ कर्तव्यके नामपर चेतन-अचेतन परिग्रहमे चिपट जाते हैं ।

निष्काम कर्मयोगमे अन्तर्वृत्ति— निष्काम कर्मयोगमे निष्काम कर्मयोगको

कर्तव्य न समझना कि मेरा यह कर्तव्य है चेतन अचेतन परिग्रहका सम्हालना किन्तु विशिष्ट परिस्थितिमें कोई और चारा नहीं है, करना पड़ रहा है, यह दृष्टि रहती है अन्दरमें। उसीका ही कर्तव्य नाम दें तो बात सही बन जाती है पर कर्तव्यका तो सीधा अर्थ यह है कि उसके करनेके लिए करना ही चाहिए यह काम। इस अर्थका कर्तव्य नहीं है, करना पड रहा है, ऐसी ही परिस्थिति है, और कोई चारा नहीं है, खूब सोच लो! जब घरमें रह रहे हैं तो कुटुम्बके लोगोंसे अनुरागका व्यवहार रखे बिना गुजारा चल सकेगा क्या? न चल सकेगा। और, अनुरागका व्यवहार क्या रूखे-सूखे रहनेसे बनेगा? याने उनका न पोषण करें, न उनके भोजनपानका इन्तजाम करें, न उनकी कोई बात करें फिर अनुराग नाम किसका? तो ऐसी इन परिस्थितियोंके कारण ये सारे कार्य करने पड रहे हैं, पर ज्ञानी जीव इसे कर्तव्य नहीं मानता, किन्तु निष्काम कर्म उसे मानता है। इसी का ही नाम कर्तव्य है।

आत्मतत्त्वके निर्मल अनुभवसे शान्तिलाभ वे अध्यात्मयोगी पुरुष धन्य हैं जिनकी दृष्टि अपने आपकी ओर लगी हो और आत्महितके लिए उत्सुक हो उससे बढकर पवित्र पुरुष और कौन हो सकता है? ऐसे पवित्र पुरुषोंके सङ्गमें रहकर, ऐसे वातावरणमें रहकर समय व्यतीत हो तो उससे बढकर और अमीरी क्या है? यहाँ कोई किसीका प्रभु नहीं है, कोई किसीका शरण नहीं है, किनको यहाँ प्रसन्न करना चाहते हैं, यहाँ किसको अपनी कलायें दिखाना। यह तो मूढतामें शामिल है। अपने आपको प्रसन्न कर सके तो यह है हितकी बात। खुद खुदकी निगाहमें विशुद्ध रहे, विशुद्ध आचरण करे, खुदकी समझमें खुद विशुद्ध स्वभाव रूपमें नजर आये वहाँ प्रसन्नता बन सकती है और बाहरी पदार्थोंका सम्बन्ध जोडकर प्रसन्नता नहीं बनायी जा सकती। फिर निर्मल चित्त नहीं रह सकता, निर्दोष ज्ञान नहीं रह सकता। वहाँ इष्ट अनिष्टका भेदभाव होगा, आकुलताएँ मचेंगी। ये सब बातें जिस अन्तरमें निर्णीत हुआ करती हैं वही तो आत्मा है। केवल पृथ्वी, जल, अग्नि आदिका सम्बन्ध बने उस ही में चैतन्य शक्ति प्रकट होती है ऐसी बात नहीं है। यह चैतन्य तत्त्व इस शरीरसे जुदा है। उस विविक्त चैतन्यको यही मात्र मैं हूँ ऐसा जो अनुभव करता है वह शान्तिका रास्ता प्राप्त कर सकता है।

आत्मामें ज्ञप्ति क्रियाके कर्तृत्व व कर्मत्वकी सिद्धि - आत्म पदार्थको न मानने वाले और विज्ञानके व्यवहारको शरीरकी ही करामात बताने वाले आत्माके अस्तित्वमें यह बाधा उपस्थित कर रहे हैं कि आत्मा यदि स्वयं जानने वाला पदार्थ है, कर्ता है तो कर्ता होनेके नातेसे वही कर्म न बन जायगा अर्थात् जो जानता है वह जाननेमें नहीं आ सकता। जैसे जो पुरुष काठको काटता है तो वह खुद कटनेमें नहीं आ जाता, यह युक्ति दी जा रही है। जो पेन्सिलको छीलता है तो छीलनेका कर्ता बन रहा है, वह खुद नहीं छिल जाता अर्थात् खुद कर्म नहीं बन सकता। आत्माका प्रत्यक्ष

नही हो सकता, अतएव आत्मा कोई चीज नही है। इसके उत्तरमे आचार्यदेव कह रहे हैं कि भाई कर्ता और कर्मके लक्षण जुदे जुदे हैं और जानने जैसे कामके लिए खुद कर्ता बने और खुद कर्म बन जाय इसमे विरोध नही आता। कर्ताका लक्षण है स्वतन्त्रता। जो अपने कार्यमे स्वतन्त्र हो दूसरेकी अपेक्षा न रखे उसे कर्ता कहते हैं और जो क्रियासे व्याप्य हो उसे कर्म कहते हैं। तो जानने वाला आत्मा है और जाननेकी क्रिया का व्याप्य भी आत्मा है। वस्तुत तो प्रत्येक प्रसगमे क्रियासे व्याप्य भी कर्ता ही हुआ करता है। यो आत्मा खुद कर्ता और खुद ही कर्म रहता है। कोई यदि पेन्सिल छील रहा है तो वह पुरुष पेन्सिलको नही छील रहा, वह तो अपने शरीरमे अपना श्रम कर रहा है। उसका कर्म पेन्सिल छीलना नही है किन्तु अपने शरीरकी चेष्टा बनाना है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा तो सर्वत्र कर्ता व कर्म एक है वही।

आत्माकी विशुद्ध प्रत्यक्षगम्यता ज्ञानके कामकी बात तो इससे भी गहरी है। जैसे दीपक ऐसा स्वरूप रखता है कि दूसरे पदार्थको भी प्रकाशित कर देता है और खुदको भी प्रकाशित करता है। उसमे कोई बाधा नजर आती है क्या ? ऐसी ही ज्ञानस्वरूप आत्माकी बात है। आत्मा प्रत्यक्ष है, कोई किसी रूपसे अपनेको जानता, मैं सुखी हूँ मैं दुखी हूँ मैं इच्छावान हूँ आदिक रूपसे जिसने अह अहकी बात उठायी वही तो मैं आत्मा हू वह आत्मा आधार है, उससे ही ज्ञान उत्पन्न होता रहता है। ज्ञान शरीरकी करामात नही है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इकट्ठे हो जायें और उससे ज्ञानकी उत्पत्ति हो सो बात नही है। ज्ञान शरीरसे विलक्षण धर्म है।

अनुमानसे भी आत्माकी सिद्धि – अनुमानसे भी आत्माकी सिद्धि होती है, देखिये करण आँख आदिक किसी कर्ताके द्वारा प्रयुक्त होते हैं क्योंकि करण होनेसे। करणका अर्थ है जिसके द्वारा काम किया जाय। जैसे देवदत्त कुल्हाडीसे काठको काटता है यह वाक्य बोला गया तो इसमे कर्ता है देवदत्त और क्रिया है काटना और काठ है कर्म और कुल्हाडीसे काटता है वह है करण। तो जो करण होता है वह स्वय काम नही कर लेता। जैसे मैं चाकूसे पेन्सिल बनाता हूँ तो इसमें करण हुआ चाकू जिसके द्वारा क्रियाकी जाय उसे करण कहते हैं। चाकू स्वय ही पेन्सिलको न बनायेगा, वह किसी कर्ताकी अपेक्षा रखेगा तब कार्य कर सकेगा। इसी प्रकार ये इन्द्रिया हैं—ये करणकी तरह हैं। साधन हैं। जैसे चाकूसे पेन्सिल छीली जाती है ऐसे ही इन्द्रियसे पदार्थ जाने जाते हैं। तो इन्द्रिया हुई करण और कर्ता द्वारा प्रयोज्य होता है। स्वय नही करने लगता। तो जो भी कर्ता होगा इन इन्द्रियोका प्रयोग करने वाला उस ही का नाम आत्मा है। यहाँ अनुमानसे आत्मतत्त्वकी सिद्धि की जा रही है। ये इन्द्रियाँ जिनके द्वारा हम जाना करते हैं ये आत्माके द्वारा प्रयुक्त हो करके ही जानने वाली बनती है क्योंकि ये करण है।

इन्द्रियोके करणत्वकी सिद्धिसे ज्ञानके कर्ता आत्माकी सिद्धि—इन्द्रिया

हम आपके ज्ञानके करण हैं, जाननेके साधन हैं यह बात असिद्ध नही है। उसकी मिद्धि करने वाला भी अनुमान सुनो। रूप, रस, गध, स्पर्श और शब्द इनका जो परिज्ञान होता है, इनकी उपलब्धि करण द्वारा की जाती है, क्योंकि उपलब्धि क्या है ? जैसे पेन्सिलके छीलनेमे छीलना चूँकि क्रिया है अतएव किसी न किसी साधनके द्वारा बनेगा ऐसे ही यह चू कि इन पदार्थोंका ज्ञान है, उपलब्धि है वह किसी करण द्वारा बनेगा और वह करण है इन्द्रिया आत्मा इन इन्द्रियोका साधन लेकर पदार्थोंको जानता रहता है। वह आत्मा ज्ञानस्वरूप है और इन समस्त दृश्यमान पदार्थोंसे विलक्षण है, न्यारा है, आत्माका अनुभव करे।

आत्माके आधारपर आत्माका प्रतिषेध करने वाला दर्शन - देखिये ! यह भी एक दर्शन है चारुवाकका कि आत्मा नही मानते, परमात्मा नही मानते, यह भी कोई दर्शन है क्या ? कहते हैं दर्शनका रूप, क्योंकि दर्शन तो है असक्तमे वह जो आत्माका, परमात्माका, वस्तुका स्वरूप सिद्ध करे। और उनके विरुद्ध मे खडा हो तो यह भी दर्शन कहलाने लगे। जैसे एक बात लोकसम्मत है कि मन्दिर तीर्थ आदिक धर्मस्थान माने बिना धर्मकी परम्परा नही चल सकती। जो धर्म जीवित हैं—जैनधर्म हिन्दूधर्म आदिक वे आज तीर्थस्थानकी वजहसे जीवित हैं। तो धर्मकी परम्परा, तीर्थ की प्रवृत्ति मन्दिर और तीर्थस्थानके कारण चल रही है। लेकिन कुछ मजहब ऐसे हैं जो मन्दिर, मूर्ति, तीर्थस्थान आदिकका निषेध करते है। वे धर्म (मजहब) कैसे चल रहे हैं सो बतावो ? वे मन्दिर, तीर्थस्थान, मूर्ति आदिकका विरोध करके चल रहे है, आश्रय उन्हें भी लेना पडा। मन्दिर और तीर्थधाम न होते तो न मन्दिर माननेवालो का धर्म प्रगट रहेगा और न मन्दिरका निषेध करने वालोका धर्म रहेगा। तो यो ही चारुवाक लोग भी दार्शनिक कहलाने लगे। जो आत्मा, परमात्मा, भगवान, परलोक आदिक न मानें वे भी दर्शन हो गए, क्योंकि दार्शनिकोका विरोध कर रहे है।

नास्तिक्यके आशयको अविचारित रम्यता—यद्यपि मोटे रूपसे नास्तिक लोगोकी सूझ अच्छी लग रही है कि आत्माका भ्रम क्यो करते हो ? कौन देख आया कि आगे आत्मा रहेगा या न रहेगा ! उसका भ्रम बनाकर वर्तमानका जीवन भी धर्म करनेके भ्रममे दुखी बना रहे हो। खूब मौज उडावो ! देखो सारी बाते कितनी भली सी लगती है और इसी तरहके सस्कार जीवोमे चले आ रहे हैं। लेकिन विवेक की बात नही है, कुछ अपनी बुद्धि सूक्ष्मतासे प्रयुक्त तो करना चाहिए क्या है मामला? जिसमे सुख–दुख वेदनाके अनुभव हो रहे हैं वह आधार है क्या ? कोई यदि इन सुख–दुखोके आधारको जाननेके लिए वास्तवमे उत्सुक हो जाय तो उसे आधार प्रतीत हो जायगा। केवल लगनभर चाहिए। अभी तक लगन नही हुई है कि हम अपने आपको जान तो लें। और उसका उपयोग बनाकर आनन्द लें। उत्सुकता जगने का अर्थ यह है कि उनके अलावा और बाते सुहायें नही। जिसकी उत्सुकता है वही

नजरमे रहे। हम अपने आत्माको जाननेमे उत्सुक नही हुए, इसीसे बाह्य पदार्थोंके लिए भटकते फिरते हैं।

वस्तुस्वरूपके अनुरूप विचारसे ही सकटका प्रक्षय— जब ऐसा विचार बने कि मेरे आत्माका इस जगतमे कुछ शरण नही है किसका मैं शरण गहूँ कि मेरा समस्त जीवन निराकुल रह जाय ! मेरे माता-पिता कोई मेरी शरण नही है। यह तो भ्रम बना रखा है कि मैं अमुकको पालता पोषता हूँ, सुखी करता हूँ। अरे, उसका ही उदय अनुकूल है तो दूसरोका उसकी तरफ ध्यान रखना पडता है। यहाँ किसीका किसीपर अधिकार नही है। चूँकि यहाँ जीवोका सङ्ग जुडा है और सभी जीव अपनी अपनी शान्ति चाहते हैं तो एक दूसरेके निमित्त बन जाते हैं, पर अधिकार किसीका किसी व्यक्तिपर नही है। कैसे हो अधिकार ? सभी जीव स्वतत्र स्वतत्र है, परिणमन स्वतन्त्र है। हमारा उत्पाद व्यय ध्रौव्य धर्म किसी अन्य पदार्थमे तो नही पहुँच सकता। त्रिकाल भी। कोई कितना ही पुण्यवान् हो, किसीमे भी यह सामर्थ्य नही है कि अपना उत्पाद व्यय ध्रौव्य परिणमन कुछ भी दूसरेमे चला सके। फिर अधिकार क्या? इसी प्रकार मुझपर भी किसी दूसरेका अधिकार नही है। हम भली प्रकार रहते हैं तो हम दुखसे दूर रह सकते है हम ही भली प्रकार न रहें, विपरीत चलें तो हम अपनी करतूतसे दुखी हो जायेगे। किसी भी जीवपर किसी दूसरेका अधिकार नही है। मेरा इस लोकमे कोई शरण नही है यह निर्णय तो हृदयमे बैठना चाहिए। इतना भी निर्णय न हो तब तो धर्मका कोई पग ही नही उठ सकता। जब हम अपना उपयोग पराधीनताका बनाए हुए है और स्वाधीनताकी दृष्टिका धर्म हम प्राप्त करना चाहते है तो ये दोनो बाते कैसे सम्भव हैं ?

स्वपरिचयके उत्सुकको स्वपरिचयका लाभ—जिसको वास्तवमे अपने आपके परिज्ञान करनेकी उत्सुकता जगी हो उसे अपने आपका परिज्ञान अवश्य होगा। जब हम दाहिनी तरफ मुख मोडकर घडी देख सकते हैं, इच्छा हुई लो समय जान लिया, उसमे कोई विलम्ब लगा क्या ? तो हम अपने अन्तर मुड करके अपने आपका परिचय न पायें यह कैसे होगा ? पर मुडे तो सही ? तीव्र उत्सुकता जगे, ससारकी असारताको चित्तमे खूब भरले यहाँ कही सारकी बात नही, थोडे समयके लिए इस मायामयी दुनियामे मायामयी पुरुषोमे अपनी इज्जत अपना नाम अपना बडप्पन जो स्वय मायामय है, झूठे हैं, झूठमे झूठने झूठकी शान रखली तो उससे क्या पूरा पडनेका आगामी कालमे भी तो लाभ नही है, मूढता है, मूर्खता है, जो परकी ओर आकर्षण होता है जो पर असार हैं, मायारूप हैं हमारे मालिक नही है उन परकी ओर आकर्षण बना है इसे मूढता ही तो कहा जायगा यदि ससारकी असारता चित्तमे बसी हो तो शान्तिकी पात्रता आ सकती है और जब असार ही सार रूपसे मनमे बना है तो शान्तिकी ओर पग नही हो सकता।

समागमके वियोगके प्रकारोका आयोजनपर एक दृष्टान्त— देखिये भैया ! ये सारे पदार्थ छूटेंगे, पर उन्हे छोडे किस तरह, उन छोडनेकी विधियोका ही सारा अतर आ जाता है। एक छोटी सी कहानी सी है कि कोई भगिन मलभरा टोकरा लिये जा रही थी, किसी व्यक्तिने उस टोकरेपर कोई साफ तौलिया ढाकनेके लिये दे दिया इसलिये कि किसीको कष्ट न हो। टोकरेको देखकर तीन व्यक्ति उस महिलाके पीछे लग गये। सोचा कि इस टोकरेमे कोई अच्छी चीज होगी। भगिन बोली— भाई क्यो हमारे पीछे लगे हो। इस टोकरेमे तो मल भरा है। इतनी बात सुनकर उनमेसे एक लौट गया। दो व्यक्ति अभी पीछे लगे रहे। भगिनने कहा —भाई क्यो पीछे लगे हो ? इस टोकरेमे तो मल भरा है। तो उन्होने कहा कि हम ऐसे नही मानेंगे हमे तो दिखा दो। भगिनने तौलिया उघाडकर दिखा दिया तो उन दो मेसे एक वापिस हो गया। एक व्यक्ति अभी भी पीछे लगा रहा। भगिनने फिर कहा कि भाई इस टोकनेमे मल भरा है, तुम क्यो पीछे लगे हो ? तो उस व्यक्तिने कहा कि हम तो ऐसे नही मानेगे। हमे तो अच्छी तरह दिखा दो, जब सूँघ-साँघकर भली प्रकार जान जायेंगे तब लौटेंगे। भगिनने तौलिया उघाड दिया। जब खूब सूँघ साँघ-कर परख करली तब वह लौटे।

समागमके वियोगोके प्रकारोके आयोजक—ऐसे ही तीन तरहके जीव यहा भी हैं। कुछ तो ससारकी असारता समझकर शीघ्र ही ससारसे मुख मोड लेते हैं, कुछ लोग ऐसे होते है कि ससारके भोघ विषयोमे कुछ पडते है उसमे परिणति करते है और उन विषयोका कुछ मौज देखकर ससारसे मुख मोड लेते हैं और कुछ लोग ऐसे होते है कि जिनके चित्तमे विषयोकी असारता जम नही पाती। वे सांसारिक विषय साधनोमे खूब लिप्त रहा करते है, जरा-जरा सी बातोमे उनका चित्त विचलित हो जाता है। कभी कोई विपत्ति आ जाय, १०–५ हजारका नुकसान हो जाय तो वे यो अनुभव करते कि जैसे हम खुद लुट गए हो। यह हिम्मत नही रहती कि मैं तो परिपूर्ण ज्ञानमात्र वहीका वही हूँ। मुझमे न कुछ आया, न कुछ गया। मैं अपने आप मे स्वय परिपूर्ण हूँ, ऐसा बोध नही कर पाता और अधीर हो जाता है, जघडा जाता है, अनहोनी मानता है। दूसरोपर कोई विपत्ति घटे तो उसे समझाता है कि भाई ! होनी अमिट है, ऐसा होना ही था सा हुआ, पर अपने बारेमे ऐसा नही सोच पाता। यह तो अनहोनी हो गई। तो जब तक इन बाह्य पदार्थोंकी असारता विदित न हो तब तक आत्मामे परिचयकी उत्सुकता नही हो सकती । यह हाल तो इन चारुवाक लोगोका है। इनकी विषयोसे वृत्ति नही हटी, अतएव इनका सिद्धान्त बन गया आत्मा कोइ चीज नही है, यह शरीर ही है इसमे ज्ञानकी बिजली उत्पन्न हुई है, जब यह शरीर शान्त हो जायगा, पृथ्वीके अणु पृथ्वीमे मिल जायेंगे, जलके अणु जलमे, अग्नि के अणु अग्निमे और वायुके अणु वायुमे मिल जायेंगे तब ज्ञानशक्ति भी न रहेगी। यह

सब इस ही आशयका तो परिणाम है कि विषयोकी असारता अहितता उनकी समझ मे नही आयी।

विषयाभिलाष और मायाचारमे धर्मकी विरूपता—कुछ लोग ऐसे भी हुए दार्शनिक कि लोकमे तो धर्मात्मा बनना चाहिए पर मास खाना आदिक जैसे कुकर्मोंकी वाञ्छा रही तो वहाँ धर्मके नामपर यज्ञ रच दिया। बडा हवनकुण्ड खोदा, बडी सामग्री जोडी, बुलावा दिया, बडा पूजन-विधानका नाटक बनाया, उसमे घी भी डाला और भी बहुतसे सुगन्धित पदार्थ डाले और उसीमे किसी पशुको होम दिया ताकि पक जाय। उसका फिर प्रसादरूप समझकर मास खाते हैं। तो लोकमे धर्मात्मा कहलाये और अपने विषयोका पोषण भी किया। ये सभी बातें इस ही आधारपर है कि वास्तविक मायनेमें आपके जाननेकी और धर्म करनेकी उत्सुकता नही बनी। उत्सुकता तो विषय भोगनेकी ही रही। फिर आत्माका परिचय कैसे बने ?

आत्मपरिचयसे नरभवलाभकी सार्थकता - यदि विषयोकी असारता ज्ञात हो और हितरूप क्या है ? ऐसी अपने आपमे जाननेकी उत्सुकता हो तो आनन्द धाम निजपरमात्मतत्त्वका परिचय अवश्य होगा। भैया ! जीवन असार है क्षणिक है इसमे करनेका काम है कि हम अपने आपको पहिचान ले और अपने आपमे मग्न हो सकनेका कोई प्रसन्न करलें। यह काम यदि कर लिया तो मनुष्य होना सार्थक है और यह बात यदि न बनी तो सब जीवोकी ही भाति समय ही गवा दिया ऐसे ही समझना चाहिए।

आत्म सिद्धिका प्रकरण—अपने आपका पता लग जाना कि मैं क्या हूँ इस ही पतेके होनेके बाद फिर धर्मकर्तव्य निभाया जा सकता है अतएव धर्म पालनके लिये सर्वप्रथम मूलभूत अपने आत्माका परिचय चाहिए। मैं आत्मा क्या हूँ और मुझे क्या करना है ये सब बातें तब ही तो बनेगी जब अपने स्वरूपका स्पष्ट ज्ञान हो जाय। इस के विरोधमें मनुष्यको छोडकर विरले सज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवोको छोडकर सारा ससार इसके विरोधमें है और कुछ दार्शनिक लोग भी जो दर्शनका रूप देकर इस बातको भी कहने लगे हैं कि आत्मा नामक वस्तु कुछ भी नही है। शरीरका निषेध तो किया नही जा सकता क्योकि वह तो आखोके सामने है। तब इस शरीरका ही धर्म ज्ञान ज्ञान वाला पदार्थ कोई शरीरसे अलग नही है ऐसा सिद्धान्त बनाया जो सुननेमे सभी को रुचिकर लगता है क्योकि इसमें विषय सुखके परिहारकी कल्पना नही करनी पडती इस प्रसगमे आत्माकी ही सिद्धि की जा रही है कि ज्ञानका आधारभूत अमूर्त कोई आत्मतत्त्व है। देखिये भैया शब्द आदिकका जो ज्ञान होता है अमुक भाईने यो कहा— इस प्रकारका जो ज्ञान होता है वह ज्ञान गुण है कि नही ? गुण है। तो जितने भी गुण होते हैं वे किसी पदार्थके आश्रयमें ही हुआ करते हैं, निराश्रयमे गुण नहीं होता। जितने भी गुण होते हैं वे द्रव्यके आश्रयसे होते हैं। अनेक ज्ञान होते रहते हैं, ये सब

ज्ञान जिसके आश्रयमे है वही एक पदार्थ आत्मा कहलाता है। जैसे ये नीले पीले हरे आदिक रूप गुण है कि नही ? गुण हैं। तो इसके आश्रयभूत है ना ये भौतिक पदार्थ कितने भी गुण हो उसके आश्रयभूत पदार्थ होते हैं। ज्ञान गुण है, उनका आश्रयभूत पदार्थ आत्मा है।

ज्ञानको शरीर, इन्द्रिय, विषय और मनका गुण माननेका पक्ष— आत्मससिद्धिके विरोधी चारुवाक अपना मन्तव्य रख रहे हैं कि ज्ञान गुण तो जरूर है पर वह आत्माका गुण नही हैं, शरीरका गुण है, इन्द्रियका गुण है, मनका गुण है और विषयका गुण है। शरीर, इन्द्रिय, मन और विषय इनको छोड़कर अन्य कोई आश्रय ज्ञानका नही है जिससे कि तुम आत्माकी सिद्धि कर सको। इस प्रश्नपर विचार किया जा रहा है और विवरण पूर्वक निराकरण किया जायगा कि ज्ञान शरीर आदिका गुण नही है क्योकि शरीर तो भूतका विकार है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका विकार है। देखिये ! जो बात कही जा रही है तो इनके मन्तव्यका खण्डन किया जा रहा है वे जो जो कुछ मानते हो उनकी ही बात कहकर खण्डन किया जाता है, हम अपनी सीधी बात रखकर खण्डन करे तो वे मानेंगे थोडे ही। शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुका विकार बताते हैं, लेकिन जैन शासनमे जो ६ काय कहे गये हैं आप उसमे यह मर्म पायेंगे कि क्यो ये ६ भेद किये गए ? पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय ये ६ कार्य परस्परमे भिन्न है। चारुवाक लोग त्रसकायको भी पृथ्वी जल, अग्नि वायुका सयोग मानते है लेकिन इन छहो कायोंमे परस्पर भेद है। पृथ्वी स्वय पृथ्वी मात्र है। इसी तरह जल अग्नि वगैरह अपने अपने स्वरूपमे है। यह शरीर त्रसकाय यद्यपि पिंडोलासा है पर पिण्ड हो जानेके कारण वह पृथ्वी कहलाये यह बात युक्तिमे नही बैठती, क्योकि पृथ्वीके धर्मसे त्रसकायका धर्म जुदा है। पर यहाँ चूंकि चारुवाकका ही निराकरण करते जा रहे है सो उसीके मतव्यमे सब कुछ कह रहे हैं।

ज्ञानको शरीरका गुण माननेका प्रतिषेध— शरीर पृथ्वी आदिक अचेतन चार तत्त्वोंका विकार है अतएव उसका गुण चैतन्य नही हो सकता। जैसे ये घट पट वगैरह पृथ्वी आदिके विकार हैं तो इनमे चैतन्य गुण नही है और फिर स्पष्ट है। जो जिसका गुण होता है वह उसके हटनेपर हट जाता है। जैसे अग्निका गुण गर्मी है तो अग्निके मिटनेपर गर्मी भी मिट जाती है लेकिन शरीर तो रहता है और चैतन्य हट जाता है। जैसी कि मरने वालेकी स्थिति होती है। यदि चैतन्य गुण शरीरका होता तो चैतन्यके साथ शरीर चला जाता या शरीरके साथ चैतन्य बना ही रहता, पर शरीर यही रह जाता है और चैतन्य अलग हो जाता है। तो चैतन्य चूंकि शरीरसे हट जाता है अतः शरीरका गुण नही है। जो शरीरके विशेष गुण नही है वे उसके होनेपर दूर हो जाते है और जो शरीरके गुण हैं वे बराबर रहते हैं। तो चैतन्य चूंकि

शरीरसे छूट जाता अत शरीरका गुण नही है।

शरीरके भान विना अहं प्रत्ययके बोधसे आत्माकी अनुभूति--आत्मा बातको मुख्यतया इस पद्धतिसे देखना चाहिए कि जिसमे अहं अहंका बोध होता है बस वही आत्मा है और उसके आधारसे ही ज्ञान चलता है। जब खूब गहन अधकार होता है अपने शरीरका कोई भी अग नही दिखता उस समयमे अहं अहंके रूपसे अपने आप का ज्ञान तो होता रहता है पर शरीर कहाँ है, कहा पडा है यह उसे स्पष्ट नही हो पाता। हालाकि उसमे फसा है, जानता है, पर जैसा अब इस समय प्रकाशमें बोध हो रहा है वैसा नहीं होता। तो अहं प्रत्ययके द्वारा अर्थात् मैं सुखी हूँ दुखी हूँ इच्छावान हूँ आदिक रूपमे जो इसका बोध चलता है वह ज्ञान आत्माके आधारमे होता है। और, यह मैं आत्मा सदा रहने वाला हूं इतनी बात चित्तमे आये तो इसे यह इच्छा होगी कि मैं इस तरहसे रहूँ। अपने अन्दरमे इस प्रकारकी परिणति बनाऊँ कि इस कालमे भी शान्त रहूँ और भविष्यमे भी सदाके लिये सकट छूट जायें। आत्माका जिस प्रकार भान बन सके उस तरह परिचय कर लेना यह बहुत बडा कार्य है। अपने आपको सदाके लिये सकटोसे दूर कर लेनेका पुरुषार्थ है।

शान्तिके अर्थ आत्मोन्मुखताकी आवश्यकता--भैया! हम आप सभी जन जितनी भी चेष्टा करते हैं, शरीरका परिश्रम करते है, धनसचय, धनखर्च जितने भी काम करते हैं, वे सब शान्तिके लिये करते है, किन्तु शान्ति प्राप्त न हो सकी। इसका कारण यह है कि जो शान्त रहना चाहता है उसका स्वय शान्त स्वभाव है। उसे बाहरमे कोई श्रम आकर्षण करनेकी जरूरत नही है। इस मर्मका पता नही है तो अपने आपके आधारको तजकर बाहरमे मुख करके यह ज्ञान दौड रहा है। इस कारण उसे शान्ति नही प्राप्त होती। आत्माका भान हो और अपने निकट बने रहनेका अभ्यास बने तो फिर धन हो अथवा न हो, कैसी भी स्थिति हो पर उसे अप्रसन्नता नही हो सकती। और, जिसे अपने आपके प्रभुका परिचय न हो उसके पास कितना ही धन हो, कितनी ही इज्जत हो, पर उसे शान्ति नही प्राप्त हो सकती। कही कुछ हो उसकी उपेक्षा करके किसी न किसी प्रकार भान तो कर लें कि यह मैं हूँ। इस ज्ञानमे सारे चमत्कार भरे पडे हुए हैं, केवल भीतरमे ज्ञानकी दिशाभर बदलनेका काम पडा हुआ है। यदि आत्म-उन्मुखता हो सके इतना उपयोग और ऐसा ही अभ्यास बन सके तो जब चाहे ऐसा अनुभव कर सकते कि यह मैं देहमे भी न्यारा ज्ञानमात्र हूँ।

प्रभुके आनन्दमय होनेकी विशेषताका महत्त्व--जानन वृत्तिमे ज्ञानके विशुद्ध कामके होनेपर आकुलताका कोई काम रहता ही नही, क्योंकि ज्ञानस्वरूप ज्ञानीके जाननेपर इष्ट अनिष्टकी बुद्धि नहीं हुआ करती। साम्यभाव जगता है, यही शान्तिका मार्ग है, यही कार्य जिसने किया और इस परम पुरुषार्थके प्रसादसे जो

किया करते है। उनसे मेरा क्या विगाड है ? किसपर क्रोध करें, उसका क्रोध स्वय शिथिल हो जाता है। इस अमूर्त ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वका बोध होनेपर मान कहाँ जगेगा। क्या मान करना ? यह ता बडा कोमल अमूर्त ज्ञान स्वरूप आनन्दमय मैं आत्मा हूँ। इसका सुख दुःख जीवन मरण सब कुछ इसके परिणामोपर निभर हैं। दूसरोका क्या जतना कि हम कुछ धनिक, ज्ञानी, इज्जतवान हैं। यहाँ कोई किसीका अधिकारी न था, न है, न हो सकेगा। किसको बताना है ? और बताया जानेपर भी हम अपना स्वरूप अपनी महिमा अपना स्वभाव बता ही नही सकते और दूसरे कोई जान भी नही सकते। कदाचित् कोई ज्ञानी हो और वह जान भी जाय चैतन्तस्वरूप और उसकी महिमा तो वह अपने आपका सब कुछ बन गया। उसकी दृष्टिसे व्यक्तिगत रूपसे मेरा "मैं" नही आ पाया, उस तो तो परम विशुद्ध चिद्ब्रह्म अनुभवमे आया। किसे क्या बताना कि मैं क्या हूँ। जो आत्मज्ञानी पुरुष है उसके मान कषाय नहीं ठहर पाती।

तत्त्वज्ञानसे माया, लोभका प्रक्षय --मायाचारका करना क्या है। जब विषय साधनोमे प्रीति नही रही, उनमे हितका भाव नही रहा तो किसी भी भौतिक पदार्थका जिस किसी भी प्रकार सचय करले यह बात मनमे नही आती, फिर माया-चारका काम क्या ? कपट तो तब किया जाता है जब कुछ सासारिक वस्तुवोके जोडने का भाव हो और उसके लिये ही अपनी कमर कसी हो। आत्मज्ञानी पुरुष मायाचार क्या करेगा ? और लोभ कषाय भी उसके क्या ? सारा वैभव उस आत्मज्ञानीकी दृष्टिमे छूटा ही हुआ है और कुछ मिल भी जाय वैभव तो उसके त्यागनेमे उसे विलम्ब नही लगता। यो जो आत्मपरिचयी पुरुष है वह ही यथार्थमे धर्मपालन कर सकता है, अज्ञान न होना, राग-द्वेष न होना, क्रोध, मान माया, लोभ कषायें न करना यही तो धर्मपालन है। यह सब आत्मज्ञानपर निर्भर है। आत्मा वास्तविक पदार्थ है, ज्ञान विज्ञानका आश्रयभूत है, वह शरीरका गुण नही है।

ज्ञानको इन्द्रियका गुण माननेका प्रतिषेध —ज्ञान इन्द्रियका भी गुण नही है क्योंकि इन्द्रिय तो करणभूत हैं, साधन है। जैसे मैं चाकूसे पेन्सिल छीलता हूँ तो यहाँ चाकू करणभूत है, कर्ता नही है, क्रियामे स्वतन्त्र नही हैं, ऐसे ही इन्द्रियाँ ज्ञानके काममे करणभूत हैं, स्वतन्त्र कर्ता नही हैं। दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय भूतविकार है, पृथ्वी आदिक तत्त्वका विकार है अतएव इन्द्रियाँ भी चैतन्य गुण वाली नहीं हैं। चैतन्य गुण वाला तो आत्मा है। यदि चैतन्य इन्द्रियका गुण मान जाये तो इन्द्रियका विनाश होनेपर फिर चैतन्यकी प्रतीति भी न रहना चाहिए। जैसे आँख फूट जाय तो चैतन्य मिट जाना चाहिए क्योकि चैतन्य जिसका गुण है वह मिट गया। गुणीके विनाश होनेपर फिर गुण कहाँ ठहर सकेंगे ? और भी युक्तियोंसे सुनिये ! स्मरण करना, अनेक प्रकारके ज्ञान करना ये सब इन्द्रियके गुण नही हैं क्योकि इन्द्रियके

विनाश होनेपर भी ये स्मरण आदिक तो होते रहते हैं। जिनका विनाश होनेपर भी किसीकी उत्पत्ति होती रहती है तो वह उसका गुण नही है। जैसे कपडेका विनाश होनेपर भी चौकीका रूप, चौकीकी अवस्थाएँ ये उत्पन्न होती रहती है तो चौकीका चौकी रूपसे, कपडेका कपडे रूपसे ही धर्म कहेगे, चौकीकी बातको कपडेका धर्म नही कहेंगे। वे न्यारी–न्यारी बातें हैं। चैतन्य इन्द्रियका गुण नही है क्योकि इन्द्रियके विनाश होनेपर भी स्मरण आदिक होते रहते हैं।

इन्द्रियव्यापारके परिहारमे अन्तस्तत्त्वकी झलक – कभी कभी इस शरीरका भी भान न करके इन्द्रियोको सकोचकर आखोको वन्दकर केवल एक विशुद्ध आत्माके ही ध्यानमे लग जाये तो वह तो अधिक ठीक ही है पर किसी ध्यान मे लग जाय उस कालमे इसे कुछ ज्ञानमयी दुनिया नजर आयगी शरीरका भान न रहेगा। चाहे कल्पनाओके पुलावे वाधे और चाहे विशुद्ध दृष्टि वनाये पर एक भौतिकता न रहेगी, प्रकाश ज्योति परिणतिमे रहती है। तो यह चैतन्य यह ज्ञान आत्माके आश्रय है, शरीरके आश्रय नही है और ज्ञान स्वय अपने आपका जाननहार है और परपदार्थोंका भी प्रकाश करने वाला है, ऐसा ज्ञानरूप अपने आपकी आत्माका परिचय होना धर्मपालनके लिए प्रथम और अत्यन्त आवश्यक है।

ज्ञानको इन्द्रियका गुण माननेसे विडम्वना—शरीरसे अतिरिक्त अन्य कुछ आत्मा नही है ऐसे चारुवाकके सिद्धान्त के प्रति कहा जा रहा है कि आत्मा यदि कोई स्वतत्र पदार्थ नही है तो यह जो ज्ञान होता है यह कैसे उत्पन्न होता है ? इसके उत्तरमे चारुवाकने कहा था कि यह ज्ञान अथवा चैतन्य शरीरका गुण है, इन्द्रियका गुण और विषयोका गुण है मनका गुण है इनका आधारभूत कोई अन्य पदार्थ नही है, इस सम्वन्धमे शरीर का गुण तो आत्मतत्त्व है नही, ज्ञान है नही, इसे सिद्ध किया गया था, और अव यह प्रसग चल रहा है कि चैतन्य इन्द्रियका गुण नही है यदि जानकारी इन्द्रियका गुण हो जाय तो इसका अर्थ है कि जानकारीको करने वाली इन्द्रिय हैं। तव इन्द्रिया कर्ता हो गयी क्योकि उनका धर्म है ज्ञान। तो किसी क्रियामे कारण करण जरूर होता है जब इन्द्रियोने जाना तो उस जाननेके लिए अन्य इन्द्रिया होना चाहिए यदि अन्य इन्द्रिया मानोगे तो उसके लिए भी अन्य इन्दिया हो, इस तरह एक शरीरमे कितने ही चैतन्य वन जायगे। जितनी इन्द्रिया होगी वे सब एक एक चैतन्य वन उठेंगे, और ऐसा होने पर जैसे किसी देवदत्त ने कोई वात जानी तो यज्ञदत्तको अर्थात् अन्य पुरुषको यह प्रतिसधान नही वनता कि उसने जो जाना वह यह है। यो ही जव आँखो से देखा और फिर अभी कर्ण द्वारा सुना तो कर्ण द्वारा यह जुडाव न वनेगा कि देखो मैं वही सुन रहा हूँ जो कुछ मैंने देखा था क्योकि जुदा इन्द्रियाँ हैं। उनका गुण चैतन्य माना हे यो सब चैतन्य भिन्न-भिन्न तत्त्व हो गये। इससे यह वात नही है कि ज्ञान इन्द्रियका गुण है।

ज्ञानके इन्द्रियगुणत्वका खण्डन --यदि कहो एक ही इन्द्रिय समस्त विपयोका अधिनायक बनेगी तो इन्द्रिय कह लो, उसीका नाम आत्मा है। उसमे ज्ञान गुण है और उसकी प्रतिसमय वर्तना होती रहती है। ज्ञानका आश्रयभूत होनेसे ज्ञान की अभिव्यक्ति होती कि स्वतत्र पदार्थ है। शरीर ज्ञानका श्रोत नहीं है यह प्रकरण इस दर्शन शास्त्रमे इसलिये महत्त्वका है कि सर्व कुछ हित आत्माका अस्तित्त्व समझने पर अवलम्बित है, मैं आत्मा हूँ। इस समय मलिन हूँ, इसका स्वभाव मलिन नहीं है ये औपाधिक भाव मिटा कि इसमे शुद्ध स्वभावकी अभिव्यक्ति हो जायगी और यही हितरूप है, निराकुल स्वरूप है। ऐसे आत्महितमे लगता आत्मतत्त्वके ज्ञान बिना नही बन सकता अत आत्माकी प्रतीति सही होना बहुत आवश्यक है। यह ज्ञान इन्द्रियका गुण नही है।

ज्ञानको मनका गुण माननेका प्रतिषेध— अब तीसरी बात जो कहा जा कि चैतन्य मनका गुण है तो जितने समाधान इन्द्रियके गुण बतानेमे कहे गये वे सब इसमे आवेगे। मन यदि चैतन्य गुण वाला हो तो उसके लिये फिर और करणकी आवश्यकता हैं। मन स्वय एक करण है। मन है अन्त करण और इन्द्रिय है बाह्य करण। करण मायने साधन इन्द्रिय। मनका नाम है अनिन्द्रिय। वह गुप्त इन्द्रिय है क्योकि लोगोको प्रकट नही है और ये ५ इन्द्रिया है ये प्रकट इन्द्रिया है, इन्हे बाह्य करण कहते है। तो चूँकि मन स्वय करण है अतएव वह चैतन्यगुण वाला नही बन सकता। ज्ञानका करने वाला करण नही हुआ करता। जैसे देवदत्त कुल्हाडीसे काठ को छेदता है इसमे करण है कुल्हाडी तो कुल्हाडी स्वय छेदन क्रियामे समथ नही है। वह कर्तासे प्रयुक्त होकर ही करण बनता है इसी प्रकार मन भी चैतन्य गुण वाला नही है क्योकि वह करण है। यदि मनको चैतन्य गुण वाला मान ले तो मन कर्ता बन गया और वह फिर दूसरेकी अपेक्षा रखेगा जब आत्मा ही प्रकाशान्तरसे कहा हुआ समझना। वह आत्मा ही है जिसे मन, मन बोला करते हैं।

वस्तुस्वरूपके यथार्थ बोधसे लाभ पदार्थका स्वरूप जैसा है वैसा ज्ञानमे आना चाहिए, नाम उसका चाहे कुछ रखे। जैसे आत्मकल्याणके लिए यह आवश्यक है कि समग्र पदार्थोका स्वरूप यथार्थ जानकारीमे आये। अब इस प्रयोगका नाम धर्म है ना। इनका नाम कुछ भी रखले हिन्दू, वैष्णव, सनातन, जैन आदि कुछ भी कहें पर वस्तुका स्वरूप जैसा आना चाहिए। कितने ही सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे हैं कि जिन्हें जैन नामका भी पता नही और वस्तुका स्वरूप ऐसा उनके प्रतिभासमे है कि उनके सम्यक्त्व है और धर्मसाधना भी है। तिर्यञ्चोमे तो सभी ऐसे हैं जो सज्ञीपञ्चेन्द्रिय हैं ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि हैं उन्हे जैन नामका क्या पता, पर यथार्थस्वरूप अनुभवमे आता है, अपना यथार्थ स्वरूप जैसा सहज भाव है वह ज्ञानमे आये। वे बता नही सकते कि इस सम्यग्दृष्टि पशुमे किस स्वभावका प्रतिभास जगा है किन्तु वह प्रतिभास वैसा

ही है जैसा कि हम आपको अनुभूतिके समय हुआ करता है। वहाँ अन्तर नहीं है अनुभवमे, प्रतीतिमें। तो नाम कुछ भी लो, जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा परिचयमें रहे तो वह धर्मसाधन है, ऐसे ही नाम चाहे मन रख लो, इन्द्रिय रख लो और जैसे अन्य अन्य भाषाओंके नाम जुदे-जुदे रखे हैं ऐसे ही ये भी नाम रख लो, लेकिन यह ज्ञानमें रहना चाहिए कि ज्ञानका आधारभूत, ज्ञानमय ही सजातीय कोई तत्त्व है। ज्ञानमें विजातीय कोई पिण्ड ज्ञानका स्रोत और उत्पादक नहीं है।

ज्ञानको विषयका गुण माननेका पक्ष—और चौथी बात जो कही गयी थी चैतन्य विषयका गुण है, इन्द्रियके द्वारा जो पदार्थ भोगनेमें आते है उन पदार्थोंका नाम है विषय। ज्ञान उन विषयोंका गुण है। कोई यह सोच सकता है कि ऐसे भी कोई दर्शन हैं जो एकदम भोगनेमें आने वाले विषयोंका भी गुण ज्ञानको मान ले ऐसे दर्शन तदुत्पत्ति अर्थात् इन विषयोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है ऐसा मानने वाले दर्शनका तो उससे पहिले ही जिकर हो गया था। ज्ञान विषयसे उत्पन्न होता है जिन पदार्थोंको जानता है ज्ञान उन पदार्थोंमें ज्ञान उत्पन्न हुआ ऐसा मानने वाले भी दर्शन हैं। तो यों ये भौतिकवादी भी अपना प्रस्ताव रख रहे है कि ज्ञान अथवा चैतन्य विषयका गुण हैं स्थूल दृष्टिमे लोग ऐसा प्रयोग भी करते है। जैसे किसी बातपर चर्चा चल उठी कोई कानून पर कि अमुक कानून ऐसा है उसकी धारा क्या है ? तो झट शानसे पुस्तक उठाते हैं और बड़ी शानसे पुस्तकको खोलकर देखते है और कहते हैं कि देखो ना इस पुस्तकमे यह ज्ञान निकला। तो ऐसी दृष्टियां भी तो हैं। ज्ञान विषयका गुण है ऐसा एक प्रश्न रख देनेमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

ज्ञानको विषयका गुण माननेका प्रतिषेध अब आचार्य यहाँ समाधान देते है कि ज्ञान विषयका गुण नहीं हो सकता। यहाँ विषय दो प्रकारोंका है। एक इन्द्रिय द्वारा वे विषय कहलाते और एक ज्ञान जिसको जानता है वे भी विषय कहलाते दोनों प्रकारके विषयोंसे ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। और न उन विषयोंका गुण है ज्ञान, क्योंकि विषयोंके न होनेपर अथवा विषयोंका विनाश होनेपर भी स्मरण आदिक देखे जाते हैं। ज्ञानका अब ऐसा अविनाभाव तो नहीं रहा कि विषय सामने हो तब ज्ञान हो, विषय भोगे जायें तब ज्ञान रहे। विषय नहीं है अथवा वे पहिले नष्ट हो गए तो भी स्मरण आदिक देखे जाते है स्मरण तो ज्ञानका ही नाम है। अब विषयोंका गुण यदि ज्ञानको मानें तो गुणी तो रहे नहीं और गुण बने रहें ऐसा कभी हो सकता है क्या ? किन्तु विषय तो रहे नहीं और ज्ञान बना रहे यह हो तो रहा है। इससे सिद्ध है कि ज्ञान विषयका गुण नहीं है। भौतिक पदार्थका धर्म नहीं है ज्ञान।

ज्ञानके आधारकी अहंप्रत्ययवेचना—इस तरह इन युक्तियोंसे यह निर्णय मानो कि ज्ञान शरीरका धर्म नहीं है, ज्ञान आत्माका धर्म है। आत्मा एक चैतन्यस्वरूप पदार्थ है और वह सद्भूत है, स्वतन्त्र है, उसमें उसका परिणमन चलता है, सभी उन

शरीरसे छूट जाता अत शरीरका गुण नही है।

शरीरके भान विना ग्रह प्रत्ययके वोधसे आत्माकी अनुभूति--आत्मा वातको मुख्यतया इस पद्धतिसे देखना चाहिए कि जिसमे ग्रह ग्रहका वोध होता है बस वही आत्मा है और उसके आधारसे ही ज्ञान चलता है। जब खूब गहन अधकार होता है अपने शरीरका कोई भी अग नही दिखता उस समयमे ग्रह ग्रहके रूपसे अपने आप का ज्ञान तो होता रहता है पर शरीर कहाँ है, कहा पडा है यह उसे स्पष्ट नही हो पाता। हालाकि उसमे फसा है, जानता है पर जैसा अब इस समय प्रकाशमे वोध हो रहा है वैसा नही होता। तो ग्रह प्रत्ययके द्वारा अर्थात् मैं सुखी हूँ दुखी हूँ इच्छावान हूँ आदिक रूपमे जो इसका वोध चलता है वह ज्ञान आत्माके आधारमे ही तो है। और, यह मैं आत्मा सदा रहने वाला हू इतनी वात चित्तमे आये तो इसे यह इच्छा होगी कि मैं इस तरहसे रहूँ। अपने अन्दरमे इस प्रकारकी परिणति वनाऊँ कि इस कालमे भी शान्त रहूँ और भविष्यमे भी सदाके लिये सकट छूट जायें। आत्माका जिस प्रकार भान वन सके उस तरह परिचय कर लेना यह वहुत वडा कार्य है। अपने आपको सदाके लिये सकटोसे दूर कर लेनेका पुरुषार्थ है।

शान्तिके अर्थ आत्मोन्मुखताकी आवश्यकता -- भैया ! हम आप सभी जन जितनी भी चेष्टा करते हैं, शरीरका परिश्रम करते हैं, धनसचय, धनखर्च जितने भी काम करते हैं, वे सव शान्तिके लिये करते हैं, किन्तु शान्ति प्राप्त न हो सकी। इसका कारण यह है कि जो शान्त रहना चाहता है उसका स्वय शान्त स्वभाव है। उसे वाहरमे कोई श्रम आकर्षण करनेकी जरूरत नही है। इस मर्मका पता नही है तो अपने आपके आधारको तजकर वाहरमे मुख करके यह ज्ञान दौड रहा है। इस कारण उसे शान्ति नही प्राप्त होती। आत्माका भान हो और अपने निकट वने रहनेका अभ्यास वने तो फिर धन हो अथवा न हो, कैसी भी स्थिति हो पर उसे अप्रसन्नता नही हो सकती। और, जिसे अपने आपके प्रभुका परिचय न हो उसके पास कितना ही धन हो, कितनी ही इज्जत हो, पर उसे शान्ति नही प्राप्त हो सकती। कही कुछ हो उसकी उपेक्षा करके किसी न किसी प्रकार भान तो कर लें कि यह मैं हूँ। इस ज्ञानमे सारे चमत्कार भरे पडे हुए हैं, केवल भीतरमे ज्ञानकी दिशाभर वदलनेका काम पडा हुआ है। यदि आत्म-उन्मुखता हो सके इतना उपयोग और ऐसा ही अभ्यास वन सके तो जब चाहे ऐसा अनुभव कर सकते कि यह मैं देहसे भी न्यारा ज्ञानमात्र हूँ।

प्रभुके आनन्दमय होनेकी विशेषताका महत्त्व—जानन वृत्तिमे ज्ञानके विशुद्ध कामके होनेपर आकुलताका कोई काम रहता ही नही, क्योकि ज्ञानस्वरूप ज्ञानीके जाननेपर इष्ट अनिष्टकी वुद्धि नही हुआ करती। साम्यभाव जगता है, यही शान्तिका मार्ग है, यही कार्य जिसने किया और इस परम पुरुषार्थके प्रसादसे जो

ही है जैसा कि हम आपको अनुभूतिके समय हुआ करता है। वहाँ अन्तर नही है अनुभवमे, प्रतीतिमे। तो नाम कुछ भी लो, जैसा वस्तुका स्वरूप है वैसा परिचयमे रहे तो वह धर्मसाधन है, ऐसे ही नाम चाहे मन रख लो, इन्द्रिय रख लो और जैसे अन्य अन्य भाषाओके नाम जुदे-जुदे रखे है ऐसे ही ये भी नाम रख लो, लेकिन यह ज्ञानमे रहना चाहिए कि ज्ञानका आधारभूत, ज्ञानमय ही सजातीय कोई तत्त्व है। ज्ञानसे विजातीय कोई पिण्ड ज्ञानका स्रोत और उत्पादक नही है।

ज्ञानको विषयका गुण माननेका पक्ष—और चौथी बात जो कही गयी थी चैतन्य विषयका गुण है, इन्द्रियके द्वारा जो पदार्थ भोगनेमे आते हैं उन पदार्थोंका नाम है-विषय। ज्ञान उन विषयोका गुण है। कोई यह सोच सकता है कि ऐसे भी कोई दर्शन है जो एकदम भोगनेमे आने वाले विषयोका भी गुण ज्ञानको मान ले ऐसे दर्शन तदुत्पत्ति अर्थात् इन विषयोसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है ऐसा मानने वाले दर्शनका तो इससे पहिले ही जिकर हो गया था। ज्ञान विषयसे उत्पन्न होता है जिन पदार्थोंको जानता है ज्ञान उन पदार्थोंसे ज्ञान उत्पन्न हुआ ऐसा मानने वाले भी दर्शन हैं। तो यो ये भौतिकवादी भी अपना प्रस्ताव रख रहे है कि ज्ञान अथवा चैतन्य विषयका गुण है स्थूल दृष्टिसे लोग ऐसा प्रयोग भी करते हैं। जैसे किसी बातपर चर्चा चल उठी कोई कानून पर कि अमुक कानून ऐसा है उसकी धारा क्या है? तो झट शानसे पुस्तक उठाते हैं और बडी शानसे पुस्तकको खोलकर देखते हैं और कहते हैं कि देखो ना इस पुस्तकसे यह ज्ञान निकला। तो ऐसी दृष्टिया भी तो हैं। ज्ञान विषयका गुण है ऐसा एक प्रश्न रख देनेमे कोई आश्चर्यकी बात नही है।

ज्ञानको विषयका गुण माननेका प्रतिषेध अब आचार्य यहाँ समाधान देते है कि ज्ञान विषयका गुण नही हो सकता। यहाँ विषय दो प्रकारोका है। एक इन्द्रिय द्वारा वे विषय कहलाते और एक ज्ञान जिसको जानता है वे भी विषय कहलाते दोनो प्रकारके विषयोसे ज्ञान उत्पन्न नही होता। और न उन विषयोका गुण है ज्ञान, क्योकि विषयोके न होनेपर अथवा विषयोका विनाश होनेपर भी स्मरण आदिक देखे जाते हैं। ज्ञानका अब ऐसा अविनाभाव तो नही रहा कि विषय सामने हो तब ज्ञान हो, विषय भोगे जायें तब ज्ञान रहे। विषय नही है अथवा थे पहिले नष्ट हो गए तो भी स्मरण आदिक देखे जाते है स्मरण तो ज्ञानका ही नाम है। अब विषयोका गुण यदि ज्ञानको मानें तो गुणी तो रहे नही और गुण बने रहे ऐसा कभी हो सकता है क्या? किन्तु विषय तो रहे नही और ज्ञान बना रहे यह हो तो रहा है। इससे सिद्ध है कि ज्ञान विषयका गुण नही है। भौतिक पदार्थका धर्म नही है ज्ञान।

ज्ञानके आधारकी अहप्रत्ययवेद्यता—इस तरह इन युक्तियोसे यह निर्णय मानो कि ज्ञान शरीरका धर्म नही है, ज्ञान आत्माका धर्म है। आत्मा एक चैतन्यस्वरूप पदार्थ है और वह सद्भूत है, स्वतन्त्र है, उसमे उसका परिणमन चलता है, सभी जन

अपने आपमें मैं हूँ, मैं दु खी हूँ इस रूपसे अहका बोध कर रहे हैं । जिसमे अह अह प्रत्यय बनता है मैं हूँ, मैं हूँ जिसमे कहा जा रहा है वह सद्भूत कोई वस्तु है कि नहीं, है । उसीका नाम आत्मा है । जो आत्माको यथार्थ मान सके उस हीका नाम आस्तिक है और जो आत्माका यथार्थ स्वरूप नही मान सकता उसका नाम नास्तिक है ।

आस्तिक और नास्तिकका अर्थ—धर्मके नामपर आस्तिक नास्तिकका अर्थ नही है जैसे कि जो हमारे धर्मको माने सो आस्तिक जो हमारे धर्मको न माने सो नास्तिक । ऐसी बात नही है किन्तु पदार्थ जैसा है वैसा मान ले सो आस्तिक और उसके विपरीत माने सो नास्तिक । अब प्रश्न यह आता कि हर एक लोग कहते हैं कि हम जो कहते हैं वही वस्तु स्वरूप है । तब उसका युक्तियोंसे विश्लेषण होता है और वह विश्लेषण करना एक दर्शन शास्त्र है । द्रव्यानुयोगके दो विभाग हैं—एक दार्शनिक विभाग और एक आध्यात्मिक विभाग । इन दोनोका परस्परमे अविनाभाव बनाना चाहिये एक विशुद्ध जानकारी करनेके लिये कि तत्त्वका स्वरूप क्या है । दर्शन शास्त्र के विना हम किसी वस्तुका यथार्थ अवगम न कर पायेंगे इस कारण इसमें भी हमारा प्रवेश रहना चाहिये ।

ज्ञानकी भूतसे अभिव्यक्ति माननेपर भी ज्ञानकी विविक्तता यहाँ युक्तियो द्वारा आत्माका अस्तित्व सिद्ध किया जा रहा है । जो यह कहा है चारुवाक जनोंने कि क्या है यह चैतन्य शरीर इन्द्रिय विषय और मनका गुण । यही है पृथ्वी आदिक भूत समुदाय, अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इनका जहाँ समागम हुआ तो उससे शरीर, इन्द्रिया, विषय और सज्ञा इनकी अभिव्यक्ति हुई और उनसे फिर चैतन्य की अर्थात् ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है । जैसे कोदो महुवा आदिक कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं कि जिन्हे पीसे जायें, सडाते जायें तो उनसे एक मदिराकी अभिव्यक्ति हो जाती है इसी प्रकार इन पृथ्वी आदिक भूतोसे चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है, ऐसा कहना भी युक्त नही है, क्योकि प्रथम तो यह निरख ले, हुई अभिव्यक्ति, पर जो अभिव्यक्ति हुई है वह तो ज्ञान दर्शन रूप है ना, चैतन्य स्वरूप है ना । इतना तो मानोगे कि कुछ विलक्षण चीज वनी है तो लो अभिव्यक्तिकी बात तो पीछे करेंगे । इतना तो निर्णय हो ही गया कि शरीर विपरीत लक्षण वाला है और चैतन्य विपरीत लक्षण वाला है दोनोकी जाति एक नही है ।

कार्यकी विजातीय पदार्थसे अभिव्यक्तिका अभाव—अब अभिव्यक्तिकी बात सुनो । इसीके समर्थनमे चारुवाक सिद्धान्तमे यह बताया है कि तत्त्व तो ४ हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु । इनका जब मेल बनता है तो शरीर इन्द्रिय, विषय, मन इनकी अभिव्यक्ति होती है और उनसे फिर चैतन्य प्रकट होता है, ऐसा जो तुम्हारा कहना है सो खेदकी बात तो यह है कि ये ही चारुवाकजन जब एक दर्शनका निराकरण कर रहे थे जो कि आकाशसे शब्दकी उत्पत्ति मानते हैं । तो उन्हें यह

दोष दिया था कि आकाश अमूर्त है, शब्द मूर्त है। तो अमूर्तसे मूर्त कैसे प्रकट हो सकता है ? यह बात यहाँ भूल गये, उन्हे यह ध्यान नही रहा कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये तो है अचेतन, अचेतनसे चेतन कैसे बन उठेगा ? जो जिससे विलक्षण धर्म वाला है वह उससे उत्पन्न नही हुआ करता।

सद्रूप चैतन्यकी अभिव्यक्तिमे चैतन्यकी अनाद्यनन्तकी सिद्धि—हे आत्मत्वप्रतिषेधक जनो ! मान लो तुम्हारा ही कहना थोडी देरको मान लिया जाय कि इन चार भूतोसे ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है। तो अभिव्यक्तिका अर्थ है निरावरण होना। जैसे कोई चीज थी और उसपर कोई कपडा पडा हो और कपडा अलग कर दिया जाय तो चीज दिखने लगती, प्रकट हो जाती। इसी प्रकार चैतन्य इस ही भूतमे था। वे मिल गए तो उससे चैतन्य प्रकट हो गया। ऐसा कदाचित् मान लिया जाय तो यह बतलावो कि चैतन्य पहिलेसे था या नहीं था ? या सत् असत् रूप था ? तीनमेसे क्या बात थी ? क्या उन पृथ्वी, जल आदिकमे यह ज्ञान पहिलेसे था ? और वही ज्ञान अब प्रकट हुआ है ? क्या ऐसा है ? अथवा चैतन्य पदार्थ नही था और अब प्रकट हो गया है ? कौन सा विकल्प इष्ट है ? यदि कहे कि चैतन्य पहिलेसे था और अब मिल-जुल जानेपर उसमेसे चैतन्य प्रकट हो गया तो चैतन्य अनादि अनन्त सिद्ध हो जायगा। पहिले था और जो था वह कभी मिटता नही। तो यो चैतन्य अनादि अनन्त हो गया। तब जो ऐसा कहा कि जैसे कुछ पदार्थ मिलकर एक बिजली उत्पन्न कर लेते हैं इसी तरह ये पृथ्वी आदिक मिल जाते है तो वह ज्ञान विद्युत् बनता है। यह बात तो नही रही क्योकि वह ज्ञान और चैतन्य पहिलेसे था। और जब था तो हमेशा ही उसकी अभिव्यक्ति रही किसी न किसी रूपमे। सो यह बात तो तथ्यकी है, पूर्वभवमे ऐसा शरीर बना तो चैतन्य है अब अगले भवमे ऐसा शरीर बना तो चैतन्य है अब अगले भवमे अन्य शरीर बनेगा, वहाँ चैतन्य है तो सत् की अभिव्यक्ति हुई है वह इस दिशामे ठीक है कि हाँ वह सत् है और स्वरूप मात्र है और भिन्न-भिन्न शरीरोमें इसकी प्रकटता होती रहती है। तब फिर परलोकका जो अभाव बतलाते वह भी नही रहा, परलोक भी हो गया।

सद्रूप आत्माके अनिर्णयमे सकटोका बोझ—चारुवाकका तो यह सिद्धान्त है कि परलोक कोई चीज नही। यह ज्ञान भूतोके मेलसे बन गया है तो इस ज्ञानका दु खी क्यो करते ? जैसा मनमे आये वैसे रहो, भोगो, खावो, पियो। कष्ट क्यो देते ? यह उनका मतव्य है, लेकिन आत्मा तो, चैतन्य तो सर्वदा सत् हो गया, तो किसी न किसी पर्यायमे वह सदा रहा है और सदा रहेगा, तो इससे पहिले भी परलोक था और आज जिस भवमे है उससे आगे परलोक होगा हम आत्मा हैं, चैतन्य स्वरूप है, सदा रहने वाले हैं। हम आप सबको दु ख अनिष्ट है कोई भी प्राणी दु खी नहीं चाहता। तब सुख शान्तिका यत्न करना चाहिए यह सबके चित्तमे हैं, पर शान्तिका

उपाय क्या है इसका निर्णय न होनेसे जो मनमे आया उसी उपायको करते है शान्ति पानेके लिये ।

जगतके स्वरूपके यथार्थ निर्णयकी आवश्यकता - देखिये—प्रथम तो मोट रूपमे इस जगतका और शरीरका स्वरूप समझमे रहना चाहिए । यह सारा जगत चार-अचर पदार्थोंका समुदाय चेतन और अचेतन पदार्थोंका यह समुदाय हमसे न्यारा हैं । हम न किसीका कुछ परिणमन कर सकते है न कोई दूसरा पदार्थ मेरा परिणमन करता है । मैं अपने आपमे ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य किया करता हूँ । भले ही परिणमन मे परका निमित्त रहता है, पर परिणमन प्रत्येक पदार्थका अपने आपमे अपनी अकेली वृत्तिसे ही हुआ करता है । तब मेरा शरण कौन है इस दुनियामे ? मैं किसकी शरण पकडू । जिसको दिलमे बसाऊँ किसको अपना कल्याणकारी मानू, जगतमे ऐसा कोई पदार्थ नही है, एक तो यह बात चित्तमे रहना चाहिए अब दूसरी बात सुनिये ।

शरीरके यथार्थ स्वरूपके निर्णयकी आवश्यकता—जिस शरीरसे हमारा सम्बन्ध है, अनुराग बन रहा है वह शरीर भी क्या वस्तु है ? मैं आत्मा एक शाश्वत पदार्थ हूँ और इस शरीरका मूलभूत परमाणु, परमाणु भी शाश्वत पदाथ है । मैं चेतन हूँ, ये समस्त पदार्थ अचेतन हैं और इन अणुवोंका जो कुछ इस शरीर आकार रूप ढाँचा बनता है, यह एक है, मायारूप है, वास्तविक नही है, बिछुड जायगा, और फिर जो कुछ भी मायारूप बना वह भी बडा घिनावनारूप है मैं चौकी दरी आदिक पदार्थ जो स्थावर जीवोके शरीर है वे भी पिण्डरूप हैं, मायारूप है, उनमे मांस मज्जा खून पीप आदिक नही है । जिस शरीरमे बडा अहकार किया जा रहा है वह राध रुधिर मलपूरित थैली है । तो इस अपवित्र शरीरका स्वरूप और इस जगतके मायामयी पदार्थोंका स्वरूप समझमे आये तो चित्तमे ईमानदारीके साथ धर्मपालनकी बात आ सकती है । अन्यथा धर्मपालनके लिये क्रियाएँ भी करते जायें लेकिन मोह न छूटेगा, पर्याय बुद्धि न छूटेगी । ऐसा पक्का निर्णय हो कि यहाँ कोई मेरा शरण नही है, सो मैं सवप्रकार गुप्त रहकर अपने आपमे धर्म साधना करूँगा और सर्व सङ्कटोसे मुक्ति पाऊँगा ऐसी भावना तत्त्वज्ञानीकी बनती है ।

ज्ञानके सर्वथा सत् और सर्वथा असत् का निराकरण—नास्तिक लोग आत्माका अस्तित्व नहीं मानते, उनके सिद्धान्तमे पृथ्वी, जल अग्नि, वायु इन चार भूत पदार्थोंसे चैतन्य के ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती हे । उनसे पूछा जा रहा हे कि इस शरीर-से जो एक ज्ञान बिजलीकी उत्पत्ति माना हे तो वह ज्ञान विद्युत् क्या पहिलेसे सत् था या न था । यदि पहिलेसे सत् था तो वह अनादि अनन्त सिद्ध हो गया यदि वह पहिले-से सत् न था तो इसका अर्थ यह है कि वह नया उत्पन्न हुआ हैफिर व्यक्ति क्यो मानते हो ? जो सर्वथा असत् है, पहिले न था, उसकी न अभिव्यक्ति होती है और न उत्पत्ति होती है, अतएव इस ज्ञानको न तो तुम सर्वथा सत् बता सकते हो, क्योकि सत् बताने

मदिराकी शक्ति तो है और व्याप्ति हुई है किसी प्रयोग विशेषसे। अनेकान्तके माने बिना तो तुम अपना दृष्टान्त भी सिद्ध नही कर सकते। समस्त पदार्थ जगतमे जो कुछ हैं वे द्रव्यदृष्टिमे सत्रूप है और पर्यायदृष्टिसे असत्रूप है। और जब अभिव्यक्ति होती है तो पर्यायदृष्टिसे भी सत् बन जाता है, वह और कुछ नहीं है। जो एक पदार्थ है कुछ भी हो उसकी ही नाना अवस्थाये बनाती चली जाती है। आत्मा स्वतत्र एक पदार्थ है, उस हीमे ये सब बातें बीती जा रही है।

ज्ञानमयताके अनुभवका फल हम ज्ञानमात्र है। सभी लोग अपने आपमें उस-उस प्रकारका अनुभव किये जा रहे हैं, पर यथार्थ रूपमे उसका अनुभव कर लिया जाय तो ससारके समस्त सकट इसके दूर हो सकते हैं। इस जीवने शान्तिके लिये अनेक उद्यम किया। कहाँ कहाँ नही दौडा भागा, क्या क्या इसने परिणतियाँ नहीं की किन्तु एक अपने आपमे जो सुगम और सहज है ऐसी वृत्ति नही बनाया। यथार्थरूपमे जो मैं हूँ उसको उस रूपसे नही अनुभवा। इतनी बात न कर सकनेके कारण यह प्राणी नाना प्रकारके शरीरोमे बँधता चला जा रहा है। कभी पेड हुआ कभी पृथ्वी हुआ, कभी कीट हुआ कभी पशु हुआ, कभी मनुष्य बना, तो जिस भवमे यह जीव पहुचा उस ही भवके साधनोमे, उस ही भवके शरीरमे इसने अपने आपको माना कि यह मैं हूँ। क्या हू अन्तरमे निरखिये और फिर कुछ बाहरमे देखिये सारा यह लोक समूह सारा यह पदार्थस्वरूप इसमे क्या हमारा है। यहाँके धन वैभव इज्जत पोजीशन मेरे कुछ नही है इन बाहरी चीजोको अपनापनकी मान्यता करनेसे ही यह ससारका भटकना बनता चला जा रहा है।

परकी इष्ट अनिष्ट कल्पना ही दुखका हेतु—किसीको इष्ट माना किसी को अनिष्ट माना, इष्ट अनिष्ट बुद्धिसे अपने आपका यह सब कुछ हाल हो रहा है। अरे जितने भी क्लेश होते है वे अपने भावोसे होते हैं, जितने भी आनन्द होते हैं वे अपने भावोसे होते हैं। मूलमे एक यही भूल कर ली कि मेरा सुख दुख आदिक सब घरके इन चार जीवोपर निर्भर है। इसी भूलके कारण इस जीवको बहुतसे क्लेश सहने पड रहे हैं। सभी लोग जानते है कि सिहको और कुत्ताको। कुत्ता बडा उपकारी जानवर है सिहकी अपेक्षा। रोटीके दो टुकडोमे ही वह अपने मालिककी पूरी नौकरी बजाता है। जितनी सेवा एक पहरेदार नही कर सकता है उतनी सेवा कुत्ता करता है। किसी अपरिचित व्यक्तिको वह आने नही देता। अब तो ऐसा भी होने लगा है कि कुत्ते चोरोका भी पता लगा लेते हैं। तो कितना उपकारी जीव है कुत्ता ? और, एक सिह को देखो—वह किसीका कुछ उपकार भी करता है क्या ? वह तो महा अनुपकारी है, दुष्ट है, हिंसक है। लेकिन किसी सभामे किसीको कह दिया जाय कि इन साहबका क्या कहना है, यह बडे उपकारी हैं, यह तो कुत्तेके समान हैं। अरे प्रशसा ही तो की। कुत्ता उपकारी जीव है और उसकी उपमा दी गई है भाई साहबको, पर भाई साहब

भी अच्छा न मानेंगे और सुनने वालोको भी अच्छा न लगेगा। और, अगर यह कह दिया जाय कि अमुक भाई तो सिंहके समान है, तो कहा तो बुरा है जैसा दुष्ट हिंसक निर्दय, अनुपकारी सिंह होता है ऐसे ही यह भाई साहब है। कहा तो यह है पर भाई साहब यह बात सुनकर बडे खुश हो जाते हैं और सुनने वाले लोग भी खुश हो जाते हैं। यह फर्क कैसे आया ? यह फर्क दृष्टिका है।

बहिरात्मा अन्तरात्माके चिन्ह—एक बहिरात्मा और एक अन्तरात्माकी उपमाका सूचक है यह दृष्टान्त। मुकाबलेका कुत्तेकी दृष्टि एक ऐसी बुरी है जिसके कारण उसमे सैंकडो गुण होनेपर भी उन गुणोसे कुत्तेकी कोई प्रशसा नही होती। वह अवगुण क्या है ? लोकव्यवहारमे तो यह कहलो कि वह अपनी जातिके अन्य कुत्तोको देखकर भोकता है हम यहाँ परमार्थकी बात कह रहे हैं—कुत्तेमे एक निमित्त दृष्टिकी मुख्यताका अवगुण है। उसे कोई लाठी मारे तो वह लाठी मारने वालेपर नही हमला करता है, वह तो समझता है कि इस लाठीने मुझे हैरान किया सो वह लाठीको चबाता है किन्तु सिंहमे यह निमित्त दृष्टिकी मुख्यता नही है। वह मारने वाले की बन्दूक लाठी आदिको छोड देता है, सीधे उस मारने वालेपर टूट पडता है। वह जानता है कि मुझे मारने वाला यह मनुष्य है। तो यह अन्तर है ज्ञानका और अज्ञान का। ऐसे ही भीतरकी दृष्टिमे ज्ञानी और अज्ञानीमे अन्तर है। अज्ञानी तो सोचता है कि मुझे तो अमुक भाईने दु खी किया। पर ज्ञानी सोचता है कि कोई भी मुझे दु खी नही बनता, मैं स्वय उस प्रकारका परिणाम बनाकर दु खी हो जाता हू। देखिये एक निमित्त उपादानकी ये सब बातें है पर एक रुचिका फर्क है, शुद्ध दृष्टिका फर्क है। जब कोई बात सिद्ध करे तो वहाँ अनेकान्तसे सभी प्रकारका प्रतिपादन होना चाहिए, किंतु जहाँ एक आत्महितके लिये कोई योग बनाता है वहाँ उपादानकी रुचि और आत्मतत्त्व का अवलोकन और अध्यात्म विवरण मनन ये मुख्य होना चाहिए। मैं आत्मा हूँ, शान्ति चाहता है और शान्तिके लिये हमने नाना प्रकारके उद्यम किया है पर उन सब उद्यमोसे इस आत्माको शान्ति प्राप्त नही हो सकी। सब कुछ इसने किया पर एक कार्य नही किया जो खुद है सही रूपमे उसे मान न सका और शेष अनेक बातें कर डाली पर लाभ नही हुआ।

ज्ञानका आधार मात्र चैतन्य—यह ज्ञान चैतन्य शरीरसे उत्पन्न नही होता किन्तु इसके आधारभूत चैतन्य पदार्थ है। इसके खिलाफ चारुवाक लोग मानते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार तो तत्त्व हैं और उनका समुदाय होनेपर शरीर इन्द्रिय विषय, मन, ये बन जाते हैं। और फिर इनसे चैतन्य ज्ञान उत्पन्न होता है। अच्छा यह बतलावो कि जो ज्ञान उत्पन्न होता है चैतन्य बना है वह चैतन्यके बननेसे ये पदार्थ उपादान कारण हैं या सहकारी कारण हैं ? ज्ञानकी उत्पत्ति होनेमे यह शरीर उपादान कारण है अथवा सहकारी कारण है कोई भी वस्तु उत्पन्न होती है तो

से कपडेकी उत्पत्ति होते देखा है किसीने ? मिट्टीसे मिट्टीकी ही पर्यायोका उत्पाद हुआ करता है। यहाँ यदि यह कहोगे कि ये पुद्गल भी सत् हैं और जीव भी सत् हैं। तो सत्त्वकी दृष्टिसे दोनो एक जातिके हो गए तब फिर शरीरसे जीवकी उत्पत्तिमे क्या विरोध है ? यो केवल सत्त्वकी दृष्टिसे सजातीय मानकर उपादान उपादेय बनानेका यत्न किया तो फिर ये पृथ्वी आदिक चारो भी न रहेंगे। ये भी सब सत् हैं। किसीसे कुछ उत्पन्न हो जाय तो पृथ्वी जल आदिक चार चीजें नही रही। यो तो सारा विश्व एक कल्पनामात्र रह जायगा। शरीर न्यारा है, जीव न्यारा है ऐसा ही निर्णय रखना चाहिए। देखिए ! कैसी कैसी कुयोनियोमे जन्म ले लेकर आज इस हितकारी मनुष्य पर्यायमें आये हैं और जहाँ जैन शासनका धर्मका, धर्मात्माओका सम्बन्ध भी मिला हुआ है ऐसे इन पवित्र क्षणोको नास्तिकतामे ही बिताया जाय, कषायोकी पूर्तिमे ही कल्पनाओ कल्पनाओमे ही समय गवा दिया तो इससे और अधिक अनर्थकी बात क्या होगी ?

आत्मामे ज्ञानके सर्वथा अभावको असिद्धि अपने आत्माको निरखो और उस रूपमे निरखिये कि यह आत्मा एक चैतन्यप्रकाशमात्र है। आत्माकी सिद्धिमे और भी सुनिये। प्राणीका यह आद्य चैतन्यके उपादान पूर्वक होता है क्योकि चैतन्य की पर्याय है। यहाँ यो समझिये कि जिस जन्मके बाद जो हमारा जिन्दगी भर ज्ञान चलता रहता है वह ज्ञान-ज्ञानपूर्वक चल रहा है। इस ज्ञानसे पहिले क्या ? उससे पहिले भी ज्ञान। तो जहाँ हमारे जीवनके ये सारे ज्ञान ये सब चैतन्यकी परिणतियाँ चैतन्यकी परिणतियाँ पूर्वक चल रही हैं तो ऐसे ही यह समझना कि इस जन्ममे सब से पहिली बात जो चैतन्य हुआ अर्थात् जन्म समयमे जो चेतना आयी है वह चेतना भी चैतन्य ही पूर्वक है। जैसे कि हमारे जीवनके और चैतन्य उसके पहिले चैतन्यपूर्वक है इसी प्रकार वह पहिले भी चैतन्य पहिले चैतन्यपूर्वक है अर्थात् पूर्वभवमे भी यह चैतन्य था, उस चैतन्यका ही यहाँ अवतार हुआ है। इससे पूर्वभवकी सिद्धि होती है। जब हमारा इस समयका ज्ञान इससे पहिलेके ज्ञानपूर्वक है, इस ज्ञानके अन्वयमे इस ज्ञान की एक कलात्मक लैनमे जब ज्ञान ही ज्ञान था तो सबसे पहिले पूरा हुआ जो ज्ञान है वह भी ज्ञान पूर्वक ही रहा, और वह ज्ञान था पूर्वभवमे। इसी प्रकार जब हमारा इस समयका ज्ञान आगेका ज्ञान उत्पन्न कर देता है तो वर्तमान ज्ञान भविष्य ज्ञानकी संतान को बनाता है तो समझ लीजिये कि इस भवका जो अन्तिम ज्ञान होगा मरण समय का ज्ञान होगा वह भी आगेके ज्ञानका बनाया हुआ ही रहेगा। इससे होती है आगेके लोककी सिद्धि। यह आत्माके भवसे पहिले भी था और इस भवके बाद भी होगा। यह एक सद्भूत पदार्थ है इसका विनास नही होता। रहेगा यह। और रहेगा तो क्या हम इसी प्रकार दुखमे ही मरा करेंगे ? यह इष्ट है क्या ? जैसे वर्तमानमे आकुलताएँ भोगते हैं, राग बढाकर मोह बढ़ाकर पर वस्तुको अपनाकर जो हम आकुलताएँ भोगते हैं और उसीमे चतुराई समझते हैं। यह अपना ही तो घर है। यह सब कुछ तो करना

ही चाहिए। इसीसे लोकमे हमारी इज्जत है, बडप्पन है, भले कहलाते है। इसीसे हमको लोग भरा पूरा और महान समझते हैं ऐसी अपनी चतुराई भी समझते है क्या ऐसी गदी चतुराई बनाये रहना और आकुलताएँ भोगते रहना यह तुम्हे इष्ट है क्या ?

आत्माके एकत्वकी ही सिद्धि लालच करके लाभ क्या मिलेगा ? रहेगा तो यह आत्मा एक अकेलाका ही अकेला। मायाचार करके सिद्धि क्या होगी ? यह तो अकेला ही अकेला रहेगा इसमे क्या वात और ला सकेंगे ? यो मान किस बातका करना। यह तो एक अमूर्त चैतन्य पदार्थ है, इसको तो कोई जानता भी नही, मानता भी नही। किसका यहाँ क्या करना ? घमड किस बातका ? क्रोध किसपर करना ? किसीने मुझे देखा है क्या ? कोई मेरेको गाली दे भी सकता है क्या ? मुझे समझा ही नही तो वह मुझे गालियाँ क्या दे सकेगा ? कोई मुझे जानता ही नही तो मेरी प्रशसा अथवा निन्दा किया कर सकेगा। जब यह उपयोग हमारे आधारभूत आत्मप्रभु के निकट बैठता है, रहता है तो लोकमे फिर इसे कोई आपत्ति नही रह पाती। बडे सकट दिखते हैं जब बाहर आँखे खोलते है। कुछ सकटसे भी है और उनसे कोई गुण मान लिया जाता है, पर जहाँ इन चर्म-चक्षुवोको बन्द किया, इन इन्द्रिय और मनकी वृत्तिको बन्द किया, वहाँ केवल अपने आपमे अपना ज्ञानप्रकाश और आनन्द ही अनुभवमे आता है। इस चेतनका उपादान कारण चेतन हैं जैसे कि जिन्दगीके इन अनन्तानन्त चेतनोकी परिणतियोका उपादान पूर्व चैतन्य है और कार्य अगला चैतन्य है इसी प्रकार जो चैतन्यकी आदि है मे चेता जायगा वह कुछ नया सत् नही बन गया, और जो अन्तिम चैतन्य होगा, मरण समयका चैतन्य परिणमन होगा वह अगले परिणमनको करेगा। यो चैतन्य भूतसे उत्पन्न नही होता, उसका आधारभूत आत्मा है। और आत्मामे ही ज्ञानप्रकाश जगता है। शरीरमे ही आत्मा मानने वाले तो अनन्त जीव हैं। ये चारुवाक लोग जरा युक्तिया देकर तर्कसे सिद्ध करना चाहते हैं तो इसे कैसे बोला कि ये दार्शनिक हैं, ऋषि लोग हैं। चाहे आत्माके खण्डनका सिद्धान्त बनाये पर जो एकेन्द्रियसे लेकर सज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक पडे है वे और क्या काम कर रहे हैं ? वे सब प्रेक्टिकल चारुवाकके सिद्धान्तका समर्थन कर रहे हैं उन कीडा मकोडोके जिह्वा नही, वचन नही मन नही ये वचनोसे कुछ समर्थन नही कर पा रहे हैं। कुछ ही विरले तत्त्वज्ञानियोको छोडकर सभी जीव इस शरीरको ही यह मैं हूँ ऐसा अनुभव कर रहे हैं, और, विवाद झगडे भी लोकमे काहेके हैं ? परेशानी चिन्ताएँ भी लोकमे और किस बातकी हैं ? शरीरमे यह मैं हूँ ऐसा अनुभव करनेकी सारी परेशानियाँ हैं बडे बडे व्यापार, बडे बडे कष्ट अथवा लोकमे नेतागिरी आदिक अनेक प्रकारके श्रम उठाना आदि सब करनेका मूल आधार यही है कि इस शरीरको उन्होने मान लिया कि यही मैं हूँ। एसी ही बुद्धि बना लेनेसे सब कष्ट भोगने पड रहे हैं।

आत्माका उपादान चेतनता— यह भूतपिण्ड चैतन्यका उपादान कारण

नहीं है। यदि कहो कि सहकारी कारण है चलो मान लिया कि हमारे ज्ञानका हमारे चैतन्यका यह शरीर सहकारी कारण है तव उपादान कारण तो कुछ वताना होगा। वह तो हमसे भिन्न है ना, क्योकि विना उपादानके तो कुछ जगतमे पाया ही नही जाता। जो उपादान है वही आत्मा है। शायद यह कहो कि अनेक चीजें ऐसी वन गई कि जिनका आधार कुछ नही है और पाई जाती हैं—जैसे शब्द! शब्दका कोई उपादान कारण हो तो जरा पकडकर वतलावो, हमारे हाथपर रख दो। शब्दका उपादान कारण यह है और यह जो विजली है उसका उपादान कारण क्या? मेघ होते हैं और उनमे विजली चमकती है, उस विजलीका उपादान कारण क्या कुछ भी नही? और होता जरूर है। तो विना उपादानके कुछ वाते पायी जाती हैं, तो ऐसा भी यह चैतन्य है, इसका भी उपादान कुछ नही है और पाया जाता है। ऐसा चारुवाक लोग अपना पक्ष रखते हैं। उनके समाधानमे कह रहे हैं कि शब्द और विजली आदिकमे भी उपादान कारण है क्योकि वह कार्य है। जो जो काय होते हैं उनका उपादान कारण अवश्य होता है। जैसे कपडेका उपादान कारण क्या है? वह ततु डोरा। घडेका उपादान कारण क्या है? मिट्टी! तो शब्द भी कोई कार्य है जो पहिले न था, आगे भी न रहे और वर्तमानमे हो रहा हो वे सव कार्य ही तो हैं। तो कार्य जितने होते हैं उन सवका उपादान कारण होता है।

उपादानकारणके अनुसार कार्यनिर्माण— दर्शनका उपादान कारण शब्द परिणतिके सदृश्य जो शब्द वर्गणायें हैं वे हैं और विजली आदिकका उपादान कारण जिन परमाणुवोमे वह चमक जगी है वह परमाणु उपादान कारण है। उपादान कारण विना कोई भी कार्य नही होता। तो यह चेतन है और इसका सहकारीकारण मान लिया गया शरीर, तो उपादान कारण तो कुछ कहा। वही तो आत्मा है जिसे उपादान वतावेंगे। यदि यह कहो कि शरीरसे ही हम चेतनकी उत्पत्ति मान लेंगे क्योकि देखा जाना है कि गोवरसे विच्छू उत्पन्न हो जाते हैं। कभी कभी कूडा वगैरह पडा हो किन्ही ईंटोके नीचे तो उसमे विच्छू उत्पन्न हो जाते हैं। तो जब इन भौतिक पदार्थोंमे ये उत्पन्न होते देखें जा रहे हैं तो अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति हो गई, इसमे क्या तुम दोष देते हो? उत्तरमे कहते हैं कि वह भी तो एक जैसा सिद्ध किया जा रहा है, उस घटनाकी ही तो वात है। वहाँ भी वह जो विच्छू चेतन है वह गोवर मिट्टी कूडा आदिसे उत्पन्न नही हुआ और जो शरीर वन गया उससे भी उत्पन्न नही हुआ। वह चेतन तो चेतनपूर्वक ही होता है। विच्छू आदिकका शरीर अचेतन है, वह अचेतन शरीर गोबर आदिकसे उत्पन्न हो जाय, पर उसका जो चैतन्य परिणमन है वह पूर्ण परिणमनसे ही होता है। जो वात अभी कही गयी थी वह इस प्रसङ्गमे भी घटा लेना चाहिए। अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति नहीं होती। कितनी तीव्र वासना है लोगोंके चित्तमे। शरीरसे न्यारा यह मैं कुछ हूँ ऐसी दृष्टि करनेकी भी उन्हें फुरसत नही है अथवा इस ओर कुछ भी दृष्टि नही जाती। और, इसी कारण जो कुछ हो रहा

है हो रहा था, होवेगा वह सब यही तो है, जन्म–मरण सुख–दुःख ये सब आगे चले जा रहे है। अथवा शरीरसे उत्पन्न होता है चैतन्य अथवा कुछ अलग वस्तु है चैतन्य इसकी भी कथा छोड दो, पर है तो ना, इस समय चैतन्य। उस चैतन्यको शान्ति किस प्रकार मिले, इसका निर्णय भर करते जाइये। अन्य बातोंको छोड कर दीजिए, तो निर्णय यह मिलेगा और अनुभव यह कहेगा कि जब यह चेतन अचेतनकी दृष्टिसे चैतन्यरूपसे बना रहता है उस समय से लोकमे कोई आकुलता नही होती।

परमे एकत्व बुद्धि ही दुःखका हेतु जब अपने आपके चैतन्यभावको छोड कर दृष्टिमे न लेकर बाहरी पदार्थोको अपनाया जाता है वहां इसे आकुलता हो जाती हैं। इस प्रकरणमे चारुवाक अपना पक्ष रख रहा है कि हम तो यह मानते है कि जन्म समयमे जो चैतन्य जगा है वह तो नया नया जगा है उससे पहिले चैतन्य न था। और उसके बाद जिन्दगीभर जो अनगिनते चैतन्य परिणतियां चल रही हैं वे चैतन्यपूर्वक हैं। जैसे वनमे बांसोंके परस्परमे रगडनेसे अग्नि पैदा हो जाती है वह अग्नि तो बिना अग्निके उत्पन्न हुई है और उसके बाद फिर अग्निका जितना प्रसार होगा वह सब अग्नि प्रयोग होगा। अग्निसे अग्नि जलेगी यों ही प्रथम जो चैतन्य है वह शरीराकार रूप भूतपिण्डोसे उत्पन्न हुआ वह चैतन्यसे उत्पन्न नही हुआ और इसके बाद फिर जितनी चैतन्यकी परिणतियां चलेंगी, जानकारी चलेंगी वे चैतन्यपूर्वक चलेंगी। यह भी एक उनका मनोरथ ही है, अपने आपका समझावामात्र है। वस्तुतः पहिली बार भी जो वहां अग्नि उत्पन्न हुई है वह भी बिना उपादानके नही हुई। ये जितने पिण्ड-रूप पदार्थ हैं पृथ्वी पत्थर जिनके रगडनेसे अग्नि उत्पन्न हुई है ये सभी पदार्थ पुद्गल है और अग्निका काय भी पुद्गल है। उन पुद्गलोसे पुद्गलकी पर्यायोका जैसा सह-कारी कारण हो, जैसी उनकी वृत्ति हो उस तरह उत्पन्न होती रहती है। अग्निकी शक्ति इन पदार्थोमे और इन बांसोमे बराबर है, कही एक नई चीज नही बन गई। अग्निको बुझा देने वाला जल होता है और उस जलमे भी अग्निकी शक्ति पडी है। यह तो पुद्गल है पुद्गलसे पुद्गलकी हर प्रकारकी सृष्टि बन सकती है। समुद्रसे भी कभी अग्नि निकलती है जिसे बडवानल कहते हैं। जलके रगडनेसे वह अग्नि हुई है ना। तो पुद्गलसे पुद्गलकी वृत्तियां बन जाये वहां यह समझना कि उनका उपादान था। तो वह चेतन एक है।

पृथ्वी जल आदि चतुष्टयकी पुद्गलसे पृथक्त्वकी असिद्धि- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये वास्तवमे चार तत्त्व नही हैं। तो पुद्गलसे पुद्गलकी बात बनती है और जीवसे जीवकी बात बनती है। यह चेतन चेतनपूर्वक होता है और ये समग्र रूप, रस, गंध, स्पर्श, अग्नि क्या है ? वह स्पर्श ही तो है, यह पुद्गल पूर्वक होता है, आत्माका अस्तित्व है और एक अहं अहंके प्रत्ययसे जाना जाता है। सब लोग कुछ जान रहे हैं, जानना चाहते हैं, जाननेका यत्न करते हैं, वह सब कैसे हो रहा है ?

जिसमे वह जाननवृत्ति जग रही हो वही तो चैतन्य है, वही तो आत्मा है । उस आत्मामे यहचित्त वितर्क उत्पन्न होता है । जैसे बहुत बार पत्थरमे या बाँसमे जो अग्निका आविर्भाव होता है वह तिरोहितरूपसे उन पदार्थोंमे था और फि उनसे अग्नि उत्पन्न हुई है इसी प्रकार गर्भमे जो जीव आया है वह चैतन्य भी तिरोहित चैतन्य पूर्वक था हम नही जानते । यहाँ आया है कोई चैतन्य । उत्पन्न होता है कोई मनुष्य तो यहाँ आया तो है किन्तु वह तिरोहित रूपसे । यहाँ न था कही अन्यत्र था, कहीं से आया, गुप्त ढङ्गसे आया, इस प्रकारसे आया मगर था पहिले अवश्य । जैसे इस अग्निकी शक्ति पत्थरमे पहिलेसे तिरोहितरूपसे थी, अब प्रकट हुई है इसी प्रकार यह आत्मा भी कहीं भी हो, पर तिरोहितरूपन था और गुप्त ढङ्गसे आकर यह प्रकट हुआ है, यह शरीरसे ही नहीं बन गया, शरीर प्रथक है और यह मैं आत्मा प्रथक हू ।

आत्मासे ही आत्मवृत्तियोका प्रादुर्भाव - आत्माकी आत्माके ढङ्गसे वृत्तियाँ जगती हैं । सुख हो, दु ख हो, ज्ञान हो, दर्शन हा ये वृत्तिया आत्मामे जगती हैं और रूप, रस, गंध, स्पर्शमे इनके सचयमे जो वृत्तियाँ होती हैं वे सब शरीरकी वृत्तियाँ होती हैं । अब यह बात एक मोहमे है कि शरीरकी कुछ वृत्ति बने तो उसमे आत्मा ऐसा स्वीकार करता कि यह मेरी स्थिति है, मेरा परिणमन है, यह बात एक मोह रागकी रही, पर वहाँ भी जो मोह बना, राग बना वह तो आत्माकी परिणति है । पर शरीर कर्म हो या शरीरमे फोडाके रूपसे कुछ पुद्गल स्कध उठ गए ये आत्मा की परिणतियाँ नही है । यद्यपि शिरमे वेदना होती है तो शिरको मलते हैं, शिरकी नसोको दबाते हैं । ऐसा करते हैं तब भी वेदना शिरमे नही है, पीडाका अनुभव जानकारी अथवा उसरूप अनुभूति ये चेतनमे हो रहे हैं, फिर लोग शिरमे क्यो दबाते हैं ? यो कि उस वेदनाका एक सहकारी कारण, एक आश्रयभूत कारण शिरकी नसोकी परिणतियाँ हैं । तो निमित्त अथवा आश्रयभूत होनेसे यह दृष्टि जाती है पर शिरका काम शिरमे है और जो वेदना होती हैं उसका अनुभव आत्मामे है । आत्मा प्रथक् वस्तु है और वह मैं हूँ । मुझे आत्महित करना चाहिए ऐसी दृष्टि बनायें, शरीरको आत्मारूप अनुभव न करें ।

मूलतत्त्व प्रतिषेधकके वस्तुस्वरूपकी अनुपलब्धि — मूलतत्त्वका प्रतिषेध करने वाले चारवाक सिद्धान्तमे यह कहा जा रहा है कि चैतन्य आत्मा जीव कुछ नही है । जो चैतन्य मालूम पडता है वह सब इस पृथ्वी, जल, अग्नि वायुके सयोगसे एक प्रभाव बना है । और उस प्रभावके साथ फिर उत्तरोत्तर जितनी चैतन्य वृत्तियाँ बनती है वे यद्यपि चैतन्य पूर्वक बन रही हैं, लेकिन सबसे पहिले जन्मते ही अथवा गर्भमें ही जब शुरूमे ज्ञान आया था चैतन्य आया था तो वह चैतन्य चैतन्यपूर्वक नही है किन्तु बिना चैतन्यके ही एक नवीन चैतन्य हुआ है । जैसे कि मुसाफिर लोग कभी इकट्ठे मिल जाते हैं तो कहते हैं कि भाई चिलम पी लो ! तो वे चकमककी आपसमें लो

नगाकर अग्नि पैदा करते हैं। अब देखो उस अग्निके बाद और अग्नि बनेगी यो अग्निकी सतान बनती चली जायगी मगर सबसे पहिले जो अग्नि बनी है वह तो बिना अग्निके बनी है ना ? पत्थर था वहाँ अग्नि पैदा हो गयी, ऐसे ही सबसे पहिल जो चैतन्य पैदा होता है वह सब जीवोका होता है ऐसा उन्होने कहा है किन्तु ऐसा मानने पर उनके ही चारो तत्त्व न रह पायेंगे। लो अग्नि बिना अग्निके पैदा हो गयी। पृथ्वी मे उत्पन्न हो गयी तो अग्निका उपादान पृथ्वी रहा था फिर चारो कैसे ठहरेंगे। जब सबका उपादान एक बन जायगा तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये अलग अलग न रह सकेंगे यदि यह कहें कि अग्निका वह सहकारी था, पाषाण चकमक तो यह बात चैतन्यमे घटा लो। चैतन्य जो प्रकट होता है उसका सहकारी कारण शरीर है वह तो अपने चैतन्य आत्मासे ही सतान उत्पन्न होती रहती है। अथवा जैसे चकमकसे आग निकली ! तो उसमे पत्थरमे भी यह मानें कि गर्भके समय जो चैतन्य जगा है उसको तिरोहितरूपसे पहिले भी था।

अपनी आत्मा की भाति सभी प्राणी दयाके योग्य—इसी प्रकार आत्मा है और अनादिकालसे चला आया है। अनन्तकाल तक बराबर रहेगा। अपने आपमे ऐसी श्रद्धा लावें। ये जितने पशु-पक्षी आदिक दु खी रहती हैं यह सब चैतन्य ही तो इन शरीरोको धारण करता चला जाता है कितने दु खी प्राणी है जगतमे। किसीके दुखकी ओर दृष्टि दे ना। हृदय काप जाता है। सैंकडो हजारोकी तादातमे बैल गाय भेंड बकरी आदि कैसी निर्दयतासे मौतकी घाट उतार देते है, और अब तो खुले घर बन गए हैं उनकी हत्या करनेका। जिनपर बीतती है वे ही उस वेदनाको समझते हैं। निर्दयतासे मार पीटकर उस वधस्थानतक ले जाते हैं और उनकी निर्दयतासे उन्हे मौत की घाट उतार दिये जाते हैं। वे भी तो जीव हैं। जैसा स्वरूप अपना है वैसा ही स्वरूप अपना है। जब कभी ऐसी घटना देखकर दया आती है वह दया क्या चीज है। जैसा मेरा स्वरूप है वैसा ही उनका है जिनपर बीत रही है वे बाते। वे ही बातें मुझपर भी बीत सकती हैं।

अनुकम्पाका लक्षण तथा उसका प्रयोगात्मक रूप—स्वरूपकी समताके कारण जो ऐसी अन्तर्वृत्ति बनी है उसका अनुकम्पन है दयाका दूसरा नाम है अनुकम्पा। अनुकम्पाका अर्थ है– अनु मायने अनुसार कम्पा मायने कप जाना। दूसरेपर जो वेदना हुई है उसे निरखकर उनके अनुसार अपनी वृत्ति बनाकर कप जाना उसका नाम है अनुकम्पा भी एक क्षोभ है इसी कारण प्रभुके गुणोमे यह बताया है कि हे प्रभु न आपमें दया है और न आपमे अदया है। दयासे उल्टा जो हो वह भी नही है और दया भी नही है। शुद्ध शान्त निराकुल अवस्था है। छोटे छोटे प्रसङ्गोंमे भी जब दया उत्पन्न होती है तो दूसरे पुरुषोंकी भाँति अपने आपको सोचकर फिर वैसी वेदना यहाँ भी गुजर सकती है। ऐसी दृष्टिमे वृत्तिमे अत मैं दयाका परिणाम पैदा

होता है। कोई भूखा पुरुष चिल्ला रहा है उसे देखकर दया किसे आयगी जो खुद कभी भूखा हो सकता है, हुआ था या जो भूखकी वेदना समझता है, जिसे भूखकी पीडाका अन्दाज है। चाहे वह इस समय खूब भरपेट बैठा हो, भूखा न हो, मगर जो भूखकी वेदना समझता है तो उसका स्मरण करके हृदमें एक कम्पन होता है, वेदना होती है उसे शान्त करनेके लिये फिर उसे भोजन देता है। अपने आपमे जो दर्द उठा दूसरेका दुःख देखकर अपने आपके उस दर्दको मिटानेके लिए फिर दूसरेका उपकार किया जाता है।

परसे हटकर स्व-उपयोगको स्वमे नियत करने मात्रसे शान्तिकी उपलब्धि— सब जीव हैं और वे सद्भूत हैं, अनादिसे चले आये हैं अनन्तकाल तक रहेंगे, हमारा घर इतना ही नही है, हमारी दुनिया इतनी ही नही है जितनी कि यहाँ कुछ मिला है या दिखता है। ऐसा ध्यानमें लायें। आपका स्थान नही है यह महल। जैसे चिडिया उडती जाति है और कभी पेडपर बैठ जाती हैं। कुछ चिडिया तो किसी एक नियत वृक्षमे बसा करती हैं सवेरा होते ही वे पक्षी अपने अपने प्रयोजनसे उड जाते हैं। ऐसे ही एक घरमें कई प्राणियोका जन्म हुआ हैं। रह रहे हैं लेकिन जब इस भव का अन्तकाल आयगा तो इन सबको छोडकर जाना होगा। यहाँ प्राप्त हुए समागममे कुछ सार भी नही है। खूब निरख लो, दिलमे सोच लो। आत्मा है और मुझे इस निज आत्माको शान्त परिणतिमे रखना है क्योकि ऐसा किए विना कष्ट खुदको ही भोगना पड रहा है। तो शान्तिका उद्यम करना चाहिए वही है शान्ति मार्ग अथवा मोक्ष मार्ग। उसीका यह उपाय है कि हम अपने आपको शान्त स्वभाव वाला एक आत्मा मान लें जैसा कि वह है और फिर उस हीमे प्रयोग करें। वाहरमे प्रयोग न करें' अपने आपमे अपने आपको लीन करनेका प्रयोग करें, जैसे समुद्रमे नमककी डली लीन हो जाती है इस ही प्रकार इस ज्ञान समुद्रमे नमककी डली लीन हो जाती है इस ही प्रकार इस ज्ञान समुद्रमे यह उपयोग मग्न हो जाय ऐसा उद्यम करें। ससारके सारे सकट दूर हो जायेंगे। कर्मोकी गति कैसी है उसका ध्वस किस प्रकार होता है, किस तरह कर्म दूर होते हैं यह सब कुछ जानमेकी जरूरत नही। जान ले, जाननेमे आ जायें, समय हो, उपयोग अन्यत्र दौडता हो उसे सम्हालनेके लिये इसका भी ज्ञान करनेमे उपयोग लगावें लेकिन जो पुरुष अपने स्वरूपमे मग्न होनेका पुरुषार्थ कर लेता है उसे कही कुछ जाननेकी जरूरत नही है, उसके कम ध्वस्त होते जायेंगे।

वर्तमानकी तरह भूत भविष्यमे भी आत्माकी उपलब्धि नही मालूम है हमे " मानला सक्रमण किया, अपकर्षण किया, गुण श्रेणी निजरा किया। कैसे कैसे निषेध, कैसे कैसे खण्ड होकर नीची गति मिलती है इस वातका न भी पता हो केवल एक स्वरूप दर्शन, स्वरूप मग्नताका पुरूषार्थ बने तो कर्म बन्धन दूर हो जाताहै। पशु पक्षियोने कर्मकाण्ड पढा है क्या ? कुछ शास्त्रचर्चा जानते हैं क्या ? नहीं जानते,

किन्तु जिस भी पशुपक्षीको एक सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है निज तत्त्वभावकी अनुभूति बनती है उस समय कैसे कर्म खिरते हैं वे सब ब तें अपने आप हो जाती हैं। काम अपने आपको केवल एक यह है कि अपने स्वरूपका परिज्ञान करें और स्वरूपमे मग्न होनेका यत्न करें। यही आत्मशुद्धि है। यह युक्ति रखी गई है कि कोई आत्मा है अनुभव करने वाला, उसमे ही यह ज्ञान वृत्ति जगती है। अनादिकालसे कोई एक अनुभवन करने वाला आत्मा न हो तो इष्ट अथवा अनिष्ट विषयमे प्रत्यभिज्ञान और अभिलाषा आदिक जन्म के अन्तमे बन नही सकते। देखो बच्चेका जन्म हुआ जहाँ जन्मसे मतलब गर्भसे बाहर निकलना । वास्तवमे जन्म तो जब गर्भमे आया तब कहना चाहिए पर लोकरूढिमे जन्म कहा जाता है जब गर्भसे बाहर निकले' तो वहाँ जैसे जन्म हुआ था वैसे ही उसको वे सब सस्कार चूँकि बने थे आहार सज्ञा आदिकके सो माताका दुग्ध पीने लगता है। किसने उस बच्चेको पैदा होते ही दूध पीना सिखाया ? अरे उसके पूर्व भवके उस तरहके सस्कार हैं, अभिलाषा आदिक हैं प्रत्यभिज्ञान जगता रहता है। वे सब बातें यह सिद्ध करती हैं कि इस भवसे पहिले यह आत्मा था

पूर्वभवमे आत्मत्वकी सिद्धि—और देख लीजिए—कोई पुरुष बचपनमे ही बडा बुद्धिमान बनता है कोई जड बुद्धि वाला होता है। किसीको बहुत-बहुत सिखाया जाय फिर भी सीख नही पाता है। यह भेद सिद्ध करता है कि जिसका जैसा पूर्व जन्म था उसका सस्कार वहा आया है। कोई बचपनसे ही बडा विरक्त साधु जैसा स्वभाव कितना शान्त, विषयोसे प्रयोजन नही, चित्त कल्याणके लिये चाहता है वह जीव पूर्वभवमे साधु होगा। तपश्चरण किया होगा, वे सस्कार चले आये और इस भवमे भी उसकी ऐसी विरक्त बुद्धि रहती है। यह प्रत्यभिज्ञान अभिलाषा जो जन्म की आदिमे होती है वह पूर्वभवको सिद्ध करती है क्योकि वे सब चेष्टायें अभ्यास पूर्वक हो रहे हैं। जो बालक माताके उदरमे ८-९ माह रहा आये उसने तो अभी यहाँके किसी विषयको देखा ही नही, जन्मके समयमे प्रथम ही प्रथम उन माँ-बापका अभ्यास कैसे बन जायगा। वह पहिले भी था आत्मा पहिले भी था आगे भी रहेगा और वही इस समय है। कोई शरीरके जुडे मिलनेमे एक प्रभावमात्र ही चैतन्य होता हो ऐसा नही है। मध्यम अवस्थावोमे अभ्यास जरूर देखा जा रहा है। इस समय अनेक बातें हमारे अभ्यासपूर्वक हो रही हैं। तो जब हम यह देख रहे हैं कि हमारी सारी चेष्टायें हमारे अभ्याससे हो रही हैं तो जन्मके आदि समयमे भी जो चेष्टाये हुई है वे भी अभ्यास पूर्वक ही हैं। उनके लिये पूर्व जन्मका अभ्यास है। प्राय करके जो पुरुष जिस जातिका भाव रखता हैं। उस जातिके जैसे भोग उपभोग उसे भुगतने पडते हैं। एकबार किसीने प्रश्न किया जो ये मुर्गिया इतनी मारी जाती हैं और घटती नही है बल्कि और भी बढती जाती हैं उसका कारण क्या है ? हमे तो लगता है कि उन के मारे जानेसे उनकी उपज और बढ रही है। तो इसका उत्तर यह दिया गया कि

कुछ तो मुर्गियां उत्पन्न हो रही थी और कुछ मारने वाले लोग भी मरकर मुर्गी बनते हैं तो इससे मुर्गियोकी सख्या और बढ जाती है। और वह मुर्गीका मारने वाला अनेक भवोमे मुर्गी बन बनकर दु ख सह रहा है। तो इसीसे मुर्गियोकी सख्या और बढ रही है। तो इसमे दोष हुआ कि नहीं ? इसमे दोष हुआ। तो जिसे बार बार मुर्गी बनकर कष्ट सहन करना इष्ट है वह उनकी हिंसा करे और जिसे इष्ट नही है वह उनकी हिंसा न करे। तो ये सभी बातें आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करती हैं।

पूर्वजन्मकृत सस्कार द्वारा चेष्टाओकी उपलब्धि सब काम अभ्यास-पूर्वक हो रहे हैं शुरूमे ही जो चैतन्य चेष्टा होरही है वह भी। यदि जन्मके आदिमें होने वाली चैतन्य चेष्टावोको बिना अभ्यासके मान लिया जाय, बिना चैतन्यके मान लिया जाय तो इस तरह जो बात जैसे अग्नि धुवा पूर्वक देखी जाती है तो वह भी कभी कभी बिना अग्निके भी दिख जाना चाहिए। पहलेका हीका अभ्यास है जिसके कारण इस जन्मके आदि समयमे भी उस प्रकारकी चेष्टा देखी जाती है, सायद यह कहो कि माता पितावोका अभ्यास है उस पूवक सतानमे भी चेष्टा हो जाती है। तुक तो कही न कहीसे मिलना चाहिए। उस एक जन्मके अभ्याससे नही हुआ किन्तु माता-पिताके अभ्यास पडे हैं तो सतानमे भी बन गया। माता-पिता खाते रहते हैं ना सो वही अभ्यास सतानमे भी आ गया। यदि ऐसा मानोगे तो इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरेके अभ्याससे दूसरेका प्रत्यभिज्ञान बन गया। यो खाया, जाता यो पिया जाता, तो बहुत दोष आने लगेंगे। किसी ने कुछ देखा है किसी दूसरे आत्माका मरण होजाय या माताका एक अभ्यास खाने पीनेका एक जन्मजात बालकने ग्रहण कर लिया। तो जितना ज्ञान मातापिताका हुआ वह सबका सब क्यो नही आ गया। माता-पिताने जो कुछ जाना है उसे भी यह भी यह सतान इस रूपमे जानने लगे कि यह सब मैंने ही जाना है। तो माता-पिताके अभ्यासके कारण भी जन्मके आदि समयमे उस पुत्रको दुग्धपान आदिककी चेष्टा नही हुई है किन्तु उसे स्वय आहारसज्ञा थी। पूर्वजन्ममे थी उस ही सज्ञावासनासे वह यहा भी तुरन्त अपने योग्य आहार करने लगता है और देखिये ! आत्मा पहिले था या या नही ? इसकी चर्चा भी छोड दो और वर्तमानमे हम दुखी हैं कि नही, इससे तो कोई इकार न करेगा चाहे वह सब शरीरका धर्म बना हो और चाहे कुछ हो इतना तो सुनिर्णीत है कि हम आप जिसमे अह अहका बोध हो रहा है, कोई ज्योति है, बिजली है, ज्ञान है, किन्ही भी शब्दोंमे कह लो।

अज्ञानता ही बरबादीका हेतु अब हमको दु ख मिटाना है और शान्ति चाहना है यह भी लक्ष्य और अन्त प्रयत्न सब जीवोका चलता है। जैसे किसी चीजके निर्णयमे हम अनुभव युक्ति सभीको काममें लेते हैं तो जरा इस बातके निर्णयमे भी आये कि हमको दुख है। दु ख हमे दूर करना है शान्ति चाहिए है यह निर्णय कर डालें, प्रयोग कर करके अनुभव कर करके देखलें। जो कुछ भी जानने वाला हो यह

जाननहार तत्त्व जब किसी परपदार्थक आशा रखता है उस आशामे इसे क्लेश होता है, यह बात सुनिर्णीत है कि न ी । प्रयोगसे युक्तियोसे देख लो ।चूंकि वे परपदार्थ जिनकी आशा की जा रही है वे भिन्न हैं, उनका रहना न रहना उनके आधीन हैं अतएव जिस परपदाथकी आशा की जाती है उस पर दार्थके लगावमे इस जीवको शान्ति नही हुई । जब कभी कल्पनासे मौज भी माना तो वह मौज भी क्लेश ही था । यह सब मोह मदिराका नशा था, उसे खुद नही समझ पाता दूसरे लोग जो सचेत है वे जानते हैं । जैसे कोई पुरुष मदिर पी ले तो वह कैसा अद्भुत, अप्रिय वार्तालाप करने लगता है, अट्ट सट्ट वचन व्यवहार करता है । क्या वह पागल वह महापापी खुद का अनुभव कर पाता है कि मैं पागज हूँ, मुझे नशा चढा है ? ऐसा मुझे न करना चाहिए ? वह तो नशेकी वजहसे अटपट चेष्टायें करता है । उसके परखने वाले दूसरे है जिन्होंने मद्यपान नही किया । वह ज्ञानसे सारी बातें यथार्थ जान रहा है । ऐसे ही जो पुरुष अज्ञानी है, मोहमे इन विषयोसे सुख मानता है, वहाँ मौजकी अपनी चेष्टा बनाता है, उसका वह क्लेश भी भागता जाता है और वह यह नही मालूम कर पाता कि ये सब मेरी अज्ञानताकी बातें हैं, ये मुझे बरबाद करने वाली हैं । यह मेरा अज्ञान मुझे अपने स्वरूपमे मग्न नही होने देता, मुझे परमात्म प्रभुसे मिलन नही करने देता, ऐसी बातें उसे मालूम नही हैं ।

परपदार्थोसे हटकर ही स्वस्वरूपके आनन्दकी प्राप्ति - किसी भी पर पदार्थकी वह आशा करता है और फिर इसे दुखी होना पडता है । और जब सब पर पदार्थोंको भिन्न जानकर, असार समझकर उनसे हटता है अपने आपके स्वरूपमे मग्न होता है तब इसे अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है । यह बात प्रयोग करके देख लीजिये ताकि भली भाति निर्णय हो जाय कि शान्तिका उपाय यह है । अपने आपके स्वरूप मे मग्न होना यही एक करने योग्य पुरुषार्थ है । यह बात बन सकी तो सब बातें एक दम विदित हो जायेगी कि मैं क्या हूँ । वास्तवमे हूँ या नही, आनन्द निघन हूँ स्वतत्र हूँ, या शरीरके सयोगमे बन गया हू ये सब समस्यायें हमारे इस आतरिक प्रयोगसे हल हो जाती है ।

विश्वविदित आत्माके अपलापकी असिद्धि - इस परिच्छेदमे ज्ञानका स्वरूप बताया जा रहा था और उस ज्ञानकी प्रमाणता कही जा रही थी जो ज्ञान स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये । प्रमाणके इस लक्षणमे विलोम पद्धतिसे एक एक शब्दका विचार किया गया और इस समय यह ज्ञान स्वका व्यवसाय करने वाला है इस विशेषणपर विचार किया जा रहा था जिसपर कुछ लोगोंने यह आपत्ति दी थी कि ज्ञान स्वका निर्णय नही रखता क्योकि ज्ञान अचेतन है । प्रकृतिका धर्म है, पुरुषमे तो ज्ञानका सम्बन्ध होता है तब यह जानने वाला कहलाता है । उसका निराकरण करनेपर फिर ये भौतिकवादी अपना मतव्य रख रहे हैं कि ज्ञान कोई स्वतत्र

तत्त्व नही है फिर यह स्वव्यवसायी है, पर व्यवसायी है इस झगडेकी क्या जरूरत ? ज्ञान तो पृथ्वी आदिक भूत विकारोंसे उत्पन्न होता है। इस सम्बन्धमे बहुत बहुत विस्तारोसे निराकरण हुआ। अब अन्तमे कुछ उपसहारसा करते हुए और कुछ नवीन युक्तियाँ भी देते हुए इस प्रकरणको पूरा किया जा रहा है कि ज्ञान आत्माका धर्म है। भूत विकार नहीं है। लेकिन जो कुछ जाना करते है उसका यदि विवरण आ जाय तो शैली यह होती है कि मैं ज्ञानस घटको जानता हूँ। ऐसी सभी पदार्थोंके जानने की वात लगा लें, मैं ज्ञानसे इस चौकी पुस्तक आदिकको जानता हूँ। इस प्रकारसे शैली वनती है जाननेकी तो इस शैलीमे जैसा मैं कहूँगा अहके द्वारा जिसका ज्ञान किया गया वह तो प्रसिद्ध है। अपने आपके ज्ञानमे अपने आपका वह आत्मा जिसके लिये मैं कहूँगा। मैं ज्ञानसे अमुक पदार्थोंको जानमा हू वह मैं ही तो आत्मा है। मैं ज्ञानसे अमुक पदार्थको जानता हूँ इस शैलीमे जैसा कि पदार्थका कर्मरूप अवभासन होता है अर्थात् पदार्थोंको जानता हूँ। जैसे यह वात हमारे ज्ञानमे स्पष्ट हो रही है इसी प्रकार मैं जानता हूँ यो मैंका भी ज्ञान स्पष्ट रहता है—पदार्थका प्रतिभास हुआ कर्मरूपसे और मैंका प्रतिभास हुआ कर्तारूप से। फिर ऐसे अत्यन्त प्रसिद्ध आत्माका अपलाप कैसे किया जा सकता है ? यहाँ जो कुछ भी हम जान सकते हैं इस जाननेमे इसका कर्ता देह अथवा इन्द्रिय आदिक नही है क्योकि जैसे घट आदिक पदार्थ कर्मरूपसे प्रतिभासमे आते हैं, जैसे हम यो जाना करते हैं कि मैं ज्ञानसे कमण्डलको जान रहा हूँ इसी तरह यह भी तो ज्ञात किया करता है कि मैं ज्ञानसे शरीरको जान रहा हूँ, मैं ज्ञानसे नाक, हाथ आदिकको जान रहा हूँ। तो इस देह और इन्द्रियका भी तो कमरूपसे प्रतिभास हो रहा है। अत यह देह इन्द्रिय ज्ञानके कर्ता नही है, वह तो स्वय कर्म है, देह और इन्द्रिय इनका प्रतिभास न भी हो इसके भान बिना भी अह प्रत्ययका अनुभवन होता है। आँखें मीच लें, कुछ भी निरखें फिर भी भीतरमें मैं मैं के द्वारा जो प्रतिभासमें आता है वह बराबर चल रहा है। इन इन्द्रियकी वृत्तियाँ थक जायेगी पर अन्तरमे अहकी वृत्ति नही थकती। चाहे उसे प्रयोगरूपसे बोलें या न बोले अहका भान जीवको सदैव रहता है किसी रूपसे रहे, अहका भान न हो तो मैं सुखी हूँ, दु खी हूँ, इच्छावान हूँ ये सब बातें न बन सकेंगी।

देह-इन्द्रियोके ज्ञातृत्वकी अनुपलब्धि—देह और इन्द्रियका प्रतिभास न होनेपर जब मैं का ज्ञान चला करता है तो वही तो आत्मा है। बहुत बडा घना अधकार हो जिसमे यह सारा शरीर रच भी नजर नही आता, ऐसी स्थितिमे और इन्द्रिय का व्यापार भी रुक गया, ऐसी स्थितिमे क्या किसीको यह नजर आता है कि यह शरीर गोरा है, मोटा है, पतला है, शरीरका कोई धर्म प्रतिभासमे नही होता। लेकिन वहाँ भी अहका प्रतिभास मैंका ज्ञान अपने आपको सम्विदित बराबर बना रहता है। तब देह इन्द्रिय-विषय आदिकसे भिन्न आत्मतत्त्वके आधारमे रहने वाला ज्ञान है और उसका आश्रयभूत आत्मा है। यह बात बराबर प्रमाणसे प्रसिद्ध है उस आत्माका

अपलाप नही किया जा सकता । देखिये ! आत्मतत्त्वके भान बिना यह जीवन निसार और पशुवोंसे भी बुरी जिन्दगी है अर्थात् वे पशु जो आत्मतत्त्वका भान कर रहे है उनसे तो बुरी जिन्दगी है ही।

आत्मज्ञानी पशुसे अज्ञानी नरकी हीनता जैसे आत्मभानके बिना अज्ञानी पशु है उसी प्रकार यह मनुष्य हुआ, कोई अन्तर नही। ये समागम ये आराम के मौज ये आवश्यक ठाठ ये समग्र असार विनाशीक और मायामय भिन्न वस्तुवे है। उससे आत्माको कुछ भी सिद्धि न मिलेगी। बहुत बहुत बार इन पदार्थोंमे बुद्धि लगाने पर भी आज यदि देखते है अपने आपको कि मेने कितने बाहरी काम किया था, कितने मकान-दूकान बनवाया, कितना लोगोसे व्यवहार बढाया, कितना परिवारका अनुराग किया। बहुत बहुत लालन-पोषण उनकी उन्नति कितना श्रम किया, उस सब के फलमे आज मुझे कुछ लाभ नजर आ रहा है क्या ? अरे लाभकी तो बात छोडो उसके एवजमे आज दु ख ही और रीतापन ही नजर आ रहा है। ये पदार्थ रम्य नही है, आत्माका हित करने वाले नही है ये मोही जीव अपने आपके अज्ञानसे रागादिकके वश होकर किसीको इष्ट मान लेते किसीको अनिष्ट मान लेते। अपने आपपर कुछ दया करके सोचो तो भली भाति परिचय हो जायगा कि किन्ही भी बाह्य पदार्थोंसे मेरे आत्माका हित नही है। कषाय ही तो जीवको दु खके कारण बनी हुई है। कषाय न हो तो आत्मा तो स्वभावत स्वय आनन्दका धाम है। उस आनन्दको प्रकट करनेके लिये लालचकी जरूरत नही है। माया मान, क्रोधकी जरूरत नही है। इनके त्यागने की आवश्यकता है। देखिये बाह्य पदार्थोंमे कुछ आशा लगाये, कुछ उनका सचय बनाये तो उससे तृप्ति नही होती बल्कि तृष्णा बढती ही रहती है।

तत्त्वज्ञानसे कल्याणकी सभवता तत्त्वज्ञान जगे तो आत्माका कल्याण है। ये सब बातें तभी तो बन सकेंगी जब पहिले मूलभूत अपने आत्माका अस्तित्व परखलें कि मैं क्या हूँ। मैं एक अनादि अनन्त आत्मा हूँ योकि द्रव्य हूँ। जैसे पृथ्वी आदिक पदार्थ ये भी कोई पदार्थ नही हैं तो ये भी अनादि अनन्त है। किसी भी अणु की आदि नही है। किसी भी अणुका विनाश नही है। मैं अनादि अनन्त आत्मा हूँ यह बात अह प्रत्ययसे सिद्ध है मैं हूँ। मैं का यथार्थ स्वरूप जाने बिना मैं मैं करनेसे तो विनाश है और मैं का यथार्थ स्वरूप जानकर वे उस मैं मैं मैं को उतार लेनेसे आत्माका कल्याण है। यह आत्मा एक द्रव्य है, क्योंकि गुण पर्याय इसमे भी पाये जाते है। जो गुण पर्यायका आश्रय है वही तो द्रव्य कहलाता जो सदा रहता है। पर्याय वह कहलाता जो उन गुणोकी परिणति तो है पर जिस समय जो परिणति है वह उस समय है, उससे पहिले नही है, उसके बाद नहीं है। अपने आपमे विचार करिये यह मैं आत्मा हूँ और इसमे अनेक गुण है। जहाँ तक भली भाति निरख सकते है वहाँ तक दृष्टि ले जाये। मुझ आत्मामे ज्ञान गुण है या नही। अर्थात् आत्मामे जाननेकी

न्यारा आत्मा कभी भी तो किसी दृष्टान्तमे कभी देखा हो, प्रतिभासमे आया हो, जैसे जलसे न्यारी आग हमारे प्रतिभासमे आती है तो हम यह कह सकते हैं कि आग जलसे न्यारी वस्तु है, यो शरीरसे न्यारा आत्मा कुछ प्रतिभासमे आये तो हम यह कहे कि आत्मा कोई वास्तविक पदार्थ है पर आय। कहासे ? अरे सदैव यह शरीर सतत् ही लग रहा, है इसके समाधानमे आचार्यदेव उत्तर देते हैं,जो चारुवाक जनोंने यह कहा कि शरीर रहित आत्माका प्रतिभास नही हो रहा तो वहाँ शरीर रहित इस शब्दका अर्थ-क्या लगाया ? क्या यह अर्थ लगावेंगे कि शरीरके स्वभावसे रहित आत्मा अथवा शरीरके क्षेत्रसे वाहर कही आत्मा नही दीखा । शरीररहित का मतव्य क्या है ? यदि कहोगे कि शरीरके स्वभावसे जुदा आत्माका प्रतिभास नही हुआ तो यह वात तो यो गलत है कि जिन जिनको भी इस समय भी आत्माका प्रतिभास हो रहा है या अह मैं मैं करके जिसका अनुभवन हो रहा है वह शरीरके स्वभावसे न्यारा ही अनुभवन हो रहा है। शरीरमे तो हम यो कहते—मोटा है, दुवला है, शरीरके लिए यो कहते कि सुखी हूँ दु खी हू। तो शरीरका स्वभाव और कुछ है और आत्माका स्वभाव अन्य कुछ है। तो शरीरके स्वभावसे न्यारा आत्मा नजर आ ही रहा है।

अह प्रत्यय द्वारा आत्मत्व का प्रत्यक्ष—यह शरीर तो रूप आदिक वाला है, इसमे रूप, रस, गध, स्पर्श पाये जाते हैं, अचेतन है। यह स्वय कुछ जानता नही है, उससे विलक्षण यह आत्मा है, आत्मा रूप, रस, गध, स्पर्शसे रहित है और चैतन्यस्व-भाव वाला है। तो शरीर रहित है ना यह अर्थात् शरीरके स्वभावको न ग्रहण करके मात्र अपने ही स्वभावको लिए हुए है यह और ऐसा ही भीतरमे मैं मैंके द्वारा अनुभव भी होता , प्रत्यक्षके विषयमे भी आता है। तो शरीर रहितका अर्थ यह करेंगे कि शरीर जितना आकाशकी जगहमे है उसमे वाहर हमे आत्मा नजर नही आया। तो यः तो वतलावो कि इसका क्या यह मतलव है कि शरीरके प्रदेशोसे वाहर आत्मा नही प्रतिभासमे आया इसलिए आत्माका अभाव है या शरीरके प्रदेशोमे ही जितने क्षेत्रमे, जितने आकाशमे यह शरीर वना हुआ है इसमे ही आत्माका अभाव है यह तुम्हारा मतलव है, यदि यह कहो कि शरीरके क्षेत्रसे वाहर आत्माका अभाव है तो वह वात सही है, शरीरके क्षेत्रसे वाहर आत्मा नही है। यहाँ कोई प्रश्न कर सकता कि क्या लोग ऐसा भी मानते कि शरीरके क्षेत्रसे भी वाहर आत्मा है ? हाँ हैं मानने वाले। नैयायिक जन आत्माको सर्वव्यापक मानते हैं शरीरमे भी आत्मा है और वही आत्मा शरीरसे वाहर भी है, पर इस समय हमारा आत्मा हमारे शरीरसे वाहर नही है। आपका भी आत्मा आपके शरीरमे वाहर नही है, यह वात तो सही है पर यह नही कह सकते कि शरीरके प्रदेशोसे भी आत्माका अभाव है, क्योकि अपने प्रदेशोंसे वाहर ये घट आदिक भीनही तो घट आदिकका भी तो अभाव हो गया।

शरीरस्थ आत्माकी देहस्थभावसे भिन्नता—शरीरमे है और शरीरके

स्वभावसे न्यारा है। जैसे दूध और पानी मिला हुआ हो एक गिलासमे तो हम पूछें कि इसमे पानीका अभाव है या नही, पानीका सद्भाव है या नहीं ? तो कोई कहे कि भाई, पानीका सद्भाव नही है क्योंकि उस गिलासमेसे बाहर पानी नजर ही नही आ रहा। यह बात तो ठीक है नही नजर आ रहा, पानीसे बाहर गिलास है। पानी दूध के स्वभावसे न्यारा है, ऐसे ही शरीरमे बाहर आत्मा है, है शरीरमे ही पर शरीरके स्वभावसे न्यारा है इस आत्माका स्वभाव। और भी सुनिये ! अपने आत्माका अभाव अर्थात् शरीरसे भिन्न आत्मा कुछ नही है, ऐसा जो तुम कहना चाहते क्या इसलिए कह रहे हो कि शरीरका स्वभाव है यह ज्ञान या शरीरका गुण है यह ज्ञान या शरीरका कार्य है यह ज्ञान ! इन तीन पक्षोका उत्तर पहिले खूब विस्तारसे दिया जा चुका है। ज्ञान शरीरका स्वभाव नही है, ज्ञान शरीरका गुण भी नहीं और ज्ञान शरीरका काय भी नहीं, क्योंकि ज्ञानका शरीर न तो उपादान कारण है और किसी किसी प्रसङ्गमे निमित्त कारण मान लो तो उसमे यह तो सिद्ध हो गया कि उपादान कुछ और है। वही तो आत्मा है।

चैतन्यस्वभावी आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि चैतन्यस्वभावात्मक आत्मा की सिद्धि बराबर प्रमाणसे है, इस कारण आत्माको ज्ञानस्वभावी मानना ही चाहिए ज्ञान आत्माका ही स्वभाव है और ज्ञान व्यवसायात्मक है। हम किसी पदार्थको जानते है जैसे कि यह दरी है इस ज्ञानमे दो बातें आ गयी- यह दरी है यह बात बिल्कुल ठीक है और मै यह जान रहा हू कि यह दरी है, यह मेरा ज्ञान बिल्कुल ठीक है। कोई दरीको तो सही बतायें—यह दरी ही है और संशय रखे कि मैंने जो जाना कि यह दरी है यह मेरा ज्ञान सही है या नही ये दो बातें एक साथ नहीं बन सकती। यदि अपने इस ज्ञानमे सन्देह हो, क्या है। तो दरीका भी निर्णय नहीं बनता। जो ज्ञान स्वव्यवसायी है वही ज्ञान परव्यवसायी बनता है। स्वका निर्णय करने वाला ज्ञान है, क्योंकि ज्ञान चैतन्यात्मक परिणमन है। जो स्व व्यवसायात्मक नहीं होता वह चैतन्यात्मक नही होता इसमें यह माना कि ज्ञान है और वह स्व और पर पदार्थों का निर्णय रखने वाला है ऐसा ही ज्ञान प्रमाण होता है। इस ग्रन्थमे प्रमाणके स्वरूपकी सिद्धि प्रथम ही प्रथम यो की कि यह दार्शनिक ग्रन्थ है और इसमे वस्तु तत्त्वका निर्णय किया जायगा। तो निर्णय तो प्रमाणसे होता है। तो पहिले प्रमाणके स्वरूप को ही ठीक करलें तब फिर निर्णयकी बात चलेगी। यो इस सूत्रमे ज्ञानको स्व व्यवसायात्मक सिद्ध किया है और वह ज्ञान मैं हूँ जो अपनेको जानता और परको भी जानता है।

परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

[षष्ठ भाग]

स्वपर निर्णायक ज्ञानका प्रमाणत्व—प्रमाणके स्वरूपमे यह व्यवस्था वतायी गयी कि प्रमाण ज्ञान होता है और वही ज्ञान प्रमाण होता है जो ज्ञान स्वय का और अन्य पदार्थोंका निश्चय करने वाला होता है। पदार्थोंका ज्ञान करे यह तो ज्ञानमे है ही बात, अन्यथा ज्ञान नाम किसका ? जानकारीका अर्थ ही क्या ? बाह्य पदार्थ जाननेमे आये तो ज्ञानका रूपक बनता है, पर इसके साथ ही साथ ज्ञानमे ऐसी कला है कि वह स्वयका भी निश्चय करता है यो ज्ञान स्व और पदार्थोंका निर्णय करने वाला हैं।

यहाँ ज्ञानकी स्व व्यवसायिताके सम्बन्धमे यह प्रश्न रखा जा रहा है कि ज्ञान द्वारा अपने आपको प्रत्यक्ष नही कर पाता क्योकि ज्ञान कर्म नही है। शङ्काकारका यह अभिप्राय है कि ज्ञानका रूपक बनता इसी प्रकार है जैसे कोई कहे कि मैं ज्ञानसे चौकीको जानता हूँ। तो यहाँ मैं तो कर्ता हू, ज्ञानसे यह करण है, चौकीको यह कर्म है, जानता हूँ यह क्रिया है। वाक्योमे कर्ता कर्म करण कार्य हुआ करता है ना। कर्ता और क्रिया ये तो प्रत्येक वाक्यमे होते ही है। इनसे कम तो कुछ होता ही नही है। पर और लम्बे वाक्य रहे तो उनमे कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये भी हुआ करते।

ज्ञानके स्वव्यवसायिताका निर्णय—यहाँ जाननेके प्रकरणमे चार बातें होती ही हैं कर्ता, कर्म, करण और क्रिया। ज्ञान जब कुछ जानता है तो उसका रूपक इन चार रूपोमे बनता ही है। तो शङ्काकारका यह अभिप्राय है कि प्रत्यक्ष तो केवल पदार्थ है। जिसको जाना वह स्पष्ट होता, शेष कोई स्पष्ट नही होते अथवा कोई मानता है कि कर्ता भी स्पष्ट हो जाता है, मैं जानता हूँ, पर ज्ञानसे जानता हूँ, यहाँ जो करण ज्ञान हैं साधन, जिसके द्वारा जाना गया वह प्रत्यक्ष नही हो पाता। यह शङ्का का अभिप्राय है।

ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेपर आपत्ति—अव शङ्काके विवरणमे अपना पक्ष रख रहा है शङ्काकार कि ज्ञानको यदि प्रत्यक्ष मान लिया जाय तो पदार्थकी तरह ज्ञान कर्म वन जायगा। जैसे मैं चौकीको जानता हूँ, इसमे स्पष्ट हो रही है ना चौकी।

तो यह कर्म है इस कारण स्पष्ट होता रहता यो ही यदि ज्ञान स्पष्ट हो जाय तो ज्ञान भी कर्म वन वैठेगा करण न रहेगा। तव जैसा पदार्थ भी कर्म वना और जिस ज्ञानसे जाना वह ज्ञान भी कर्म वन गया तो फिर इसका कोई कारण वतलावो जिसके द्वारा जाना गया यह कह सकें। जो कुछ भी अन्य ज्ञानका करण वतावोगे तो उसका भी प्रत्यक्ष वना तो वह भी कर्म हुआ। अव तीसरा कर्म ज्ञानान्तर वनावें। यो अनवस्था आ जाती है। यदि अन्य कारणोंसे अप्रत्यक्ष होनेसे करण मान लेते हैं तो प्रथक ज्ञानको करण माने। अप्रत्यक्ष माननेमे कौनसा ऐव है ? ये सब वाते शङ्काकार मान रहे हैं कि मैं ज्ञानसे चौकीका जानता हूँ इतने अशमे स्पष्टता चौकीकी होती है ज्ञानकी नही होती क्योंकि ज्ञान है करण और चौकीको यह है कर्म। तो कर्म ही स्पष्ट होता है। कर्म और करण न्यारी न्यारी वातें हैं। ज्ञान ही कर्म वन जाय यह नही वन सकता, क्योकि और जगह भी तो कर्म और करण जुदा नजर आता है। जैसे कोई कहे कि कुम्हार दड, चक्र, आदिकसे घडा वना है तो दड चक्र ये तो हुए साधन जिनके द्वारा वनाया गया और कर्म हुआ घडा। तो कर्म और करण न्यारी–न्यारी वाते हैं ना, एक न हो जायेगी। इसी प्रकार चौकी जानी गयी यह कर्म है और ज्ञानसे जाना यह करण है, यह वात तो सही है पर वही ज्ञान कर्म वन जाय, वही करण हो जाय यह नही हो सकता। यदि ऐसा हो तो घडा और दण्डचक्र ये भी एक वन वैठें ऐसा पूर्व पक्षकार शङ्का कर रहे हैं। उनके समाधानमे अ। यह ८ वां सूत्र कहा जा रहा है और उसीके हेतुमे ९ वां सूत्र कहा जा रहा है।

घटमहमात्मना वेद्मीति ॥ ८ ॥
कर्मवत् कर्तृकरणक्रियाप्रतीते ॥ ९ ॥

कर्मवत् कर्तृकरण क्रियाकी प्रतीति मैं अपने द्वारा घटको जानता हूँ, इसमे जैसे कमकी प्रतीति हुई है, घडेको जानता हूँ, इसी प्रकार यह भी प्रतीति हुई कि मैं जानता हूँ, ज्ञानसे जानता हूँ। जानता हूँ ये सभी वातें ता हमारे ज्ञानमे आ रही है। केवल कर्म ही हुआ तो प्रत्यक्ष वन सके यह वात ठीक नही है क्योकि फिर आत्मा आत्मा भी प्रत्यक्ष न रहेगा, जिस कारण हमारी जानकारीमे स्पष्ट नही है क्योकि करण नही है तो यह मैं आत्मा भी तो कर्म नही हुआ, तो यह भी स्पष्ट न रहेगा। यहाँ शकाकार आत्माका तो मानते हैं कि प्रत्यक्ष है और पदार्थको भी मानते कि इसका प्रत्यक्ष हो रहा पर ज्ञानको नही माना। ज्ञानको अस्वसम्वेदी माना, तो ज्ञान खुदको नही जानता और खुदका उसमे कोई स्पष्टीकरण नही है। यहाँ सिद्धान्तकी वात इतनी पहिले समझ लीजिये कि जब हम यह जानते हैं कि मैं ज्ञानसे चौकीको जानता हूँ तो इस प्रक्रियामे सभी सब वातें हमारी जानकारीमे स्पष्ट वनती हैं। मैं जानता हूँ यह भी अच्छी तरहसे ज्ञात हो जाता है। मैं अपने द्वारा जानता हूँ, ज्ञानसे ही जानता हूँ यह भी स्पष्ट है। चौकीको जानता हूँ यह भी स्पष्ट है, जान रहा हू यह

भी स्पष्ट है तो प्रतिभास कर्मरूपमे ही आया तो स्पष्ट हो यह नियम नही है। कर्तारूप से भी प्रतिभास हुआ, करणरूपसे भी प्रतिभास हुआ, वह सब स्पष्ट होता है। देखिये, यह सब कथन अपने आप‌ हमारे आपके चल रही है। कोई ऊँची बात बाहरकी नही कही जा रही है। हम आप ज्ञानस्वरूप हैं निरन्तर जानते रहते हैं तो यह जानन कैसे हुआ करता है ? और हम जानने वाले क्या है ? इसकी ही चर्चा है इसमे । कोई परोक्षभूत अट्ट सट्ट यहाँ वहाँकी चर्चा नही है। ध्यानपूर्वक अपने आपकी ओर दृष्टि रखकर बाहरकी चिन्तायें छोडकर सावधानीसे सुना जाय, मनन किया जाय तो सब बाते स्पष्ट होती चली जाती हैं। यहाँ सिद्धान्त यह बताया जा रहा है कि जानकारी के समयमे जो जाननेवाला है वह भी जाननेवालेको स्पष्ट है। जिसको जाना जा रहा है वह पदार्थ भी प्रतिभासमे आ रहा है। जिस ज्ञानसे जिस श्रमसे, जिस पदार्थसे जाना जा रहा है वह ज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासमे आता है और जान रहा हो ऐसी क्रिया भी उसके प्रतिभासमे हैं या यो समझ लीजिए कि सभी ये ज्ञानकी स्थितियाँ हैं।

स्वपरको जाननेमे मात्र आत्मा ही समर्थ – यह मैं आत्मा हूँ सो ज्ञानमय ही तो हुआ और जिससे जाना है वह भी तो मेरा स्वरूप है और जो जाननेकी क्रिया बन रही है वह भी तो मेरी ही परिणति है। ये कोई जुदी जुदी चीजे नही हैं, बल्कि अध्यात्म दृष्टिसे देखिये तो यह आत्मा जानता भी खुदको ही है, पदार्थोंको साक्षात् नही जानता। पदार्थोंको जानता है यह व्यवहार तो है मगर साक्षात् कर्ममे, जाननेकी क्रियामे यह आत्मा खुद ही है। पदार्थ साक्षात् कर्म नही है। पर साक्षात् कर्म नही है, पर साक्षात् कम जो यह मैं आत्मा हूँ और वह जिस प्रकारसे इस ज्ञानमे लाना गया है वह किसी अर्थाकाररूपसे परिणत हुआ ज्ञान जाना गया है। तो चूँकि इस ज्ञानका विषय चौकी आदिक पदार्थ पडा है इस कारण हम यह उपचारसे कहते है कि मैं चौकीको जानता हूँ । निश्चयदृष्टिसे अनेक अपनेको ही करते है, अपने व्यापारसे करते हैं। कोई भिन्न कर्म नही और भिन्न करण नही, इस दृष्टिसे निहारे तो सर्वत्र आपको यह अभिन्नता मालूम होगी। व्यवहारमे तो हम अनेक बाते कहा करते है जैसे दोपहरके समय दिनमे किसी पुरुषकी जो छाया पडती है मैदानमे तो यह कहा करते हैं ना कि यह पुरुषकी छाया हैं, पर पुरुषका जो कुछ है वह पुरुषके शरीर मे ही समाया हुआ है, पुरुषके शरीरसे बाहर नही है। छाया क्या पुरुषके शरीरमे समायी है या पुरुषके शरीरसे अलग जमीनपर है ? जमीनपर है तो वह छाया परिणमन पुरुषका नही हैं किन्तु जमीनका परिणमन है। वहाँ पुरुष निमित्त कारण है, आश्रयभूत है, निश्चयदृष्टिसे कुछ निर्णयकी बात कही जा रही है।

समझने समझानेमे ज्ञानका ही महत्त्व – इस प्रसङ्गमे कोई वक्ता उपदेश करता है श्रोतागण सुनते हैं, समझते हैं तो व्यवहार यह है कि अमुक विद्वान् लोगो को समझा रहा है। लेकिन निश्चयदृष्टिसे निहारिये कि विद्वान क्या लोगोको समझा

रहा है ! नही, लोग समझ रहे हैं अपने परिणमनसे। उसमे विद्वान् क्या करेगा ? कोई अज्ञान श्रोता हो, न समझे तो उसे विद्वाए क्या समझा देगा ? विद्वान तो अपनी इच्छाके अनुकुल कल्पनाएँ करेगा, इच्छा, कृपा जिस प्रकारका भी भाव होता है उस भावका निमित्त पाकर उसके आत्मामे उसका योग चला है। उस योगके निमित्तसे शरीरमे उस प्रकारकी वायु चली। और उस वायुसे प्रेरित होकर जीभ, ओठ वगैरह चले। उस निमित्तमे ये शब्दवर्गणाये अमुक अमुक शब्दरूप परिणमी। इन सब बातो मे ज्ञान इच्छा प्रयत्न ये सब कारण पड रहे हैं किन्तु विद्वानने जो कुछ किया है वह अपने आपके आत्मामे किया है दूसरेका कुछ नही किया। कहा यह ला रहा है कि निश्चयदृष्टिसे प्रत्येक पदार्थ अपने आपका कर्ता है कुछ भी करे तो इसी तरह निश्चयसे यहाँ हम अपने आपको जानते हैं, घट आदिक पदार्थोंको नही जानते। तब जो यह कहा है शकाकारने कि जो करण बनता है वह कर्म नही बनता यह बात तो नही रही। निश्चयसे तो वही पदार्थ अपने कामके लिये करण भी है, कर्म भी है, कर्ता भी है और फिर दो प्रकारके प्रसङ्ग होते हैं करण होता है एक ज्ञायक और एक कारक ज्ञायकका अर्थ है- ज्ञान करना कराना और कारकका अर्थ एक ज्ञान क्रियाको छोड कर बाकी जो परिणतियाँ होती हैं उनमे कारक कारण है। इन दोनोमे फर्क है। कारकमे तो जो कारण है वह ज्ञात न हो तो भी काम करता है, पर ज्ञापकमे जो करण है ज्ञान वह ज्ञान न हो तो काम नही बन सकता। जैसे हम चले जा रहे हैं या पीछे पैर हटाया और अग्निपर पैर पड गया तो अग्नि जला ही देगी। न भी कभी ज्ञानमे आये, अज्ञात है वह करण पर वह है कारकरूप करण ! लेकिन जानकारियाँ जितनी होगी उन सब जानकारि.ोको करने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान हमारे उपयोग मे स्पष्ट प्रतिभासित रहेगा। तो ज्ञायक कारण अज्ञात होकर नहीं बनता। अन्य-अन्य तो अज्ञात होकर बनते हैं।

अज्ञानीकी विपरीत मान्यता—यहाँ अपने ज्ञानकी चर्चा चल रही है कि हम जो ज्ञान करते हैं वह किस ढगका करते हैं कितना हमारा महान ऐश्वर्य हैं कितना हम स्वाधीन हैं अपने कार्योंके करनेमे। मोही अज्ञानी पुरुषोंने यह मान रखा है कि मैं घर चलाता हूँ। दूकान करता हू, व्यवसाय करता हू अमुकको पालता हू और इस मान्यतासे जो बात घटती है जो प्रसङ्ग आते हैं वे सब पराधीनताके आते है और इसी कारण बहुत बहुत इस बीचमे परेशानी भी होना पडता है और इसी परेशानीसे हम भिन्न-भिन्न रूपोसे इन सब साधनोंके मान रहे हैं, पर यह दृष्टि नही गयी कि यह मैं आत्मा केवल जानने भरका काम किया करता हू, जब मैं रागद्वेप भावोंसे विगड भी जाता हू और वहाँ बहुतसे वैभवोका सचय करना, अनिष्टका विगाड करना, किसी चीजका विनाश करना, किसी चीजको प्रीतिसे रखाना अनेक बातें होती रहती हैं वहाँ पर भी ये सब कुछ नही किए जा रहे, केवल अपने ज्ञानका परिणमन किया जा रहा है। कल्पनारूपसे, विकृत रूपसे एक ज्ञानको पकडा जा रहा है, चीजमे कुछ नही किया

जा रहा है यह दृष्टि नही पहुचती और चाहे हम अपने विगाडका ज्ञान वनायें चाहे अपने सुधारका ज्ञान वनायें, वनाते तो हम ही है ना। अपने द्वारा वनाते हैं। इसमे पराधीनता नही है हाँ पराधीनता है तो वह निमित्तरूपसे है, पर, पर किसीके आधीन हम एक साक्षात् हो जायें उपादानतया हो जायें यह वात नही वनती। पदार्थका जैसा स्वरूप है वह दृष्टिमे आ जाय तो फिर इस जीवको क्लेश ही न रहेगा।

दुर्लभ मनुष्यजन्मके कर्तव्य– अनन्त कुयानियोमे भ्रमण करके आज यह मनुष्य पर्यायमे आया है इस पर्यायमे आकर वास्तवमे करने योग्य काम क्या है इसका भली प्रकार निर्णय करना चाहिए अनादिकालकी अविद्याकी वासनासे प्रेरित होकर जैसा मनने चाहा वैसा ही अपने हितके लिये निर्णय वनायें वह तो आत्माके हितमे न हो गा तपश्चरण वास्तविक यही है। अपनी अन्तर्वृत्तिको निर्मल स्वच्छ वनायें। अपने आपको सवसे न्यारा देखे। जैसे जलमे रहते हुए भी कमल जलसे भिन्न है इसी प्रकार समागमोमे रहते हुए भी आत्मा समागमोसे भिन्न रहे ऐसी वृत्ति वने तो हितका उपाय वनेगा। देखिये कमल जलसे ही तो उत्पन्न होता और जलमे न रहे तो कमल सुख भी जायगा, उसका पोषण भी जलसे ही हो रहा है इतनेपर भी कमल यदि जलमे आ जाय, जलसे ऊपर न रहे तो भी वह सड जायगा। जलसे कमल अपना पोषण उतना ही लेता है जितना चाहिए। और वह जलसे ऊपर शेस उठा रहता है, जलमे मिलता नही। जलमे लीन नहीं होता। जलमे लीन हो जाय तो कमल नष्ट हो जायगा इसी तरह गृहस्थ भी घरमे ही उत्पन्न होता है, उन परिजनोमे ही पल रहा है। वहीसे पोषण मिल रहा है। यदि गृहस्थ घर वार छोड दे, पागलोकी नाई फिरे तो वरवाद होगा कि नही। गृहस्थ रहता हुआ घरको विल्कुल अव्यवस्थित वना दे तो उसे लोग पागल कहेगे। फिर रहता क्यो घरमे ? और यदि वह घरमे ही लीन हो जाय, जैसे कि कमल जो ऊपर प्रफुल्लित फूला हुआ है वह अपनी ऊँची जगह छोडकर पानीमे ही आ जाय तो भी कमल सड जायगा।

पर पदार्थमे आशक्तिसे अनेक दुःखोका जन्म—इसी प्रकार गृहस्थ यदि घरमे ही लीन हो जाय तो दुःखी होगा, वरवाद होगा। तो जलसे भिन्न कमलकी उपमा गृहस्थके लिए कई दृष्टियोसे फिर वैठती है। तत्त्वज्ञान हो तो परिस्थितिवश घर भी रहना पडे फिर भी यह घरसे निर्मल अपने आपका अनुभव कर सकता है, इस ही मे हित है। अनन्त कुयोनियोकी भाँति यदि अव भी आहार, सज्ञा, भय, मैथुन परिग्रह चार सज्ञावोके ज्वरसे पीडित वने रहे और उस पीडाको शान्त करनेके लिए इन्ही सज्ञावोकी चिकित्सा करे, आहार, भय, मैथुन, परिग्रहका प्रयोग करें तो इसमे आत्मा की पूरी वरवादी है और जिस आत्मदेवका प्रसाद पाकर आज मनुष्य हुए हैं। कुछ पुण्यवत्ता मिली है, यदि हम इस ही आत्मदेवपर प्रहार करें विषय कषायोमे लीन होकर, तो क्या गति होगी ? जो गति पहिले थी निगोदकी वह होगी। जो हम आज

का इस मनुष्य गतिमे कितना अधिक उत्तर दायित्व है इसका भान करें। यह भव एक ऐसी स्थितिमे है कि हम अपने आपको चाहे प्रयत्न करें तो ससारके सकटोंमे सदाके लिये छुटकारा पा सकते हैं और यही प्रमाद करें तो जैसे अब तक ससारमे रुलते चले आये है इसी प्रकार रुलते चले जानेका ठेका भी वना सकते हैं ।

पर पदार्थोंकी सग्रहकी भावना ही दु खोका मूल वडी जिम्मेदारीका यह मनुष्यभव है। इस यो ही परिग्रहकी लालसावोमे विषय कषायोंके विकारोंमे अपने आपको फसा दिया तो यह कोई बुद्धिमानीकी बात नही है। देखिये ! लोग कहते हैं कि सस्ती चीज आखिर बहुत मँहगी पडती है। वाजारमे कोई सस्ती चीज अगूर या सेव वगैरह ले आये तो वे किसी कामके नहीं रहते। कोई सेव तो मिलते हैं १॥ रु० किलो और कोई मिलते हैं ८ रु० किलो। तो ८ रु० किलाकी चीज १ छटाँक लेकर खा ले तो वह तो खाने योग्य है पर १॥ रु० के एक किलो वाले सेव खाने योग्य न रहेंगे। इसीमे तो लोग कहते हैं कि सस्ती चीज पूरी मँहगी पडती है। तो हम आप सबने यह दुर्लभ मनुष्यभव पाया है, कुछ पुण्यका उदय भी है और यहाँ भोग उपभोग के साधन मिले हैं ये सब भोग वडे सस्ते लग रहे हैं, ये आखिर कितने मँहगे पडेंगे ? न जाने कैसी गति मिलेगी ? कहाँ भटकना होगा ? कैसी स्थितिमे रहेंगे ? सारी बरवादी ही रहेगी। अपने आपके भीतर समझ वनायें और धर्मके आयतनमे अपना अनुराग वढायें, वाह्य अर्थोंकी उपेक्षा करें, इससे ही आत्महितका मार्ग मिलेगा।

ज्ञानके स्वरूपकी सिद्धि—ज्ञानके स्वरूपकी चर्चा चल रही है कि यह ज्ञान परपदार्थोंका तो परिज्ञान करता ही है, स्वका भी परिज्ञान करता है और केवल इतनी ही वात नही है कि ज्ञानसे ही प्रतीति होती, उसके साथ जो जाननहार आत्मा है उसकी भी प्रतीति रहती है, जिस पदार्थको जाना है उसकी भी प्रतीति रहती है। जिस स्वरूपसे ज्ञानको जाना जाता है उसकी भी प्रतीति रहती है और जानन क्रिया की भी प्रतीति रहती है। केवल जो कर्मरूपसे प्रतिभासमे आया, वही प्रत्यक्ष है ऐसा नहीं। पदार्थका कर्मरूपमे प्रत्यक्ष है, आत्माका कर्तारूपसे प्रत्यक्ष है, ज्ञानका कर्मरूपसे प्रत्यक्ष है और जानन क्रियाका क्रियारूपसे प्रत्यक्ष है। जब अन्तरमे दृष्टि डाली जाती है तब ये सब लीलायें विदित होती हैं। मैं क्या हूँ, किस रूप हूँ, सबका सब स्पष्ट भान होता है और ऐसा भान होना अन्तरदृष्टि दे करके यह तो है अध्यात्म मार्गका विलास लेकिन अध्यात्म पथसे भी पूरा न देखो दर्शनशास्त्रकीदृष्टिसे देखो तो युक्तियो मे फिर यह सिद्ध है कि ज्ञान करणरूपसे प्रत्यक्ष होता है। इस शैलीसे ही ज्ञानका रूपक वनता कि मैं ज्ञानके द्वारा घट आदिक पदार्थोंको जानता हूँ। शायद यह कहो कि आत्माकी तो प्रत्यक्षता हो जायगी, क्योकि वह कर्ता है पर करणभूत जो ज्ञान है चूँकि वह करण है, साधन हैं इस कारण उसका प्रत्यक्ष न होगा कि चलो आत्माको तो प्रत्यक्ष माना, फिर जैसे वह आत्मा अपने आपके स्वरूपको जानता है इसी प्रकार

बाह्य अर्थोंको भी यह आत्मा जानता है यो मान लिया, फिर बीचमे परोक्ष ज्ञानकी कल्पनासे क्या लाभ है ? यह अस्वसम्वेग ज्ञान मानने वाला सैंद्धान्तिक ज्ञान सर्वथा परोक्ष ही माना हैं, पर बात वहाँ कुछ अलग अलग तो नही है।

ज्ञानपरिणति द्वारा ज्ञानमय क्रियाकी सभवता—ज्ञानमय आत्मा ज्ञानमय वृत्ति है, ज्ञानमय परिणतिसे ही ज्ञानमयकी क्रिया है तो वहाँ सब कुछ कर्ता करण क्रिया सभी स्पष्ट हैं। एक स्पष्ट है कुछ भी चीज तो सभी स्पष्ट है, इतनी विचित्रता की बात लोकमे हो रही है कि विरले विवेकियोको छोडकर शेष समस्त यह ती। लोक अपने आपकी बातको समझनेमे परेशानी अनुभव करता है और जगतके बाह्य पदार्थोंसे यहाँ वहाँके पदार्थ समूहको जाननेमे बडी सुगमता समझता है जाननेमे, उस का परिचय पानेमे, तो जैसे हमारा आत्मा हमारी प्रतीतिमे आता है कि मैं जानता हू।

आत्माके वैशिष्टचकी सिद्धि—इसी प्रकार मैं ज्ञानके द्वारा जानता हू यह विधि भी प्रतीतिमे आती है। जब आमा ही जानने वाला हो तो आत्माकी ये दो विशेषतायें होगी कि अपनेको भी जाने और परको भी जाने। करण भेद ज्ञान कोई आत्मासे भिन्न बात नही है, फिर परोक्षज्ञान कल्पनासे लाभ क्या ? यदि ऐसा बतावोगे कि साधनके बिना कर्ताका क्रियाव्यापार नही हुआ करता। जैसे देवदत्त कुल्हाडी से काठको काटता है तो तो काटने योग्य कर्मका व्यवहार देवदत्त कुल्हाडीके बिना नही कर सकता। इसी तरह मैं घटको जानता हूँ तो जानन क्रियाका व्यापार किसी क्रियाके बिना नही बन सकता अतएव करण माननेकी आवश्यकता है। यह भी आपका कहना यो ठीक नही, आखिर मन और इन्द्रिय तो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग करण हे, वह भी परोक्ष हे, फिर अन्य ज्ञान परोक्षकी कल्पना करनेसे लाभ क्या ? वह कर्ता है, आत्मा जानता है और उसमे यदि कहे कि सिद्धान्तकी जरूरत हो तो मन है और इन्द्रिय है। यदि कहो कि मन इन्द्रिय चेतन है, केवल चैतन्य करण प्रधान होगा तो जो भी चैतन्य होगा वह चैतन्यसे अभिन्न है, उसे समझनेके लिए एक करण बना लिया। जैसे कहा जाय कि साँप जब गोल मटोल बन जाता है तो उसमे कर्म क्या हे ? धन क्या है ? किसी दूसरेने बनाया क्या ? और वह अपने आपके परिणमनसे इस प्रकार कलाकार बन गया। ऐसा आत्मा जब कुछ जानता है तो उस जाननेके लिए कोई नये भिन्न परोक्ष ज्ञानके सम्बन्धकी जरूरत है क्या ? आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप है। जब जानता है तो अपने आपके परिणमनसे जान लेते हैं। देखिये अपने आपमे अपने इस अद्वैत आत्माको ब्रह्मको देखियेगा।

प्रत्येक द्रव्यकी सिद्धि स्वरूपसे ही—समस्त पदार्थ अद्वैत हैं। सब मिल कर एक नही किन्तु जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने अपने स्वरूपमे किसी दूसरेका सम्बन्ध नही है, इस कारण प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे अद्वैत हैं, सारा पदार्थ सारा जीव लोक, सारा चराचर समस्त अद्वैत है। यह बात ठीक नही, किन्तु प्रत्येक एक

एक पदार्थ अपने आपके स्वरूपमे केवल है, अद्वैत है, अब जरा केवल अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि करके सोचिये तो सही क्या है ग यहाँ ?बहुत बहुत त्रुटियोंसे भी क्यों समय खोया ? जो बात खुदकी है, खुदमे है, खुदके देखनेसे जानी जा सकती है तो जरा दृष्टि डालें और जान जाये कि मैं क्या हू , कैसास्पष्ट हू, किस रूप हू, उसके लिये अनेक श्रम क्या करना ? विदित हो जायगा कि यह मैं क्या हू । देखिये आत्मनिधि को बाधा देने वाला है विषय कषायका परिणाम । हम आप सब परिपूर्ण हैं, अपने परिपूर्ण स्वरूपका बोध न होनेसे बाह्य पदार्थोंकी आशा कर करके हम अधूरे बनते जा रहे हैं कल्पनामे । इसपर भी पूर्ण हैं । कुछ लोग बड़ा सिद्धान्त रखते है कि वह पूर्ण है यह पूर्ण है । देखिये संस्कृत भाषा मे जितने ही शब्दों के ऐसे मर्म होते हैं कि किसी किसीका मर्म बतानेके लिए हिन्दीमे शब्द नही होते । बड़ी कठिनाई होती है – इद और अद इन दोनो शब्दोमे क्या अन्तर है ? यो तो दोनोंका अर्थ य है पर अद के यह अर्थमे और इदके यह अर्थमे कुछ अन्तर है, किसी अन्तपर कुछ दृष्टि साम्य रखकर फिर यहकी कल्पना करके उसे वर्तमानतया बोलना यह तो हैं अद कर्म और इद एक साधारणतयाके लिए कहा जाता है । वह पूर्ण है यह पूर्ण है अच्छा प्रभु परमात्मा सिद्ध पूर्ण हैं कि नही ? शुद्ध निर्मल अनन्त आनन्दरसमे लीन कृतकृत्य जैसे अब कुछ करनेको नहीं रहा वैसा ही स्वरूप तो अपना है पर यहाँ क्या हालत हो रही है । कौन ठिकाना है, कब ससारके सकट छूटेंगे, कितने सकट लगे हैं ।

परमे एकत्व ही उपसर्गका हेतु सब बाह्य दृष्टिका परिणाम है । जिस दृष्टिसे जिस प्रयत्नसे हम दु खी हो रहे हैं उसी प्रयत्नमे मौज मानते हैं । यह कितना बड़ा भारी उपसग है हम आप सब परमात्म प्रभुवोके ऊपर नही तो कष्ट क्या है ? जहाँ हो वही बैठे रहे । जिस क्षेत्रमे आपका स्वरूप है वही और अन्त प्रवेश करके स्थित हो जाय तो फिर कौनसा सकट है । जहाँ इस अपने विवेकमय पुरुषार्थसे चुके और इन इन्द्रियोमे बाहरमे कुछ व्यापार किया लो सारे सकट एक साथ उमड आये । कुछ इष्ट जचा कुछ अनिष्ट जचा किसी से राग हुआ, किसीसे द्वेष हुआ, और जो मनमे इन्द्रियमे जैसी जो कुछ वर्तना चाहिए उस तरह बतनेको विवश हो गए, सारे सकट सामने आ गए, अब दूसरोसे व्यवहार चलने लगा ना, तो दूसरे भी विषय कसायो वाले पुरुष हैं उनके भी स्वाथ लगा हुआ है, वे अपने स्वाथमे रहा करते हैं । तो अब ये सब बातें चल उठी विरोधकी, झगडेकी, विवादकी सकट माना जाने लगा ।

ज्ञानमय स्वरूपकी रुचिसे ही सकटका अन्त - हाँ कितने ही सकट हो परवाह नही । जरा अन्त दृष्टि दे तो दीजिए- यह मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप मात्र हूँ । इतनी झाँकी आये लो सारे सकट कहाँ हैं अब ? वह तो शान्त आनन्दमय अपने आपमे अपने आपकी दृष्टि नहीं जगती इस कारण इतनी परेशानी उठा रहे हैं यह है इस समयके जीवलोककी स्थिति । पर यह सिद्ध भगवान जिसके चक्रको पूजा

है, चक्र म यो स_ूह और वहाँ भी इस भगवानका चक्र समझमे नही आता।

वस्तुके मर्मज्ञके ही दुःख निवृत्ति— एक स्तुतिमे यो बोलते हैं ना - जो एक माहि एक राजै एक माहि अनेकको सुनते भी ऐसा झट लगा होगा कि यह क्या चक्र है यह प्रभु कैसे हैं कि एकमे एक ही हैं, फिर क्या यह वैठे है—एकमे अनेक है, इन दो वातोका क्या मतलव है ? यह सिद्ध भगवान एकमे एक हैं एकमे अनेक हैं और फिर क्या कह वैठे तीसरी वात ? एक अनेकनकी नहि सख्या, वहाँ एक अनेक की भी कोई वात नही है ऐसे नमो सिद्ध निरञ्जन। यह सिद्ध चक्रकी वात कहाँ है। क्या मर्म है। मर्मी होय मरम सो जाने। जानना कोई कठिन वात नही है। आपके घरकी पतेकी बात है वहाँ। जैसे आपका किसी बडे श_र कलकत्ता बम्बई शहरमे वडा काम हो, पर उसकी डोर यहाँ आपके पास है, आप घर वैठे ही उस कामकी सारी व्यवस्था बनाते हैं, तो स्वरूपके नातेसे वह समस्त सिद्ध चक्रकी डोर आपके पास है और यहाँ वैठे वैठे आप उनकी व्यवस्था भी बता सकते हैं। क्या है वहाँ ? एकमे एक राजे दूसरा नही। एकमे दूसरा सिद्ध नही है, एकमे एक ही सिद्ध है, दूसरा वहाँ हो ही नही सकता। कैसे ? कहते तो यो हैं—एक माहि अनन्त मुनि मोक्ष गए हैं और जो जहाँसे मुक्त हुए है वे सीधा यो ही विराजमान होते हैं। लोक शिखरपर तो एकमे अनेक है कि नही। जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनेक सिद्ध हैं, हाँ यह तो वात ठीक है लेकिन यह भी पूर्ण ठीक है कि जो एक सिद्ध हैं, एक स्वरूप हैं उसमे वही राज रहा है। उसका ही ज्ञान आनन्द उसका ही परिणमन वह अपने ज्ञानसे अपने आनन्दसे परमात्मविलास भोगता है, उसी जगह चाहे दूसरे सिद्ध भी अनन्त है लेकिन वे भी एक एक अकेले अकेले अपने ही स्वरूपमे अपने आपका गुण परिणमन कर रहे हैं तव एकमे दूसरा है क्या ? एकमे एक ही रह रहा है और जब यहाँ देखा तो लगा कि एकमे अनेक रहे हैं इसपर फिर क्या कहा— अरे नही एक अनेकनकी नही सख्या, जब एकमे अनेकको दृष्टि डाली थी तव तो बुद्धि वहुत वाहर थी, गुण और पर्यायमे दृष्टि न थी। द्रव्यमे, पिण्डमे व्यक्तिमे दृष्टि थी और जब एकमे एकको देखा तब कुछ भीतर तो आया, पर वहाँ भी प्रतिव्यक्ति गुण पर्यायोकी नजर रखी गयी तव यो लगा कि एकमे एक ही विराज रहा है।

भक्त की प्रार्थना - अब जरा और अन्तर दृष्टि गयी तो वहाँ केवल स्वरूप मात्र नजर आया। एक अनेकको भी सुध भूल गए। अव एक अनेकको नही सख्या, ऐसे निरञ्जन सिद्धको नमस्कार हो' यही है सिद्धचक्र। सिद्ध समूह है और उसका मर्म समझनेमे कुछ चक्र सा लग रहा है और कुछ स्पष्ट सी वात है। हमारा नाता है चैतन्यस्वरूपके नातेसे हम उनके विलासको समझ सकते हैं पर परमात्माके विलासको समझनेके लिए हममे अपने आपमे कितनी पवित्रता होनी चाहिए तव समझा जा सकता है ? वह पवित्रता जगे और प्रभुमे ही हमारी भक्ति रहे वहाँ ही हमारी एक

डोर रहे, विहार रहे, ऐसी प्रार्थना भक्तकी होती है।

जिज्ञासुको परमात्मतत्त्व सुलभ—तो यह ज्ञायक स्वभाव जो अत्यन्त है, स्वाधीन है, जिसके निहारनेमें भी आनन्द है, ऐसे आनन्दधामकी दृष्टि छोड दे और यहाके समागमोमे मुग्ध रहें परिवारमे, वच्चोंमे, धनवैभवमे और बहिर्मुख दृष्टि रख रख कर अपनेको आकुलित बनायें तो अपने आपमे कुछ चिन्तन तो कीजिये कि हम कितना अपने आपपर उपद्रव ढा रहे हैं।

जीवमात्रमे परमात्मतत्त्व निहित—यह प्रभु प्रभुकी प्रभुता कुछ साधन जोड करके बनायी जाती है क्या ? जितने भी साधन जुडते हैं वे प्रभुकी प्रभुता प्रकट करने लायक मुझमे पवित्रता रहे उसके लिए जुटाये जाते हैं पर प्रभुता तो प्रभुमे स्वय प्रकट होती है। इसी कारण प्रभुका नाम स्वयभू है वह स्वय स्वयमेसे हुए हैं। पत्थर की मूर्ति और मिट्टीकी मूर्ति बनानेमे कुछ क्रियावोका अन्तर है कि नही ? पत्थरकी मूर्ति किस तरह बनायी जाती है और मिट्टीकी मूर्ति किस तरह बनायी जाती है। अरे, मिट्टी लाये, उसे सानी, उसमे और और मसाले ला कर डाले, उसके लोदा बनाये फिर उसकी मूर्ति बना ली। इस काममे तो वाहरमे चीजें जुटानी पडी और उनका पिण्ड बनाना पडा तो मिट्टीकी मूर्ति बनानेसे लावो—लावोका काम रहा। मिट्टी लावो, मसाला लावो, अमुक चीज लावो आदि। और, पत्थरकीकी मूर्तिमे हटावो हटाओका काम है। कई पाषाण है जो उसमेसे निकाला जाना है वह कहीसे वाहरसे नहीं लाना है। वे अवयव जो पत्थर हटानेके वाद प्रकट होगे, वे अवयव पहिलेसे ही हैं। अब किया यह गया कि छेनी हथौडीसे उस अवयवको आवरण करने वाले जो पाषाण हैं, उन्हे हटाया है। हटाओ—हटाओका काम चल रहा है, लावो—लावोका काम नही चल रहा है। तो ऐसे ही जो परमात्म पदका विकास है, प्रभु होनेकी वात है वह हटावो हटावोसे बनेगी, लावो लावोसे न बनेगी। जैसे एक वह पाषाण जिसमे बिम्बके अवयव पहिलेसे उपस्थित हैं, आवरण हटाये और वह प्रकट हुई है। इस ही प्रकार हम आप सवके स्वरूपमे वह चैतन्यस्वभाव, वह परमात्मत्व सबमे उपस्थित है, उसका आवरण करने वाले जो विषय कषायोंके परिणाम हैं तत्त्वज्ञानकी छेनी—हथोडीसे उन्हे हटावो हटावोका काम करिये। स्वरूप तो है ही परमात्मतत्त्वका। परिपूर्ण है वह स्वय प्रकट हो जाता है। इसी कारण प्रभुको टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वरूप कहा गया है।

टकोत्कीर्णवत् ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टिसे अनाकुलत्वकी सिद्धि—टकोत्कीर्णवत् निश्चल प्रभुत्वपर हमारी दृष्टि जाय, उस ओर हमारा मुख मुडे, हम उसे सर्वस्व समझते रहें तो यह बडे सुख—शान्तिकी वात होगी। पराधीन मायामयी जन्म मरणके दु खसे जो स्वय दुखी हैं, कलङ्कित हैं ऐसे ही लौकिक जनोंमे मोह और स्नेह भाव रखनेसे इस आत्माका क्या पूरा पडेगा ? खूब समझ लीजिये ! कितना दुर्लभ

समागम हम आपने प्राप्त किया ? जैनशासनका पाना, जैनशासनका वातावरण पाना और इस जैनशासनके तत्त्वके मर्मोकी बात सुनना जानना समझना यह तो और भी उत्तरोत्तर दुर्लभ बात है। प्रथम तो मनुष्य ही बनना दुर्लभ है, पर मनुष्य होकर बुद्धि सही रहे, अच्छे कुलमे उत्पन्न हुए, अच्छे देशमे जन्म हो जाना, जैन शासन जैसे अहिंसात्मक और केवल वस्तुस्वरूपको निहारनेका उपदेश करने वाले और उस हीके आचरणके लिए मार्ग बताने वाले जैनशासनका लाभ होना कितनी दुर्लभ बाते हम आपने प्राप्त की हैं। इतना श्रेष्ठ सर्वस्व पाकर भी हम अपने आप तत्त्वज्ञानकी ओर न मुडे और अन्य लौकिक जनोकी भाति विषय कषायोमे ही अपना उपयोग रमाये तो यह कितने बडे खेदकी बात होगी। सकल्प करिये कि प्रभुभक्ति तो करेगे ही रोज, पर तत्त्वज्ञान जगाये रहनेके लिये एक घण्टा समय स्वाध्यायमे या पण्डितोंसे शिक्षा ग्रहण करनेमे किसी भी प्रकारसे तत्त्वज्ञानके लिए भी समय लगे, ऐसा अपना सकल्प बनायें और अपनेमे अपनेको निरखकर प्रसन्न होवे।

आत्मामे कर्ता, करण, क्रियाका एकत्व आत्मा जानता है तो इस शैली से जानता है जैसा कि मैं ज्ञानके द्वारा चौकीको जानता हूँ, इसमें चार चीजें आयी। मैं यह तो कर्ता हुआ, चौकीको यह कर्म हुआ, ज्ञानके द्वारा यह करण हुआ, जानता हूँ यह क्रिया हुई। शङ्काकार यहाँ सिफ करणको प्रत्यक्ष नही मानता, कर्ताको भी प्रत्यक्ष नही मान रहा, कर्मको प्रत्यक्ष मानता है, क्रियाको भी प्रत्यक्ष मानता। इसके सिद्धान्तसे जानने वाला मैं भी प्रतीतिमे हुआ। चौकीको जाना वह भी प्रतीतिमे है जानता हूँ यह फल भी प्रतीतिमे है। किन्तु जिस ज्ञानके द्वारा जानता हूँ वह प्रतीति मे नही है ऐसा इसका मतव्य है। इस सम्बन्धमे बहुत सी बातें बतायी भी है और अब यह बतला रहे है कि ज्ञानरूप जो करण है वह तो कर्तासे अभिन्न है, वह तो कहने मात्रका करण है। करण तो जड है चक्षु है। छद्मस्थ पुरुषोंके ज्ञान होनेमे करण तो मन और इन्द्रिय है जिनका निमित्त पाकर जानते हैं। ज्ञान तो आत्माकी शक्ति और परिणमन है ज्ञान तो स्वसविदित है।

ज्ञानके आत्माकी शक्ति एव परिणतिकी उपादेयता – शङ्काकार कह रहा है कि इन्द्रिय और मन तो अचेतन है, अतएव करण रहे आये, किन्तु उस करण की प्रधानता नही है। ज्ञान चेतन है इस लिए यहाँ प्रधान करण वही है, यह भी बात युक्त नही बैठती क्योकि भाव इन्द्रिय और भावमन ये तो चेतन माने गए हैं और भाव इन्द्रिय भावमनमे भी अगर परोक्षपना सिद्ध करें तो वह भी ठीक है क्योकि जो लब्धिरूप इन्द्रिय मन है वह परोक्ष है किन्तु उपयोगरूपसे जो इन्द्रिय और मन चलता है वह तो परोक्ष नही, प्रत्यक्ष है। यहाँ परोक्ष और प्रत्यक्षका तात्पर्य दार्शनिक पद्धति से लेना है। जैसे मैं चक्षु इन्द्रियके द्वारसे चौकीके ग्रहणमे उपयुक्त हुआ हूँ तो मैं चौकी को देख रहा हूँ अन्यको नही इसी प्रकार अपने अर्थको ग्रहण करनेका जो व्यापार है

वह स्वसम्वेदन सिद्ध है। मैं जो कुछ जाक रहा हूँ और जो कुछ भीतरी वात वर्त रही है उसे दूसरे जन चाहे न जानें, हम तो वरावर सव जान रहे हैं सव लोग विचार लो, जिसके मनमे जो भाव है, जो विचार है वह उसको तो स्पष्ट प्रतीत है, दूसरा चाहे उसे जान पाये या न जान पाये। तो अपना ज्ञान अपनी क्रिया स्वय कर्ता यह सव विल्कुल स्पष्ट रहता है। चाहे वह किसी पद्धतिसे स्पष्ट हो, सभी मनुष्योको यह प्रतीति है कि जो मैं उपयाग करता हूँ सो जानता हूँ। मैं यह सोच रहा हूँ, मैं यह जान रहा हूँ, सवको अपनी अपनी वात विदित है। जैसे कोई पुरुष मायाचार करे, कपट करे, छलका भाव लाये तो जा छल करने वाला है वह सव समझ रहा है या नही कि मैं यो सोच रहा हूँ मैं यो करूँगा, दूसरा जाने या न जाने। तो जो स्वय जानने वाला है वह अपने आपमे स्पष्ट है, उसे तो सब वात मालूम है। जानकारीको अथवा ज्ञानकी अप्रतीत नहीं कह सकते।

आत्माके स्वसम्वेदनकी सिद्धि यदि यह तुम्हारी अड हो कि जितनी भी क्रियायें होती हैं उन क्रियाओंके करनेमें कोई कारण जरूर चाहिए। जैसे पेन्सिल छीली गई तो छीलने रूप कार्यमे कोई कारण चाहिए। यह कारण क्या है ? चाकू। ऐसे ही यह भी हठ कर रहे हो कि जाननेकी जो क्रिया हो रही है उस क्रियामे कोई करण चाहिए। वह करण है ज्ञान। और जैसे जो जो करण होता है वह सव होता है परोक्ष। तो यह ज्ञान भी परोक्ष है। यदि ऐसी ही अड पकडते हो तो जव आत्मा का सम्वेदन किया जा रहा हो आत्मानुभव तो वह भी तो एक काम है ना ? तो उस आत्माके स्वसम्वेदनमे क्या कारण वनेगा सो वतावो ? देखिये ! आत्माके स्वसम्वेदन से करण ज्ञान नही माना है शङ्काकार ने। क्योकि आत्माका स्वरूप दृष्टा माना है। ये लोग ज्ञाता नही मानते। जल्दी समझनेके लिए ऐसा ख्याल करलें कि उपयोग दो प्रकारका है ज्ञान और दर्शन। उसमेसे दर्शन तो आत्माका स्वरूप है और ज्ञान आत्मा का स्वरूप नही है, वह प्रकृतिका विकार है या जिस चाहेका भौतिक विकार। ज्ञानको आत्माका मानते हो नहीं। तो जव आत्माका स्वसम्वेदन हो रहा हो तो वह भी एक क्रिया है। उस क्रियामे करण क्या मानोगे ? अपना आत्मा ही माना है इसका करण ज्ञानका तो वहाँ कोई प्रसङ्ग ही नही। तव अर्थको ही क्यो नही एक सीधा प्रत्यक्ष मान लेते हो, इसमे क्यो अदृष्ट अन्यकी कल्पना करते ?

स्व परके जाननमे ज्ञान ही कारण—भैया ! सीधी वात है जान लिया आत्मपरिच्छित्तिमे आत्मा ही करण मानते तो अर्थ परिच्छित्तिमे अर्थको ही करण ज्ञानको करण क्यो मानते ? जब आत्माकी स्वसम्वेदनरूप क्रियामे हमारा आत्मा ही कारण वन गया तो पदार्थकी प्रतीतिमें वही पदार्थ करण बन जावे। फिर ज्ञानको माननेकी क्या जरूरत है ? इस कारण चक्षु आदिक जो ये करण हैं, इन्द्रियाँ हैं इनसे कुछ भिन्नता मानते हो ज्ञानमे ? तो यह जरूर मानना पडेगा कि ज्ञान यद्यपि कर्मरूप

से प्रतीत नही हो रहा है करणरूपसे हो रहा है फिर भी प्रत्यक्ष है। जैसे मैं चौकीको जानता हूँ इसमे चौकी कर्मरूपसे जानी गयी। चौकीको तो ये प्रत्यक्ष जानते हैं ना, ऐसे ही करण रूपसे जाना गया जो ज्ञान है वह भी प्रत्यक्ष होता है। यह हठ न चलेगी कि जो कर्मरूपसे हो वही प्रत्यक्ष होता है। और, फिर कितनी अन्धेर की बात है कि फल भी तुम प्रत्यक्ष मानते और कर्ता को भी प्रत्यक्ष मानते। और जो पदार्थ जाना गया उसे भी प्रत्यक्ष मानते, सिर्फ एक ज्ञान से तुम्हे ईर्ष्या है उसे प्र यक्ष नही कहा। जो बात ठीक युक्ति मे नही बैठते, चाहे ये कर्म प्रत्यक्ष नही हो रहे पर करण तो प्रत्यक्ष होगा ही।

स्याद्वाद द्वारा भिन्नाभिन्नत्व उपपत्ति क्योक वह जो करणरूप ज्ञान है वह आत्मा से भिन्न है, यदि ज्ञानको आ मासे भिन्न मानोगे तो विशेषवाद खडा हो जायगा। यो समझिये कि आत्मा नामकी कोई एक चीज न रहेगी, क्योकि गुण अलग पदार्थ है, क्रिया अलग पदार्थ है, सामान्य विशेष करते जाइये, स्याद्वाद भेदाभेदात्मक को बताता है और एक लोक प्रसिद्ध है कि हाथीकी सूढ वाले गणेश जी है, और उनका वाहन चूहा माना है। ऐसा चित्र भी देखा होगा। यह चित्र काहे की सूचना देता है ? यह एक तत्त्वका आकार बनाया गया है। कोई घटना घटी हो, चूहेपर चढते फिरते हो ऐसी बात नही है, पर वह एक तत्त्वकी घटना बतायी गयी है। भेदा भेदात्मक स्वरूपका चित्र है वह। चूहाका नही पशुका नही, रूपक बताया है। वहाँ दो बाते हैं—एक तो गणेश जी एक पुरुष है और उस पुरुषमे ऐसी फिट बैठी है जैसे किसी पुरुषकी गर्दन होती। कोई अलगसे टाका नही है। कुछ निशान नही बल्कि जैसे मनुष्यका मुंह है तैसे ही इसका मुह है, इस तरहबा कर दिया गया है और कथन मे बताया कि भवानीके शरीरके मलसे गणेश जी बन गए थे, और उनके पिताको मालूम न था तो उन्होंने शिर काट दिया। कौन आ गया हमारे यहाँ अन्त पुरके निकट। जब बताया कि यह तो अपना ही पुत्र है हमारे मलसे पैदा हुआ था तब उन्होंने ढूढकर कहीसे लाकर एक हाथीका मुह फिट कर दिया। तो वहाँ यह देखना है कि वे दो अग इस तरह जुड गए कि उनमे कुछ भिन्नता नही प्रतीत होती है। वह अभेद अभेदका प्रतीक है। यो अभेद है यो अखण्ड है। दो अग अलग अलग नही मालूम पडते। गणेश जीकी सूढ अभेदका उदाहरण है, और जो वाहन चूहा है वह भेदका उदाहरण है। चूहा किसी कपडेके कुतर कुतरकर इस तरहके खण्ड खण्ड कर देता है जिनको मनुष्य किसी चीजसे काटकर नही कर सकता। वह चूहा है भेदका दृष्टान्त। तो वह सारा चित्र भेदाभेदात्मक है और स्याद्वादका प्रतीक है। तो स्याद्वादसे वे सर्व सिद्धियाँकी जा सकती हैं।

स्याद्वादके विना वस्तुधर्मकी असिद्धि आत्माका ज्ञान भिन्न है या अभिन्न ? यह प्रश्न रखा गया। आत्मामे ज्ञान अभिन्न है क्योकि आत्माका स्वरूप

ज्ञान है, यह तो ठीक है किन्तु आत्मा कहते हैं अनन्त गुणोंके पिण्डको और उनमेसे है ज्ञान एक गुण। तो अब गुण गुणीका भेद हुआ ना, लक्षणका भेद हुआ, सज्ञाका भेद हुआ, प्रयोजनका भेद हुआ। तो आत्मासे ज्ञान भिन्न भी है। अब स्याद्वादका आश्रय लिए बिना कुछ भी एक बात कहें तो तीर्थकी परिणति नही चल सकती। आत्मासे ज्ञान बिल्कुल अभिन्न है तो उसकी चर्चा ही करते फिरना बेकार है। कुछ बताया ही नही जा सकता बस एक आत्मा आत्मा आत्मा। किसी दूसरी बातको मुखसे न बोले क्योंकि वह भेद है, ज्ञान है सो आत्मा है, फिर न पता चलेगा, तीर्थ परिणति चलेगी और आत्मा से ज्ञान न्यारा है ऐसा मानते हो तो बताओ ज्ञानरहित आत्मा क्या ? और आत्माको छोडकर ज्ञान अलग क्या ? न ज्ञानका स्वरूप बनेगा और न आत्मा का स्वरूप बनेगा। स्याद्वादका सहारा लिए बिना धर्मकी भी सिद्धि नही होती। किसीको आपने दो वर्ष पहिले कुछ रुपये उधार दिये थे अब आज आप उससे अपना हिसाब करवाना चाहते हैं तो आप यह बतलावो कि जिससे आप हिसाब करवाना चाहते क्या वह वही है जो दो वर्ष पहिले था ? यदि वही था तो ब्याज उसपर आता नही और यदि कहो कि वह नहीं और है तो रूपसे माँग क्यो उठे ? यह तो और है दिया किसीको था।

स्याद्वाद द्वारा समस्त विवादोका अन्त—तो जितने भी व्यवहार बन रहे हैं वे स्याद्वादसे बन रहे हैं भले ही लोग स्याद्वादके नामसे परिचित न हो लेकिन आधार उसीका हर व्यवहारमे चल रहा है, घरमे बाहर सर्वत्र वही व्यवहार चल रहा है। तो यो जो हमारे ज्ञानकी शैली है उसमे कर्ता कर्म करण क्रिया ये चार प्रकारके होते हैं। चारोंके चारो इस जाननहार आत्माको प्रतीतिमे रहते हैं। ऐसा नही है कि जानने वाला उस प्रतीतिसे हो अपनी समझमे हो, जिस चीजको जाना जा रहा है उसकी भी प्रतीति है और जो जानन बन रहा है उसकी भी प्रतीति है, ज्ञानकी भर प्रतीति नहीं है। ऐसा नही है। चारोंके चारो बराबर प्रतीतिमे आ रहे हैं। जैसे पदार्थ को जाना तो वह पदार्थ प्रतीतिमें स्पष्ट है इसी प्रकार जाननहारमे और जाननका अभिन्न करण ज्ञान और जाननेकी क्रिया ये भी हमारी प्रतीतिमे हैं। जैसे किसी योगी ने कर्मकाण्डका अध्ययन नही किया और भेदविज्ञान, और आत्म ध्यानके प्रतापसे वह श्रेणीमे चढता जाय, क्षपकश्रेणीमे चढे तो वह कुछ नही जानता कि ९वें गुणस्थान के परिणमनमें क्या होता है, कितनी प्रकृतियोका आकर्षण होता है, कैसी निर्जरा चलती है, १०वें ११वें १२वें गुणस्थानमे क्या होता है। न उनका ध्यान दे, नहीं पहिले ज्ञान किया और न अब उपयोग है लेकिन उस शुक्ल ध्यानके प्रतापसे जो बात होती है वह सबपर एकसी होती है।

जाननहार आत्मासे ज्ञानका अपृथक्त्व—चाहे कोई कर्मकाण्डका विद्वान हो और चाहे कर्मकाण्डके विषयमे कुछ न जानता हो, पर जिसके पवित्रता है, ध्यान

है उसपर तो सब बातें एकसी गुजरेंगी । इसी तरह जितना भी जो जानते हैं वे चाहे यह न समझ सकें कि इसमे कर्ता क्या है । कारण क्या है । क्रिया क्या है, नही उस का विश्लेषण कुछ कर सकते लेकिन जाननेकी जो शैली है, प्रयोगहै वह सबमे एक समान ही गुजरता है चाहे अपनी जानकारीका कोई विश्लेषण कर सके या न कर सके । तो यो ज्ञान आत्मासे सर्वथा भिन्न नही है, कथचित भिन्न मानलें तो कथचित भिन्न मान लेनेसे ज्ञान प्रत्यक्ष होता ही नही है ऐसा एकान्त तो न वन सकेगा । अरे प्रत्यक्ष स्वभाव वाले तुमने कर्ता तो माना है और क्रियाको भी माना है, ज्ञानको भी माना है, अब उससे अभिन्न ज्ञान है । कर्तासे भिन्न ज्ञान नही है जाननहार आत्मासे जुदा ज्ञान नही है और जाननकी जो क्रिया है । व्यवस्था है उससे जुदा कुछ ज्ञान नही है । तो जिसमे तुमने प्रत्यक्ष स्वभाव माना आत्मा उसकी प्रतीतिमे बराबर रहता है । तो उससे अभिन्न जो ज्ञान है वह कहाँ अप्रत्यक्ष बनेगा, वह भी एक प्रत्यक्ष होगा ।

ज्ञानके स्वपर प्रकाशकता यहाँ प्रमाणके स्वरूपका प्रकरण चल रहा है, प्रमाण होता है ज्ञान और वह ज्ञान होता है स्वपर प्रकाशात्मक । इनमेसे कुछ दार्शनिक परप्रकाशक तो मान लेते हैं और स्वप्रकाशक नही मानते । तो स्वप्रकाशकताकी सिद्धि इस प्रसङ्गमे की जा नही है कि जो पुरुष कोई जानता है तो इस पद्धतिसे ही तो जानता है कि मैं अपने ज्ञानके द्वारा चौकीको जानता हूँ तो इस प्रयोगमे जैसा कर्म उत्पन्न हो रहा है स्पष्ट प्रतीतिमे आ रहा है यह है चौकी । जो समझ रहा है यह है चौकी । उसे खुदकी भी समझ है या नही कि मैं जान रहा हूँ और जाननेकी समझ है कि नही कि मैं जान रहा हूँ या सो रहा हूँ या खा रहा हूँ ? यो पागल सा अनुभव करता है क्या ? न खा रहा है, न उठा रहा है, न जान नहो है । तो खाने जानने आदिका भान है कि नही ? तो कर्म जैसे प्रतीतिमे स्पष्ट होते हैं ऐसे ही कर्ता कर्म और क्रियाकी भी प्रतीति होती है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अपने ही स्वरूपसे समस्त विश्वको जाननेकी सामर्थ्य रखता है, किसी पदार्थकी कृपासे नही । जो भी जगत्मे सत् हो उस सबको यह जान लेता है । अब हम और जो नहीं जान पाते बहुत सी बातें उसमे कारण है ज्ञानावरण कर्मका उदय । वे ज्ञानावरण हैं अध्यात्म दृष्टिसे विषय और कषाय । उस आवरणका निमित्त पाकर कोई सूक्ष्म ऐसा अद्भुत अणु समूह है जो इस आत्माके साथ बन्धनको प्राप्त होता है । तो ये आवरण होनेसे हम जानकारी नही बढा पाते किन्तु हमारा जाननेका स्वभाव है और जाननेकी कोई सीमा नही होती । जो भी जगतमे सत् हो वह सब मेरे ज्ञानमे आ सकता है और जो निर्दोष है, निराकरण हैं उनके ज्ञानमे समस्त विश्व आ ही रहा है ।

ज्ञानमे स्वपर प्रकाशकत्वकी सार्थकता—तो यो ज्ञान स्वभाव है और स्वपर व्यवसायी तत्त्व है । जैसे दीपक खुदका प्रकाश करने वाला न हो तो परका भी प्रकाश नही कर सकता इसी तरह यह ज्ञान यदि स्वका भान करने वाला न हो

तो पर पदार्थका भी ज्ञान नहीं कर सकता। और फिर एक बात बतलावो—शङ्काकारसे पूछा जा रहा है कि आत्मा और ज्ञान ये क्या सर्वथा ही कर्म नहीं होते या कथंचित कर्म नहीं होते? कर्मका अर्थ है जैसे जिसमेंको लगाते हिन्दीमें और इगलिश में टू (To) लगाते यह कर्म होता है। जैसे मैं गांवको जाता हूँ। तो गाँव कर्म हो गया, मैं वस्त्रको पहिनता हूँ तो वस्त्र कर्म हो गया। इसमें मैं कर्ता रहा और वस्त्र कर्म हो गया और हाथके द्वारा पहिनता हूँ तो हाथ करण हो गया। तो वस्त्र तो कर्म हुआ मैं और हाथ ये कर्म नहीं हुए। यह तो बाहरकी बात बतला रहे हैं, अन्तरकी बात सोचिये। मैं चौकीको ज्ञानसे जानता हूँ। तो मैं और ज्ञान इन दोनोंका तो ज्ञान जानकारी क्रियामें कर्म तुम मानते नहीं और चौकीको स्पष्ट कर्म मान रहे तो यह बतलावो कि उस आत्मा और ज्ञान इस प्रयोगमें तो हम कर्म नहीं है पर क्या ये सर्वथा कर्म नहीं होते ये कथंचित नहीं होते। सर्वथा तो कह नहीं सकते। अच्छा इस प्रयोगमें मैं चौकीको जानता हूँ, मैं और ज्ञान ज्ञान न रहा आये, पर दूसरा अगर मेरेको जाने तो वहाँ तो मैं कर्म हो गया। दूसरा अगर ज्ञानको जाने तो यह ज्ञान कर्म हो गया अथवा मैं चौकीको जानता हूँ इस प्रयोगमें मैं और ज्ञान कर्म नहीं बना लेकिन जब हम इस ही को यों जानने लगे, मैं क्या हूँ तो मैं कर्म बनगा कि नहीं। यह ज्ञान क्या है जिसके द्वारा चौकी जाना गया। तो ज्ञान कर्म बनेगा कि नहीं? सर्वथा ये कर्म न होते हों यह बात सिद्ध नहीं है। यदि कहें कि कथंचित कर्म हैं उस रूपसे प्रत्यक्ष हो गए। ज्ञान भी और आत्मा भी। इस प्रसङ्गमें यह बात सिद्धकी जा रही है कि जाननहार जो मैं हूँ सो वह मैं प्रतीतिमें रहता है। भान इस मैं का भी है। चौकीको जानता हूँ। चौकीका भी भान है, ज्ञानके द्वारा जानना हूँ उस ज्ञानसे भी चौकीको जाननेका जो श्रम किया जा रहा है उसका भी भान है और जानता हूँ इसका भी भान है तो सभी चीजें स्पष्ट होती है और ऐसा ज्ञान स्वका भी प्रकाशक होता और परका भी प्रकाशक होता है। यह खुदके पतेकी बात कही जा रही है। कि जो स्वरूप है वह स्वरूप स्वपर प्रकाशात्मक है।

ज्ञानस्वरूप आत्माकी विशिष्टता—हम आप सब आत्मा हैं, ज्ञानस्वरूप हैं और निरन्तर जानते रहा करते हैं और जाननेकी शैलीमें यह बात पडी होती है कि जिस चीजको जानते है वह भी हमारी प्रतीतिमें, समझमें भली प्रकार आती है और जो जानता है मैं जानता हूँ तो यह मैं भी भली प्रकार अपने आपके भानमें हो कि मैं जानता हूँ और जिसके द्वारा मैं जानता हूँ उस ज्ञानकी भी भली प्रकार प्रतीति होती है कि मैं ज्ञानके द्वारा जानता हूँ और जानते हुएकी भी प्रतीति है। इस तरह ज्ञानसे सम्बन्ध रखने वाले जितने रूप हैं वे सब भानमें रहा करते हैं किन्तु यहाँ एक दार्शनिक यह बात रख रहा है कि मैं भी प्रतीतिमें हूँ अर्थात् जाननेकी क्रियाका कर्ता आत्मा भी भानमें होता है और जिस पदार्थको जाना जा रहा है वह भी भानमें रहता, किन्तु जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं वह ज्ञान भानमें नहीं है अर्थात् उस ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं है।

कर्मवत् ज्ञानके कर्ता कर्म क्रियाकी प्रतीतिकी उपलब्धि—भैया ! इस सम्बन्धमे यह पूछा गया था कि हम जिस ज्ञानके द्वारा जानते हैं उसका यदि प्रत्यक्ष नही है तो क्या वह ज्ञान कर्म नही है ? हमारा कर्मको जानना बताया ना, इस दार्शनिकने । तो मेरा यह ज्ञान जिसके द्वारा जान रहा हूँ, जो कारणभूत है क्या वह सर्वथा कर्म नही है या कथचित् कर्म नही है ? कर्मका अर्थ यह है कि जैसे मैं चौकी जानता हूँ तो यहाँ कर्मकारक चौकी है, तो इस दार्शनिकका यह कहना है कि जो कर्म है उसका तो भान होता है पर जो करण है उसका भान नही होता। मैं ज्ञानके द्वारा चौकीको जानता हूँ तो यहाँ कर्म चौकी है उसका भान तो स्पष्ट रहेगा पर ज्ञान के द्वारा जानता हूँ । जिस ज्ञानके द्वारा वह ज्ञान भानमे नही आया करता, वह स्पष्ट नहीं हुआ करता । सो पूछा जा रहा है कि क्या वह सर्वथा कर्म नही है या कथंचित् नही है ? सर्वथा नहीं कह सकते । जानता हूँ, दूसरे जानते हैं कथचित् कहेगे तो वह ठीक है, जिस रूपसे ज्ञान कर्म हुआ उस रूपमे ज्ञान प्रत्यक्ष हो गया । हम इस पदार्थ को भी जानते हैं तो जिस अशमे जानते हैं उस अशमे कर्म है, जिस अशको नही जानते वह कर्म नही है । जैसे सामनेकी भीटको जान रहे हैं तो जो हिस्सा यहाँ है उतना हिस्सा कर्म बना, पर भीटके भीतर ईट है, सीमेण्ट है, बिजलीके तार हैं, वे तो कर्म नही बने । तो कर्म करणमे जितने अशमे कर्म हैं उतनेमे बने, पूर्ण वे भी नही बने । इसी प्रकार हम जिस ज्ञानके द्वारा जानते हैं वह ज्ञान भी कर्म बन गया जिस अशमे उस अशमे ज्ञानका प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए । और सीधीसी बात है । कर्म कोई वाक्य प्रयोगसे नही बनता ।

ग्राह्य एवं प्रतीयमान ज्ञानके ही कर्मत्व— जाननका कर्म तो प्रतीतिमे होता है । जो प्रतीयमान हो वह ग्राह्य है, वही कर्म है । तो जिस ज्ञानके द्वारा जानते हैं उसकी हमे प्रतीति नही है क्या ? अगर उस ज्ञानकी प्रतीति न हो तो पदार्थ भी नही जाना जा सकता । मैंने चौकी जाना यह ज्ञान सही है क्या ? यह चौकी ठीक जाना ना । तो इस चौकीका जो हमे ज्ञान हुआ वह ज्ञान भी ठीक है यह पहिले निश्चय हो तब हम यह कह सकते कि यह चौकी ही है । हम चौकीको तो सही बतावें और इस ज्ञानमे हम सदेह रखे कि जो चौकीका ज्ञान हुआ है यह मेरा ज्ञान सही है या नहीं । अगर यहाँ सन्देह है तो चौकीका भी सन्देह बन बैठा । और, अपने आपके ज्ञानमे निश्चय है तो चौकीका भी निश्चय है । ज्ञान सबकी प्रतीतिमें है, उसे ओझल नही कर सकते कर्ता और कर्म दोनो एक साथ रह सकते हैं, और होते ही हैं वास्तव मे । जो भी कोई पदार्थ है उसकी जो दशा बनती है वास्तवमे वही उसका कर्म है ऐसा कहना तो व्यवहारकी बात है । जैसे कारीगरने मकान बनाया तो यह उपचारकी बात है । कारीगरने तो अपने शरीरमे हाथ पावका हलन चलन किया । इससे आगे और कुछ नही किया । मकान खड़ा हो गया उस कारीगरका, ईंट पत्थर आदिकका निमित्त पाकर । कोई कहते हैं कि मुझे अमुक पुरुषने गुस्सा दिला दिया । अरे कोई किसीको

गुस्सा कभी दिला ही नही सकता। उसने तो स्वय अपनी कषाय वश अपने आपमे अपनी चेष्टाकी जिससे क्रोध वन गया, गलत शब्द मुखसे निकाल दिये। यो ही समझ लो कि कोई किसीको सुखी अथवा दु खी भी नही कर सकता।

वाह्यमे कल्पना ही दु खका मूल– खुद ही कल्पनाएँ करके किसीको इष्ट मान लिया किसीको अनिष्ट मान लिया, किसी से सुख मान लिया किसीसे दु ख मान लिया पर वास्तवमे कोई किसी दूसरेका कुछ भी कर सकनेमे समर्थ नही है। इन सासारिक सुखोंसे भी इस मुझ आत्माका क्या लाभ यहाँके सुख दु ख द नो की स्थितिया ऐसी हैं कि जिन स्थितियोमे इस आत्माको शान्ति नही मिलती धैर्य नहीं रहता, गम्भीरता नही रहती। अपने आपके स्वरूपमे मग्न नही हो सकता। इसी दृष्टिसे ये ससारके सुख और दु ख दोनो ही आत्महितार्थीके लिए बराबर हैं। प्राय लौकिकजन सुखकी लालसा करते हैं, पर जिनको अपने आत्माके आन्तरिकमर्मका परिचय हो गया उनको तो जैसा दु ख लगता है वैसा ही सुख लगता है, कुछ अन्तरमे आत्मस्वरूपके ज्ञानकी दृष्टि करके प्रकरण सुना जाय तो यह खुदसे बहुत ही निर्णीत हो जायगा कि सुख और दु ख दोनो एक तुला पर हैं।

सम्यक् परिचित वस्तुस्वरूपसे शान्ति की उपलब्धि - जिसने वस्तुस्वरूपका भली भाति परिचय कर लिया, अपने आपके एकत्वस्वरूपका जिसने अनुभव किया है वह उसमे जो आनन्द पाता है उस आनन्दकी ही धुन अपनेमे लगाये रहता हैं और कुछ न चाहिए उसे सुख भी विकार निर्णयमे आता है और दु ख भी विकार है ऐसा निर्णय है। यह तो तत्त्वज्ञानी की ओरसे कथन है। अब जरा व्यावहारिक दृष्टि से भी देखलो ससारका कौनसा सुख इस जीवको शान्ति देने वाला है। सुखोंके नाम रखलो, नाम तो रखे नही जा सकते, क्योकि सुखकी अनगिनते स्थितिया बना डाली है, जैसे दु खकी दशायें अनगिनते हैं ऐसे ही सुखकी दशायें भी अनगिनते हैं और जो चीज नाना डिग्रियोमे पायी जाय उसमे विकार है। वह स्वभावी बात नही है, उन्हें गल्तिया समझिये वे सब त्रुटिया हैं। आनन्द नाना तरहका नहीं होता, सुख दु ख नाना तरहके होते हैं।

आत्मामे पूर्ण विश्रामसे ही निराकुलत्व– भैया! आनन्द नाम उस स्थितिका है जहाँ किसी परवस्तुका विकल्प नहीं है, किसी भी विषय कषायका प्रसङ्ग नही है। पूर्ण विश्रामके साथ अपने आत्मामे मग्न हो रहा है योगी! उसकी जो निराकुलताकी स्थिति बनती है वह है आनन्द! वह आनन्द कई तरहका नहीं होता, वह एक ही प्रकारका होता है। ये सुख दु ख नाना तरहके हैं, परिवारसे, धनसम्पदा से, नामवरी आदिमे सुख माना, यो सुखकी अनेक स्थितियाँ हैं, सुखके अनेक अनुभवन हैं। यो ही दु खकी बात है। किसी भी विषयके सुखसे कोई शान्त हो सका हो या खुदको शान्ति हो सकी हो तो निर्णय करके देख लीजिये!

दु खमिश्रित सुखमें दु खकी उपलब्धि—यह सुख आनन्द नहीं है, किन्तु किसी समय कोई दु ख कम हो गया तो उसे मान लेते हैं कि यह सुख है। कोई बडा क्लेश था, अनिष्ट बुद्धि कभी वहुत अधिक हो रही थी वहाँ, पर कुछ उपयोग बदल जाय, किसी वातावरणसे इन इन्द्रिय विषयोके साधनोसे तो उस दु खकी कमीको लोग सुख कहने लगते हैं। जैसे किसीके १०४ डिग्री बुखार था, उतरकर १०१ डिग्री रह गया तो कोई उससे जब पूछता है कि कहो भाई! अब कैसी तबियत है? तो वह कहता है कि अब अच्छी तबियत है। अरे भाई! कहाँ अच्छी तबियत है? अभी तो १०१ डिग्री बुखार है। पर वहाँ हुआ क्या कि वेदनामे कमी हो गयी। इससे कहा कि अच्छी तबियत है। तो ऐसे ही इन ससारके दु खोका कुछ कम होनेका नाम सुख बना रखा है तभी तो सुख जितनी देरसे भोगनेमे आये समय गुजरनेके बाद फिर विषयोकी कल्पना चलने लगती है। तो वह सुख किस कामका है जिस सुखके भोगने के बाद दु खकी स्थितियाँ और बढ जाती हैं? दु खोकी हालत तो यह है कि एक दु ख मिटा तो दूसरा दु ख सामने आ जाता है। जैसे धर्मार्थी जन, गृहस्थ लोग ऐसा विचार करते हैं कि अब हमारे करनेको कौन सा काम रह गया है? अमुक दुकान बनाना है, मकान बनाना है, इतना वैभव इकट्ठा करना है, फिर इसके आगे कोई आवश्यकता ही नही है। प्रत्येक दृष्टिसे सब बातें पूर्ण ही जाती है फिर हमे चिन्तामे तृष्णामे पडने की जरूरत न रहेगी, अच्छी तरह रहेगे।

औपाधिक स्थिति ही तत्त्वज्ञानमे बाधक सत्सङ्गमे और धर्मसाधनामें समय लगावेंगे। कदाचित् उतना ही हो जाय जितना कि सोच लिया गया था तो उस के बाद तृष्णा न रहे, लालसा न रहे, शान्ति आ जाय, ऐसी स्थिति होती है क्या? होती तो अवश्य है पर हम प्राय करके यह बतला रहे है बिरला ही कोई ज्ञानी कर सकता है ऐसा परन्तु उतनी बात अपनेपर फिर तृष्णा बढती है लालच लोभ चित्तमे आता है बातपर नही थम सकता। एसे ही सुखकी बात है, हम किसी सुखपर थम नही सकते। औपाधिक स्थितियाँ ऐसी हैं कि जिनके कारण वह तत्त्व ज्ञान जग नही पाता। तो यहाँ भी ऐसी स्थिति होती है कि कोई सुख मिल नही पाता, तत्काल दु ख उत्पन्न होते लगता है, कल्पनाएँ जगने लगती है, तो इन सबका कारण है अज्ञान। यह अज्ञान न समाये कि प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी जुदी जुदी स्थिति रख रहा है और अपनेको ही परिणमा रहा है। खुद का कर्ता है, खुद ही कर्म है यह बात ध्यान मे नही है।

वस्तुत कर्ता कर्ममे अभेद—अतएव हम भी पर वस्तुके कर्ता बनते है और परको कर्म बनानेका यत्न रखते हैं, यह स्थिति है। वस्तुत जो कर्ता है सो ही कर्म है। यह आत्मा जानता है परका तो कर्ता बननेसे क्या यह कर्म न बन सकेगा। जानते है और खुद भी जाने जा रहा है ये दोनों बाते एक साथ चल रही हैं। जिस

ज्ञानके द्वारा मैं जानता हूँ उस ज्ञानको भी मैं समझ रहा हूँ, यह सही है ज्ञानसे भी जाननेकी सही व्यवस्था बनती है। तो जो प्रतीतिमें आता है वह कर्म कहलाता है। ज्ञान भी हमारी प्रतीतिमे रहता है ऐसा ज्ञान भी कर्म बन गया वह भी प्रत्यक्ष होता है यदि यह कहे कि वह स्वय नही जानता ज्ञान अपनेको। दूसरा ज्ञान जानता है उस कारणसे वह कर्म नहीं है। शङ्काकारका यह अभिप्राय है कि हमने किसी ज्ञानसे जाना कि यह चौकी है तो मेरा चौकीका ज्ञान है क्या अथवा सही है क्या ऐसा समझनेके लिये हमे एक नया ज्ञान और पैदा करना पडता है जिसमे हम यह जान पाते है कि हमारी चौकी विषयक ज्ञान सही है। और जब वह ज्ञान स्वय अपने आपको नही जान सका तो वह कर्म नही रहा इसी कारण वह अपनेको प्रत्यक्ष नहीं करता, लेकिन बात यह नही है। जिस मनुष्यको हम मानते हैं और बराबर काम कर रहे है तो काम हमारा तब ही बनता है ना जब हम बराबर सही सही जानते रहते हैं। तो साथ ही साथ यह निर्णय बना हुआ है कि मेरा ज्ञान सही है।

स्वके प्रामाण्यके लिये स्व ही समर्थ उस ज्ञानका सहीपना समझनेके लिए दूसरा ज्ञान पैदा करनेकी जरूरत नहीं रहती। तो स्वय कर्ता रहे, स्वय करण बन जाय, इनमे किसी प्रकारका विरोध नही है और यह परसे उत्पन्न होनेसे कर्म बने तो वहाँ भी यह सब व्यवस्था गलत हो सकती है। और देखिये प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक प्राणी जिस पदार्थको जानता है उसके सम्बन्धमे यह अनुभव कर रहे। जैसे मैं चौकी को जान रहा हूँ तो चौकीको जानने वाले ज्ञानसे सहित मैं अपने आत्माका स्वय अनुभव कर रहा हू ऐसी प्रतीति सब प्राणियोकी होती है, इस कारण अपने ज्ञानको भी प्रत्यक्ष माना। वह भी जाननेका कर्म है। देखिये जैसे कोई आत्मा अपने आपको मना करे कि मैं नही हू तो यह सगत तो नही। जिसमे न का विकल्प आया वही है आत्मा, और व्यवहारमे देखो कोई मनुष्य यह कहने लगे कि मैं नही हू तो लोग उसे पागलसा कहेगे।

स्वको स्वमे ही खोजनेसे कार्य सिद्धि ऐसे ही जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थों को जान रहे हैं उस ज्ञानके स्पष्ट भानको मना किया करते है यह बात कैसे ठीक बने? मैं हू ज्ञान स्वरूप हू, सवत्र ज्ञानसे भरा हुआ हू और जाननेका ही काम करता हूँ। तो जैसे अगुली हिलायी जाय तो यह कहा कि अगुली अकेली चीज है। हिलाना अलग चीज है और मुडकर जो अगुलीमे कष्ट हुआ है वह अलग चीज है, क्या यह बात है? ये सब अगुलीकी बातें है, उसीके धर्म है, हाँ स्वरूपसे न्यारी न्यारी बातें हैं पर चीज तो एक है इसी प्रकार हम हम जानते हैं, वे सब एक ही बात हैं। ज्ञान ज्ञानकी बात है। अन्य बात नही हुई। तो जिस ज्ञानसे हम सही बनावे उसी ज्ञानको मात्र करें तो यह दर्शन सही नही बैठता। एक कोई बाबूजी थे तो वे अपने दफ्तरमे सारी चीजे व्यवस्थित ढगसे रख रहे थे, घडीकी जगह लिख दिया, कमीजकी जगह कमीज,

कोटकी जगह कोठ लिख दिया। छाताकी जगह छाना लिख दिया। जिस विस्तरपर लेटे उसपर मैं लिख दिया कि यहांपर मैं पडा हूँ। सो गए जब आँखे खुली तो झट सारी चीजोपर निगाह डाली। यह देखने लगा कि हमारी सारी चीजे जैसीकी तैसी रखी हैं या नही। देखा तो सभी चीजें ज्यो की त्यो रखी थी। पर पलङ्गपर देखा तो वहाँ लिखा था "मैं"। पलगमे वाहर खडा हुआ देख रहा है। इस पलगपर "मैं" न दिखा तो पलगको झटक कर, निवाढको इधर उधर खिसकाकर देखा पर उसका "मैं" कही न मिला। लाठी मारकर उस "मैं" को जमीनपर टपकाना चाहा पर वह 'मैं' न टपका। सोचा—ओह! मेरा तो मैं गुम गया। परेशान होकर अपने मित्रको पुकारने लगा अरे मित्र मेरा मैं गुम गया। मित्र सोचता है कि आज वावूजी यह क्या वक रहे हैं। यह तो कहते हैं कि मैं" गुम गया। सो मित्रने कहा अच्छा वावूजी आप थके हुए हैं, सो जावो, आपका "मैं" अभी आपको मिल जायगा। वावूजीको विश्वास हो गया, पलगपर लेटकर सो गये। कुछ देरवादमे मित्रने जगाया और कहा देखो वावूजी आपका 'मैं' मिला कि नही। जब वावूजी जगे तो अपने आपपर हाथ फेरने लगे और कहने लगे—ओह! मिल गया मेरा "मैं" तो जैसे मै गुम गया मैं गुम गया ऐसा कोई वके तो पागलपन जैसी बात है इसी तरह कोई अपने ज्ञानस्वरूप को मना करे मेरे ज्ञान ही नही है, मैं ज्ञानको जानता ही नही ऐसा जो वकता फिरे वह तो एक पागलपनकी बात है।

ज्ञानके द्वारा ही सर्वज्ञेयकी प्रतीति – ज्ञानके द्वारा सव पदार्थ प्रतिभासमें आते हैं। उन पदार्थोंको तो हम कहते कि ये प्रत्यक्ष हो रहे है और जिस ज्ञानके प्रताप से ये प्रत्यक्ष हो रहे है उस ज्ञानको कहा कि वह तो जाना नही जाता, उसका तो भान ही नही है, उसका तो प्रत्यक्ष ही नही हो सकता तो यह वात दार्शनिककी न चल सकेगी। जो स्वभाव हमारी प्रतीतिमे आया है उसको हम कैसे मना कर सकते है। अव हम एक पदार्थको तो मान लें कि प्रत्यक्ष है और एक को न माने तो एक प्रतीतिमे आये हुएको मना करे तो सबको मना करें फिर कोई व्यवस्था नही वनती। ज्ञान प्रत्यक्ष है, हम अपने आपको जानते हैं, अपने स्वभावको समझते हैं, उस रूप अपनेका अनुभव करना चाहिए। मैं देहसे भी न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, इसका वरावर चिन्तन करना चाहिए, भावना भाये। जो वात वास्तविक है उसीके लिए कहा जारहा है मिथ्या कार्यके लिए नही कहा जा रहा हैं। मैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रहित हूँ, ज्ञान मात्र हूँ, आनन्दमय हूँ, इसमे धन, वैभव, मकान, महल, परिजन कुछ नही हैं। इस लोकमे मेरा कही कुछ नही है। मैं तो अपने आपके स्वरूपके ही निकट रहता हुआ अपने आपको वरावर निरखता रहूँ तो मेरेलिए कहाँ सकट है? ये सर्वसमागम तो स्वप्नवत् असार है। लोगोके प्रश्न करनेके लिए अपने आपमे विकल्प रचना यह तो तत्वज्ञानीका काम नही है। अपने तत्त्वज्ञानसे अपने आपको प्रसन्न वनाये रहना और फिर स्वय ही होगी ऐसी प्रवृत्ति कि दूसरे लोग भी वुद्धिमान होगे और प्राय सभी

प्रपन्न रहगे । अन्यथा किसकी इज्जत है सो वतलावो ? कोई विशिष्ट ज्ञानी है तो ज्ञानी पुरुष ही थोडी प्रशसा करेंगे कि यह विशिष्ट ज्ञानी है और जो अज्ञानियाका समुदाय है वे तो न जाने क्या क्या वक जाते हैं ? इज्जत है कहाँ वतलाओ ? चार आदमी पूछने वाले हैं तो दस आदमी उसका विगाड करने वाले हैं और विरोध करने वाले हैं । इस ससारमे कोई तो अच्छा कहने वाल लोग हैं और कोई बुरा कहने वाले लोग हैं । इसलिए इस ससारमे किसीको प्रसन्न करनेका विकल्प मचाना कोई विवेक नही है । *अपने स्वरूपको निरखकर अपनेमे प्रसन्न रहना यह विवेक है।* वह स्वरूप है ज्ञान और स्वय प्रत्क्ष हुआ करता है ।

जानकारी ज्ञानका ही धर्म ज्ञानसे पदार्थोंको जानकर भी जो लोग ज्ञान से भान होना नही मानते उनसे यह पूछा जा रहा है कि पदार्थोका जो प्रतिभास हो रहा है, प्रत्यक्ष हो रहा है यह जो प्रत्यक्षपना है वह उस पदार्थका धर्म है या ज्ञानका धर्म है ? जो जानकारी वन रही है यह जानकारी क्या पदार्थका धर्म है या ज्ञानका धर्म है ? पदार्थका धर्म तो कह नही सकते, क्योकि यदि जानकारी पदार्थका धर्म हो जाय तो पदार्थ तो सबके लिए एक सा है । हम जब पदार्थोंको जान रहे हो उस समय भी सबको पदार्थ जाननेमे आने चाहिएँ । या न जान रहे हो हम तो भी सभी आत्मा-ओको पदार्थोंकी जानकारी हो जानी चाहिए, क्योंकि जो जिसका धर्म है वह उसमे सदैव रहता है । जानकारी होना यदि पदार्थका धर्म होता तो क्यो नही सबको एक साथ जानकारी होती ? आत्मामे ही ज्ञानके कालमे अपना विशेप रूपसे पदार्थ का भान हुआ करता है, प्रत्यक्षपना होना पदार्थका धर्म नही । जो जानकारी वन रही है, समझ उठा करती है वह समझ पदार्थका धर्म नहीं है, क्योकि पदार्थके विकास मे ज्ञानके कालके अलावा अन्य समय भी अनेक आत्मावोको उसकी जानकारी रहनी चाहिए पर होती तो नही । इससे समझ बनना पदार्थका धर्म नही है । बात बहुत सीधी चल रही है । थोडा ध्यान आदिकसे सब समझमे आ जायगा पर ध्यान ही विगाडें तो समझ कहाँसे हो सकेगी ?

अभ्यास द्वारा ज्ञानकी वृद्धि – कुछ तो लोगोंके चित्तमे यह बात वैठी होती कि जो विषय कठिन है उसके समझनेकी हममे वुद्धि नही है, लेकिन ऐसी बात नही है । जैसे आप ज्ञानस्वरूप है तैसे अन्य मनुष्य भी ज्ञानस्वरूप हैं । समझना तो आत्मा से ही है । अजीव तो समझा नही करते । जव ज्ञानस्वरूप हम आप सव हैं तव कौन सी जानकारी ऐसी है जो हम आप सवसे नही वन सकती । किन्तु, जब एक मनमें ऐसी कायरता सवार हो जाती है कि ये वातें तो वडो वडोके समझनेकी हैं, हम क्या समझें, पर वडे भी कही आकाशसे तो उतरे नही हैं, जैसे हम आप घरमे उत्पन्न हुए हैं वेसे ही वे भी हैं, पर उन्होने अभ्यास वनाया जिससे उनका परिज्ञान बढ गया । अभ्यास होनेसे सव बात समझमे आती है । यहाँ इस वातका खण्डन किया जा रहा

है कि जो समझ हुआ करती है, जानकारी बन रही है यह जानकारी पदार्थका धर्म नही है। सभी लोगोंके मनमे यह बात उठ रही होगी कि जानकारी तो ज्ञानका धर्म हुआ करता है। पदार्थका धर्म कैसे ? तो चलो दूसरा विकल्प भी लीजिए। पूछा जा रहा है उनसे जो ज्ञानका ज्ञान होना नही मानते। जिस ज्ञानमे हम पदार्थोंकी समझ तो बनाया करते हैं उस ही ज्ञानका हम लोप करें, अभाव माने, विरोध करें उनके प्रति कहा जा रहा है कि क्या यह जानकारी इसका धर्म है ? अर्थका धर्म तो बना नही।

ज्ञानके ज्ञातृत्वमे अन्यकी अनावश्यकता—शायद यह कहो कि जिस आत्माको ज्ञानके द्वारा पदार्थ भावमे आया है उसके ज्ञानके समयमे उस ही पुरुषको यह अर्थ प्रत्तक्ष होता है भानमे आता है, यह ही केवल कथन मात्र है, क्योंकि जब ज्ञानको स्वप्रकाशक नही माना, अर्थको बताने वाला जो ज्ञान है उस ज्ञानकी जब प्रमाणता नही माना तो पदार्थका भी ज्ञान नही बन सकता। जैसे कोई लोग कहते कि दीपकपर पदार्थोंको तो प्रकाशित करता है पर खुदमे उजेला कुछ नही है तो क्यों जी ऐसा दीपक जिसमे खुद उजेला न हो तो वह दूसरे पदार्थपर उजेला कर सकता है। क्या ? नही कर सकता। ऐसे ही यह ज्ञान यदि स्वय प्रकाशमान नही है, उसकी खुद समझ नही बनती तो पदार्थमे भी समझ नही बनती। खुदके प्रकाशित हुए बिना पदार्थकी यदि समझ मान ली जाय तो दूसरे आत्माके ज्ञानके द्वारा हम जान जाये जिस चाहे पदार्थको। जब खुदका ज्ञान भानमे न रहकर पदार्थका ज्ञान कराना रहता है तो दूसरेका भी ज्ञान हमारे भानमे नही है तो उससे भी हम ज्ञान कर रहे। शायद यह कहो कि आंखके द्वारा हम वस्तुको जानते है, देखते है, पर आंखसे दिखना नही बन रहा, हम आंखसे सब पदार्थोंको तो जान लेते है पर आंखको नही जानते। ऐसे ही हमारा ज्ञान है। कि हम ज्ञानको नही जान पाते। यदि ऐसा कहो तो यह बात यो युक्त नही है कि जानकारीका साधन आंख नही हैं, इन्द्रिय नही है। जानकारीका आन्तरिक साधन तो ज्ञान ही है।

इन्द्रिय एव पदार्थोंके ज्ञानमे निमितत्त्व—और ज्ञानके द्वारा जब हम पदार्थोंकी जानकारी किया करते है तो वहाँ इस छदमस्थ अवस्थामे एक आंख या अन्य इन्द्रिय एक निमित्त कारण होती है, इस व्याकरण आंख आदिक इन्द्रियको हम उपचारसे पदार्थोंको जानने वाला कहते हैं। पर पदार्थोंका समझने वाला तो ज्ञान ही है। और, देखिये—दो प्रकारके पदार्थ होते हैं एक तो कारक और एक ज्ञापक। एक तो करने वाला और एक जानने वाला। तो करने वाले पदार्थमे तो यह बात बन जायगी कि यह ज्ञात भी न हो तो भी अपना कार्य कर बैठेगा। जैसे आग पड़ी है पीछे हमारा पैर पड गया आगपर, हम आगको जान न सके तो क्या वह आग जलाने का काम बन्द कर देगी ? अरे इसने मुझे नही जाना है तो मैं इसे कैसे जलाऊँ। तो जो कारक पदार्थ होता है वह तो बिना जाने भी अपना काम बराबर कर सकता है।

उसमे विरोध नही है, पर जो ज्ञापक पदार्थ है, जानने वाला पदार्थ है वह जाननेमे न आये और पदार्थके जाननेका काम कर डाले यह बात नही बन सकती। एकका उदाहरण किसी विलक्षण दूसरेके लिये नही दिया जा सकता। तो जितने भी ज्ञान वाले पदार्थ हैं, आत्मा है, ज्ञान है वे बिना जाने नही सकते। खुदकी जानकारी खुद की प्रतीति खुदका भान हुए बिना वह पदार्थको नही जान सकता। जरा भी किसीमे बुद्धि हो तो यह अवश्य मान लेगा कि जो ज्ञापक करण है, जाननहार पदार्थ है वह बिना जाने अपना काम नही कर सकता। शायद यह कहा कि ज्ञान तो जाननेमे नही आता, पर जाननहार जो आत्मा है वह ज्ञानमे नही आता, पर जाननहार जो आत्मा है वह ज्ञानमे आ जाता है, उसमे व्यवस्था बन जायगी तो अच्छी बात है। उसीमे व्यवस्था बनाओ फिर ज्ञान माननेकी जरूरत क्या रही ? जानने वाला आत्मा है, खुद समझदार है, पर पदार्थोंको जानता रहता है, एक अलग ज्ञान माननेकी क्या आवश्यकता रही ? और कोई माने भी तो आत्मा ही वह कहलाया।

आत्मासे ज्ञानका अपृथक्त्व आत्मासे अलग कोई ज्ञान नही कही जा सकती कि जो जानकारी हो रही है वह पदार्थका धर्म है जो ज्ञानका भान नही ज्ञान का प्रत्यक्ष तिभाम नही मानते, उनसे पूछा जा रहा है कि यह जो समझ, बन रही है यह जो पदार्थकी जानकारी यदि यह ज्ञानका धर्म है ऐसा मानते हो तो यह भी ठीक यो नही बैठना कि ज्ञानको तो तुमने सर्वथा परोक्ष माना। भानमे आता ही नही है। तो जो सर्वथा परोक्ष है वह प्रत्यक्षपने रूप ज्ञानका आधार नही बन सकता यह प्रत्यक्षपका आधार ज्ञान नही हो सकता, क्योंकि ज्ञान समझमे ही नही है, परोक्ष है। जैसे भाग्य आदिक ये परोक्ष हैं तो प्रत्यक्षमे रूप धर्मका आधार नही बन सकता। तुमने सर्वथा परोक्ष ज्ञानको माना। यदि सीधी बातको न मानकर मिथ्या बात मानता है तो उसे बहुत विकल्प करने पडते, कथंकी परेशानी दिमागमे लानी पडती है। कोई सी भी घटना हो, सीधी सही कह दी जाय तो उसमे न अशान्तिका अवसर है न विकल्प मचानेका अवसर है और बिना ही प्रयोजन कुछ लाभ भी नही है। और, मिथ्या कल्पनाए की जाये तो उससे आत्माका हित नही है।

घर धनादि वैभवमे ज्ञानसे विरुद्ध स्वभावकी उपलब्धि—अब यह देखिये सीधी सच्ची बात है कि घर धन वैभव, सभी जीव ये जुदे जुदे हैं, देह भी अपना जुदा है, क्योंकि आत्माका जो कुछ अनुभव होता है वह एक अमूर्त आत्मामे ही होता है। शरीरमे अनुभव नही होता। जब कोई मानसिक चिन्ता बन जाती है तब दिलपर बहुत ज्यादा असर बना लिया जाता है टोटा होनेसे या किसी भी कारणसे यदि मानसिक चिन्ता बन गयी तो बडे कोमल गद्दोपर पडा हुआ भी यह आत्मा तडफता रहता है। भीतरमे अनुभव करके देखिये कि तडफता कौन है ? यह शरीर तडफता है या आत्मा ? तो सीधीसी बात है कि यह आत्मा सबसे न्यारा है, फिर भी

घर, कुटुम्बीजन, धन वैभव, इज्जत इत्यादिको मान लेना कि ये मेरे हैं तो ऐसी अट-ट मान्यताऐ कर लेनेका दण्ड तो खुदको ही भोगना पड़ेगा। सबसे विविक्त ज्ञान स्वरूप प्रभुके सदृश्य निर्मल ज्ञानधन स्वभावमे होकर भी यह आत्मा कीडा मकोडा पशु पक्षी, स्थावर जैसी खोटी स्थितियोमे खोटे देहोमे फसता चला जा रहा है। अपने आपकी चतुराई बगरानेका यही फल है। वस्तुके सम्बन्धमे भी सीधी सच्ची सही बात मान लेना चाहिए।

ज्ञानमात्र ही समस्त विश्वको जाननेमे समर्थ यह प्रकरण चल रहा है उस सिद्धान्तके निराकरण का जो सिद्धान्त यह मानता है कि हम ज्ञानके द्वारा सारे विश्वको भी चाहे जान लें, पदार्थको हम जानते रहते हैं, किन्तु वह ज्ञान जाननेमे स्वय नही आया ज्ञान परोक्ष होता है, प्रत्यक्ष नही हो सकता, ऐसा मानने वाले ज्ञान की सत्ता कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? ज्ञान भी है या नही ? ऐसा तो मानते हैं वे भी कि ज्ञान तो है पर भानमे नही आता, समझमे नही आता, प्रत्यक्ष नही होता, सर्वथा परोक्ष है। तो तब ज्ञान सर्वथा परोक्ष मान लिया तो ज्ञान है भी यह सिद्ध करके बतावो जरा ? क्या ज्ञानका सद्भाव प्रत्यक्षसे सिद्ध करोगे या अनुमान आदिकसे। प्रत्यक्षसे तो सिद्ध यो नही कर सकते कि प्रत्यक्षका विषय ही ज्ञान नही है। ज्ञान प्रत्यक्ष मानता ही नही है। जो जिसका विषय नही होता वह उसकी व्यवस्था नही बना सकता। जब प्रत्यक्षका विषय ही ज्ञान नही है तो प्रत्यक्ष क्या व्यवस्था बनायेगा ज्ञानकी ? ज्ञान है यह सिद्ध कैसे किया जा सकेगा ?

ज्ञानकी प्रतीतिके अभावमे ज्ञानसत्ताकी अनुपलब्धि—जैसे हम लोग परमाणु आदिकको नही जानते तो क्या हमारा ज्ञान परमाणुकी व्यवस्था बना सकता है ? प्रत्यक्ष ज्ञान विषय वाला नही है ऐसा मानते हैं तो ज्ञानकी सत्ता ही सिद्धि होना मुश्किल है। यदि ज्ञान खुदकी समझमे न हो तो अपने ज्ञानसे अनुभव कर लीजिये कि जब कभी आप किसी पदार्थको जानते हैं तो पदार्थको जाननेके साथ जैसे पदार्थ भान मे प्रतीतिमे है या नही ? मैं जानता हूँ ऐसा भान है या नहीं। और, मैं अपने ही द्वारा जानता हूँ यह भी प्रतीति है लेकिन जो लोग मैं की तो प्रतीति मान ले पर ज्ञानकी प्रतीति न माने उनसे पूछा जा रहा है ज्ञानकी सत्ता तुम कैसे सिद्ध करोगे। प्रत्यक्षमे तो कर नही सकते, अनुमानमे भी नही कर सकते, क्योकि ज्ञानकी सत्ता सिद्ध कर सके ऐसा कोई साधन नही है। किस हेतुके द्वारा तुम ज्ञानको सद्भूत सिद्ध करोगे ?

प्रत्यक्षके सदृश अनुमानके प्रामाण्यकी सिद्धि-- अनुमानका ढङ्ग यो होता है, किसी बातको सिद्ध करना हो तो वह बात रख दें और हेतु बताये, कारण बतायें जैसे किसी कमरेमेसे धुवा निकलता हो तो यह अनुमान हो जाता है कि इस कमरेमे आग है, क्योकि धुवा उठ रहा है। तो धुवा उठ रहा है जो ज्ञान हुआ यह तो हुआ साधनका ज्ञान, हेतुका ज्ञान और फिर अनुमान क्या बना कि इस कमरेमे आग है।

देखो अभ्यास भी एक पक्का भ्रम न होता है। लोकव्यवहारमे अनुमानका अर्थ लोग अन्दाज लगाते हैं पर अनुमानका अर्थ है पक्का ज्ञान, सहीज्ञान। कहीं धुवा उठ रहा है तो उसे निरखकर आप जान जाते हैं कि यह आग है तो क्या आप कुछ संशय रूपम जानते हैं ? इसमे अन्दाजकी क्या बात ? यह तो बिल्कुल पक्का ज्ञान है। पक्के ज्ञानका नाम अनुमान है, जहाँ अग्नि नही होती वहाँ धुवा नहीं हो सकता है अतएव अग्निका आप पक्का ज्ञान कर लेते हैं और वह ज्ञान हमारे आपके चित्तमे स्पष्ट है, जैसे आगको प्रत्यक्षसे देखा इस तरहसे आप वहाँ आगका निर्णय कर रहे हैं पर प्रत्यक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि हम आँखसे नही जान रहे, तो अनुमान भी एक पक्का प्रमाण है, पर अनुमान वह सच्चा होता है।

ज्ञान ही परपदार्थके अस्तित्वको बतानेमे समर्थ जिसमे हेतु बहुत सच्चा हो, निर्दोष हो। जो लोग ज्ञानका भान नही मानते उनसे पूछा जा रहा है कि तुम ज्ञानकी सत्ता कैसे सिद्ध करोगे ? प्रत्यक्षसे तो कर नही सकते। यदि अनुमानमे करें तो उसका प्रत्यक्षमे तो कर नही सकते। यदि अनुमानसे करें तो उसका कोई हेतु बतावो ? यदि यह हेतु बताओगे पदार्थकी चूँकि जानकारी हो रही है इस कारण ज्ञान अवश्य है अथवा क्या यह हेतु बतावोगे कि इन्द्रिय और पदार्थ दोनो मौजूद हैं, इससे ज्ञानकी सत्ता सिद्ध होती है या यह हेतु कहोगे कि उसमे सहकारी करनेमे जो निपुण मन मौजूद है इससे ज्ञानकी सत्ता है। ये तीन विकल्प पूछे गये कि तुम किस हेतुसे ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करोगे कि ज्ञान भी तत्त्व है। यदि बहुत विकल्प उठाकर ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करोगे तो चूँकि पदार्थकी जानकारी चल रही है इस कारण ज्ञान सत्ता है तो वतलावो कि पदार्थकी यह जानकारी क्या ज्ञानके स्वभावरूप है ? या उस पदार्थके स्वभावरूप है, जो जानकारी बन रही है उस जानकारी बन रही है उस जानकारीके लिए पूछ जा रहा है। यदि कहो कि वह जानकारी ज्ञानस्वभावरूप है तो उस ही ज्ञानकी ता सत्ता सिद्ध करवाना चाहते हैं और हेतु भी तुम ज्ञानस्वभावरूप देते हो तो उससे तो अनुमान न बनेगा। कोई यो कह बैठे कि इस कमरेमें आग लगी है क्योंकि आग होनेसे तो यह कोई सही अनुमान बना क्या ? आगको प्रत्यक्षसे देखकर क्यों बोल रहे, सीधा बोल दो कि इसमे आग है, फिर हेतुकी क्या जरूरत ? जिस आगकी हमे जानकारी नहीं है।

साध्यके ज्ञानमे सत्य हेतुकी उपादेयता—जिसको हम सिद्ध करना चाहते तो उसके लिए जो हेतुदिया है आग होनेसे वह भी असिद्ध है, यह तो जो चाहे कह बैठे, किसी भी तत्त्वको बातको सिद्ध करना हो तो उसी बातका हेतु देते हैं आग होनेसे, वह भी असिद्ध है, यह तो जो चाहे कह बैठे। किसी भी तत्त्वको बातको सिद्ध करना हो तो उसी बातका हेतु देदो। हेतु कुछ ऐसा हो जो सबको मान्य हो। इस प्रकार ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करनेकेलिए तुम हेतु देते हो कि पदार्थकी जो जानकारी हो

रही है इस कारण ज्ञान अवश्य है। और उस पदार्थकी जानकारीको तुम ज्ञानस्वभाव कहते हो तो ज्ञानस्वभावकी ही तो सिद्धि करना है, और हेतु देते हो ज्ञानस्वभावको तो यह कैसे सिद्ध हो सकता है, इस मनुष्यको प्यास लगी है क्योकि प्यास लगी होनेसे यह क्या बात ठीक होगी ? हां अगर ऐसा कहो कि ओठ सूख रहे हैं, चित्त म्लान हो रहा है, ऐसे कुछ हेतु दो तो बात ठीक बन जाय, अब जिस चीजको सिद्ध करना हो उसीका ही हेतु देदो तो यह बात ठीक नही है। ज्ञान स्वभावात्मक पदार्थकी जानकारीसे ज्ञानकी सत्ता क्या सिद्ध करते हो ? हो गया ज्ञान मौजूद है पर वह प्रत्यक्ष बन बैठा।

ज्ञानमे ही ज्ञेयका प्रतिभासत्व— एक अचम्भेकी बात यह बन जाय कि जानकारीको तो ज्ञानस्वभावरूप मान लिया, उसका भान नही होता। कैसा विचित्र दर्शन बन रहा है यह, सिवाय एक महान मोह, अज्ञान पड गया कि जिससे सीधी साफ बात जो ज्ञान हमारे भानमे बराबर आ रहा है उसे तो नही मानते और पदार्थ की जानकारी स्पष्ट मानते चले जाते हैं। सही बात है यह और उसे मानना चाहे कि मैं सबको जानता हूँ और अपने द्वारा जानता हूँ तो इस जानकारीके प्रसङ्गमे हमे जिस पदार्थका स्पष्ट भान हुआ है—यह है चौकी, यह है घडी, ऐसे ही स्पष्ट यह भान होता है कि मैंने जाना है और सही जाना है, ज्ञानसे जाना है। ये सब बातें भी मेरे अन्दर स्पष्ट पायी जाती हैं। तो अपनेको ज्ञानस्वरूप समझो और मैं अपनेको हमेशा चेतता रहता हूँ। चाहे किसी रूपमे जानूं, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि ज्ञानरूपमे जाने, पर अपना भान सभी जीव किया करते हैं। उस अपने आत्माकी सही सुध लो और ससारके सकटोसे मुक्त होवो।

पदार्थकी जानकारी और ज्ञानके एकत्व— भैया ! जिस ज्ञानके द्वारा हम पदार्थको जानते हैं पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु वह ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता। उसका भान नही रहता, ऐसा ज्ञानको परोक्ष मानने वालोंके प्रति पूछा जा रहा है कि यदि यह ज्ञान प्रत्यक्षमे नही आता तो फिर ज्ञानकी सिद्धि ही करना कठिन हो जायगा। हम कहेगे लो, ज्ञान तो कुछ होता ही नही, तो उसकी सिद्धि बनाओ फिर, प्रत्यक्षसे तो परोक्ष ज्ञानकी सिद्धि हो नही सकती। अनुमानसे सिद्धि तब हो इस परोक्षज्ञानकी जब परोक्षज्ञानको सिद्ध करने वाला कोई हेतु साधन हो वह साधन अर्थकी ज्ञानकारी नही बन सकता अर्थात एक परोक्ष ज्ञानको सिद्ध करनेके लिए यदि हेतु यह दोगे कि चूंकि पदार्थकी जानकारी हुआ करती है इससे ज्ञान अवश्य है। तो भाई कुछ तो पहिले ही उत्तर दे दिया और आखिरी बात यह बतला रहे हैं कि पदार्थकी जानकारी और ज्ञान क्या ये दो बातें अलग अलग है ? चौकीकी जानकारी और ज्ञान ये दो अलग अलग चीजें नहीं है, सिर्फ शब्दोका फर्क है। तो शब्द मात्रके भेदसे ज्ञानको परोक्ष मान लेना और पदार्थकी जानकारीको प्रत्यक्ष मान लेना यह तो तुम्हारी स्व-

[illegible] है। जो मनमें आया सो कह डाला वहाँ भाव तो एक ही है। इसमें नाना मत नहीं [illegible] कि यह आरम्भ है [illegible] इसमें विरोध है आत्मामें [illegible] प्रत्यक्षताका विरोध नहीं तो यह भी तुम्हारी स्वच्छन्द की कल्पना है और जब आत्मामें ज्ञानको ज्ञानमें प्रत्यक्षताका विरोध है तो पदार्थको भी प्रत्यक्षताका विरोध हो जायगा। पदार्थ आत्मामें आ रहे यह जानकारी यदि स्पष्ट है जिस ज्ञानके द्वारा हम पदार्थको जान रहे हैं, जानना और ज्ञान ये दो अलग अलग चीजें नहीं हैं।

आत्मानुभवके विना ज्ञेयका ज्ञान असंभव — देखिये यह पदार्थकी जानकारी यदि पदार्थके स्वभावरूप है, चौकीकी जानकारी यदि चौकीके स्वभावरूप है तो इसका अर्थ यह हुआ ना कि चौकीकी स्पष्टता हुई तो उस चौकीकी स्पष्टता करना उस पदार्थको जानने वाले ज्ञानको स्पष्ट माने विना नहीं बनता और फिर यदि वह जानकारी उस पदार्थमें हो निकली है तो उस जानकारीका फिर इस आधार आत्माको क्यों बनाया करते ? कि मैंने यह पदार्थ जाना, जो जाना गया है यह पदार्थ वह मेरे द्वारा जाना गया है। उस ज्ञानका आधार मैं हूँ। आत्माके अनुभव विना यह बात नहीं बनती कि मैंने पदार्थ जाना। पदार्थकी जानकारी यदि पदार्थका धर्म है तो ऐसा अनुभव होना चाहिए मुझमें पदार्थको कि मैंने जाना पर चौकीको क्या यह अनुभव होगा कि मैंने जाना। इसलिये जानकारी पदार्थका धर्म नहीं है, आत्माका धर्म है, और उस जानकारीका आधार यह मैं आत्मा हूँ। बात बहुत सीधीसी लग रही होगी, अरे ज्ञानका आधार तो आत्मा है। ये दूसरे दर्शन वाले इस ज्ञानको स्पष्ट मान लेने का मना क्यों कर रहे हैं ? — और कैसे मना कर रहे हैं तो उनकी युक्तियाँ अभी सुनी ही होगी।

अनेक मत मतान्तरके उद्भवमें यशोलिप्सा ही कारण - देखो भैया ! दर्शन जो बनता है सिद्धान्त, अनेक प्रकारके मजहब जो बना करते हैं वे दो अभिप्रायों से बना करते हैं—एक तो उस जानकारीका मर्म विदित नहीं हुआ और ऊपरी ऊपरी जानकारीसे ही स्पष्ट जल्दी सुगमतया लगने लगे एक तो उन आधारपर सिद्धान्त दर्शन मजहब धर्म आदिककी रचना बना देते हैं नाना। और दूसरी बात यह है कि जैसे आजकलका जमाना यह है कि चाहे बातमें दम न हो सच न हो लेकिन कोई एक ऐसी विलक्षण बात कही जाय कि जिससे लोग अचरजमें पड जायें, यह तो नई बात खोजी है, उसमें कुछ अपना प्रभाव समझा जाय। यह बात जैसे आजके युगमें है ऐसे ही पहिले भी थी, तो इसी कारणसे अन्य अन्य नये नये मजहब बना करते हैं। एक कारण तो यह है कि न जानकारी स्पष्ट हो पायी सो बन गए। न उस तत्त्वके मर्म तक पहुँच सके और दूसरा कारण है नये नये नाना सिद्धान्त और मजहबके बनने का कि जनताको कुछ नई बात बताना चाहिए ताकि हम जनतामें कुछ बुद्धिमान समझे

जाये, जनताका मुझपर आकर्षण हो इसलिये कुछ नये नये सिद्धान्त और मजहबता ? रूपमे धर्मकी बात चलने लगा करती है अर्थात् जो बात परम्परासे चली आयी है हम यदि उसको ही मान कर रहे तो फिर हमारा अस्तित्व क्या रहेगा ? यह किन्ही यशलोलुपी ऋषियोमे बात आयी और फिर उसमे नाना मजहब बने।

वास्तव तत्त्व माने बिना कथनमे सत्यताकी असभवता जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं वह ज्ञान स्वय भानमे नही आया करता उसका भान दूसरे ज्ञानके द्वारा हो या न हो परक्ष ही रहा आये ऐसा परोक्षज्ञान मानने वाले पुरुषोको यह आपत्ति दी जा रही है कि ज्ञानका भान न हो ज्ञानके आधारभूत आत्माका भान न हो तो पदार्थका भान नही होता, और जब तक आत्माके आधारभूतका ज्ञान नही हो, जो जाना है वह मैंने जाना है ऐसा अपने आपके अनुभवके रूपमे ज्ञान न हो तो भी स्पष्टता नही आती है। अथवा फिर यह अनुभव न जगना चाहिए कि मैंने जाना, और फिर पदार्थकी जानकारी यदि पदार्थमेसे ही उठी है, पदार्थका ही धम है तो फिर ता सबके लिये भी वह वही है। क्यो नही सब लोगोको पदार्थका अनुमान हो जाता ? ज्ञान बन जाता। यदि यह कहो कि जिसकी बुद्धिसे पदार्थ जाना गया उसके लिए ही पदार्थकी जानकारी होगी और जिस ज्ञानका अनुमान होगा तो यह बात इसलिये असार है कि बुद्धि और आत्मा ये सब परोक्ष माने है तो किसकी बुद्धि और किसका अर्थ ? सब अन्ध परम्पराकी व्यवस्था है सीधा साधा सही तत्त्व माने बिना कितना ही तोड मरोडकर सिद्धान्त रखे जाये तो सन्तोषकारी कथन नही बन सकता। सन्तोषकारी तो सीधा सीधा ज्ञान हुआ करता है। जैसा स्वरूप है, जैसा आत्मा है, जो कि पदार्थ है उस तरहका उसका ज्ञान हो तो शान्तिका मार्ग मिलता है।

ज्ञान और आत्माके एकत्व यदि इस आत्माको प्रत्यक्ष मानते हो तो ज्ञान और आत्मा कोई जुदी चीज नही हैं। कोई यदि ऐसा कह दे कि अगुलीने अपनी शक्तिमे कमण्डल, उठाया तो क्या अगुलीकी वह शक्ति और यह अगुली कोई जुदी जुदी चीज बन जायगी। एक उसने कहनेका यो ढङ्ग बनाया और कोई सीधा कह दे कि अगुलीने कमण्डल उठाया तो इन दोनो बातोमे कोई भेद है क्या ? भेद कुछ नही है। क्या शक्ति अगुलीसे न्यारी चीज है ? नही। इसी तरह आत्माने ज्ञानके द्वारा जाना यो कहो या आत्माने जाना यो कहो तो इसमे कोई भावमे फर्क आया क्या ? एक कलात्मक ढङ्गसे उसने कह दिया एक विश्लेषण करते हुए कह दिया। कही ज्ञान और आत्मा अलग अलग वस्तु न बन जायेंगे।

लोकव्यवहारके कर्ताकरणके सदृश ज्ञान और आत्मामे पृथक्त्वका अभाव देखिये अन्य अन्य क्रियावोमे तो कर्ता और करण न्यारे न्यारे बन जायेंगे लोकव्यवहार मे, पर जाननेके काममे कर्ता और करण न्यारे न्यारे नही हुआ करते। जैसे सुनारने हथौडासे इस चांदीका आभूषण बनाया तो यहाँ करण है हथौडा और कर्ता है सुनार

तो ये दो न्यारी न्यारी बातें हुई कि नही ? हथौडा और सुनार एक तो नही हैं लेकिन आत्माने ज्ञानके द्वारा पदार्थ जाना यहाँ करण तो ज्ञान है और आत्मा कर्ता है ये दो न्यारे न बन जायेंगे। उसका सिद्धान्त तो यह हो सकता था कि जब कुल्हाडी और कोई पुरुष जो काठको छेद रहा है, जब ये न्यारी न्यारी चीजें हैं तो ज्ञान और आत्मा भी न्यारी न्यारी चीज होना चाहिए, पर कोई बात सब जगह एकसी नही लगायी जाती। किसी पुरुषने रस्सीको गोल गोल बना दिया तो यहाँ उस रस्सीको गोल बनाने वाला न्यारा है, पुरुष है, उसने एक उसकी ऐसी करदी और सांपने अपने शरीर को गोल बना डाला तो इसमे कोई दूसरा है क्या गोल बनाने वाला ? कभी दूसरा भी होता है कही खुद भी होता है और निश्चय दृष्टिसे तो प्रत्येक पदार्थ खुदमे ही खुदका काम किया करता है कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमे क्रिया नही किया करता।

ज्ञानभावके बिना पदार्थकी जानकारी असम्भव—ज्ञान अज्ञात रहकर बिना जाना हुआ बनकर अर्थात् ज्ञानका भान तो हो नही और पदार्थकी जानकारी चलती रहे यह बात नही बन सकती। आत्मा ही पदार्थकी जानकारीसे परिणमता हुआ जानता है। आत्मा ही ज्ञान हुआ करण साधनसे बोलो तो आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता है। लोग यों बोल देते, पर यह केवल एक साधन व्यवहारका फर्क है। मर्म और पदार्थकी बात दोनो जगह एक है। कोई कहे कि बालक पुस्तक पढ रहा है और कोई कहे कि बालकके द्वारा पुस्तक पढी जा रही है तो इन दोनोमे काम जुदा जुदा हुआ क्या ? कि एक ही कामकी बात कही गयी। केवल एक साधनका भेद डाला गया है, पर बात कोई दूसरी नही कही गयी। तो जिस ज्ञानसे हम पदार्थको जानते है वह ज्ञान हमारेमे पहिले स्पष्ट हो रहा है। वह स्पष्ट न हो तो पदार्थ जाना नही जा सकता।

स्वका ज्ञान स्वसे ही—प्रकरण यह है कि सिद्ध यो किया जा रहा कि ज्ञान स्वसम्वेदक है, ज्ञान परका भी और अपने आपका भी ज्ञान करता रहता है। परोक्ष ज्ञानवादियोने यह तो मान लिया कि ज्ञान पर पदार्थका प्रकाश करता है, पर यह नही माना कि ज्ञान स्वका भी प्रकाश करता है। जैसे दृष्टान्तमे कहा जाय कि दीपक, बिजली खुदका भी प्रकाश करता है और परपदार्थका भी प्रकाश करता है। कमरेमे जो चीज रखी हुई है चौकी है उसका भी प्रकाश करता है और अपना भी प्रकाश करता है। अब इसमेसे कोई इतनी बात तो मान ले कि दीपक पर पदार्थका भी तो प्रकाश करता है मगर खुदका प्रकाश नही करता, तो यह बात कोई मान लेगा क्या ? जो दीपक खुदका प्रकाश नहीं कर सकता वह पदार्थका भी प्रकाश नहीं कर सकता। क्या किसी जलते हुए लट्टूको देखनेके लिए कोई और रोशनीकी तलाश करता है ? नहीं करता ना ! कोई यह तो नही कहता कि हमे बैट्री या लालटेन लावो उस कमरे से लालटेन उठा लावें ! अरे, जो लालटेन जल रही है वह तो अपने आप मालूम पड

जायगी कि यह जल रही है। ऐसे ही ज्ञान खुदमे प्रकाश करता है या नही करता ? हम जिस ज्ञानसे पदार्थको जानते है वह ज्ञान भी हमको एक निर्णय बनाता हुआ जग रहा है या नही जग रहा है ? इस बातको पूछनेके लिए हम किसी दूसरेके पास जाये क्या ? हम चौकीको जान रहे हैं ऐसा ज्ञान मेरेमे है या नही ? या यह बात मैं किसी दूसरेसे पूछने जाऊँ क्या ? अरे, जिस ज्ञानसे जान रहे है वह ज्ञान उसीमे अपने आप स्पष्ट है।

ज्ञान भानकी अप्राप्तिमे ज्ञानसत्ताकी सिद्धि असम्भव – जो लोग ज्ञान को परोक्ष मानते हो अर्थात् जिस ज्ञानसे हम जानते हैं उस ज्ञानका भान हमे नही होता तो वे लोग उस ज्ञानकी सत्ता भी सिद्ध न कर सकेंगे न प्रत्यक्षसे न अनुमानसे। क्योकि उसको सिद्ध करने वाला कोई हेतु नही है। यदि यह कहो कि ये इन्द्रियाँ और ये पदार्थ ये काहेके लिए हैं ? जब ये इन्द्रिय हैं और ये पदार्थ है तो इनकी सत्ता ही यह सिद्ध कर रही है कि कोई जानकारी हुआ करती है नही तो ये हैं किसलिए ? यह भी कहना तुम्हारा ठीक नही है क्योकि इन्द्रिय और पदार्थ रहे आये फिर भी कभी–कभी ज्ञान नही हो पाता है। कोई किसी योग्य देशमे ठहरा हुआ पुरुष है उसके इन्द्रियाँ भी मौजूद हैं, पदार्थ भी सामने मौजूद हैं और मन चला गया किसी और जगह तो ये इन्द्रिय और पदार्थ होकर भी यहाँसे ज्ञान कुछ नही बन रहा, तो इन्द्रिय और पदार्थसे करण ज्ञानकी सत्ता कैसे सिद्ध कर दोगे ?

जडताके कारण इन्द्रिया स्वको भी जाननेमे असमर्थ – देखिये प्रथम तो इन्द्रिय और अर्थमे ज्ञानके साथ अविनाभाव ही नहीं है और लगने लगे कि हुआ भी ज्ञान या अविनाभावपर इन्द्रिय तो इन्द्रियके द्वारा नही जानी जाती। पहिले तो यह दर्शन इन्द्रियसे सर्वथा अतीन्द्रिय मानता है, इन्द्रियगम्य नही मानता। खुद भी देख लो खुद इन्द्रिया खुदका ज्ञान नही कर पाती। आँख आँखको देख लेती है क्या ? आखमे कोई लाली आ गयी तो आखे कहा उसे देख पाती हैं। हा दर्पणसे देख लेते है। वह भी आँख नही दिखी, किन्तु दर्पणमे जो आखका प्रतिबिम्ब दिखा है वह दिखा है उस से जाना कि आख लाल है, आख आँखको जान नही सकती। और, यह जीभ जीभ का स्वय रस ले ? और बात तो जाने दो, यह शरीर भी अपने शरीरके टेम्परेचरको नही जान सकता। एक हाथसे दूसरे हाथको छुवा तब मालूम हुआ कि हा इतना टेम्प-रेचर है। यदि हाथ जहाके तहा रहें, एक हाथसे दूसरे हाथको छूकर न देखें तो नही मालूम हो सकता कि कितना टेम्परेचर है। तो ये इन्द्रियां खुद अपने आपकी बात नही जान सकती। तो इन्द्रिया तो अतीन्द्रिय हैं और पदार्थ अभी परोक्ष ही है अथवा ज्ञानके द्वारा अप्रत्यक्ष है उसका ही तो प्रकरण चल रहा है तो फिर इन्द्रिय और पदार्थ ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करनेमे कैसे हेतु बन सकते हैं ? अथवा सिद्ध हो जाय तो देखिये जो बात सिद्धकी जा रही है ज्ञान है क्योकि इन्द्रिय और अर्थ मौजूद होनेसे तो

इन्द्रिय और अर्थकी भी जानकारी और इस ज्ञानकी भी जानकारी एक साथ बन नहीं सकती, क्योंकि परोक्षज्ञानवादी एक साथ अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं मानते।

ज्ञान द्वारा युगपत् अनेक पदार्थोंका ज्ञान— जैन सिद्धान्त तो अनेक प्रकार का ज्ञान एक साथ किया जा सकता है ऐसा मानता है पर यह परोक्षज्ञानवादका दर्शन केवल एक बारमें एक चीज जानेगा। बहुत चीजें नहीं जान सकता। जैसे एक कभी यह आपत्ति दी कि भाई वेसनको खूब कड़ा गूंथकर तेलमें पपड़ी बनायी जाय तो वह पपड़ी कितनी कड़ी बन जाती है। उसे कोई खाये तो देखो एक साथ कितने ज्ञान हो रहे हैं। मुहमें जो चर चर्रकी आवाज आ रही है तो सुननेमें भी आ रही। नाकके आगे लटक रही तो तेलकी गंध भी आ रही है, कड़ी पपड़ी खा रहे हैं तो आखों भी दिख रही हैं और कड़ी लग रही है तो स्पर्शका भी ज्ञान हो रहा है और खानेमें उसका रस भी स्वादमें आ रहा। तो देखो कितने ज्ञान एक साथ चल रहे हैं उनसे यदि यह बात रखे तो वह यही उत्तर देगा कि वहां भी क्रमसे ही ज्ञान हो रहा है, पर इतनी जल्दी जल्दी ज्ञान हो रहा कि पता नहीं पड़ता। जब पङ्खा बिलकुल तेज हाई स्पीडपर कर दिया जाता है तो यह मालूम पड़ता है कि इसमें पखुड़ी लगी ही नहीं है अथवा कितनी पखुड़ी लगी है इसका कुछ भी भान नहीं रहता है। अथवा जैसे कोई पुरुष ५० पानोंमें एक सूई चुभो दे तो बतावो वे सारे पान एक साथ छिदे या क्रम क्रमसे ? लगता तो ऐसा है कि वे सब पान एक साथ छिदे पर ऐसा नहीं है। वे सब पान भी क्रम क्रमसे ही छिदे। ऐसे ही उस कड़ी पपड़ीके खानेमें लग रहा है ऐसा कि सब इन्द्रिया एक साथ जान रही है पर ऐसी बात नहीं है। वह सब ज्ञान भी क्रम क्रमसे ही हुआ करता है यो उत्तर देंगे। इतना क्रम मानने वाले ये परोक्षज्ञान-वादी हैं। तो क्रम तो रहा नहीं करता। जब विज्ञानकी सिद्धि कर रहे कि ज्ञान है और इसकी सिद्धि करनेके लिए तुम जो भी हेतु दोगे तो उसकी भी तो जानकारी होना चाहिए। तो जब साध्यका ज्ञान किया जा रहा है तब साधनका ज्ञान नहीं। तो उनका कुछ बन ही न सकेगा। देखिये कभी यह अनुमान हो कि इस कमरेमें आग जल रही है क्योंकि धुवां उठ रहा है, अब इस बातको बिगाड़ना है क्योंकि यह मान रहा है कि सब ज्ञान क्रमसे होता है तो जब धुवा हमने जाना तब हमारे ज्ञानमें आग न रहे तो हम सिद्ध क्या करें ? जब हमने आग जाना तब धुवाका ज्ञान मिट गया तो हम सिद्ध क्या करें ? हम तो कुछ अनुमान बना ही नहीं सकते। जो ज्ञानकी उत्पत्ति क्रम क्रमसे मना करते हैं।

अनेक पदार्थोंका ज्ञान एक साथ न माननेपर अनुमानकी असिद्धि— अनेक पदार्थोंका एक साथ ज्ञान हो सकता है यह बात न माननेपर वे अनुमान बना ही नहीं सकते। तो इस इन्द्रिय अर्थमें भी ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती। शायद यह कहो कि उत्तरकालमें जो ज्ञान होगा उससे सिद्ध होगा। तो जब ज्ञान हेतुका होगा

तब यह साध्य ज्ञान भी न रहेगा और दोनोंको विषय करने वाला कोई एक ज्ञान नही मानते है। अत यह सिद्ध न कर सकेंगे ज्ञानको परोक्ष मानने वाले लोग कि ज्ञान भी दुनियामे कुछ हुआ करता है। जब ज्ञान सिद्ध न हो सकेगा तो परोक्ष और प्रत्यक्ष का फर्क चलाना यह श्रम करना तो व्यर्थ है। सीधे मानो कि मैं ज्ञानरूप हूँ मेरेमे ज्ञान शक्ति है, मुझमे ज्ञानका परिणमन चलता है, और उस ज्ञानका ऐसा स्वभाव है कि पदार्थको जानता रहे। तो अपने ही स्वभावसे पदार्थको जानता रहे। तो अपने स्वभावसे पदार्थको जानता रहता है। ये जाननेमे आये हुए पदार्थ मेरे कुछ नही लगते है, ये भिन्न हैं, मैं भिन्न हूँ, मैं ज्ञानस्वभावात्मक हूँ। ये सब अज्ञानरूप है। अपने आप के स्वभावका निर्णय बनायें और अपने स्वभावमय अपनी प्रतीति रखी जाय तो इससे अपने आपका निराला स्वरूप समझमे आयगा, मोह टूटेगा, रागद्वेष दूर होगे और मोक्षका मार्ग प्राप्त हो सकेगा।

विज्ञानकी सिद्धिके लिये अन्य युक्तियाँ—जिस ज्ञानके द्वारा आत्मा पदार्थोंको जानता रहता है वह ज्ञान यदि मानमे न माना जाय अर्थात् उस ज्ञानकी जानकारी कबूल न की जाय तो फिर यह ज्ञान भी है इतनी तक भी सिद्धि न की जा सकेगी। वह ज्ञान अमूर्त है, इससे प्रत्यक्ष तो है नही और अनुमानसे भी यो न जाना जा सकेगा कि उस ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करने वाला कोई हेतु नही है। अब इस प्रसङ्गमे विज्ञानकी सिद्धि करनेके लिये शङ्काकारकी ओरसे तीसरा विकल्प रखा जा रहा है कि ज्ञान असत् है क्योकि इन्द्रिय और पदार्थका सहकार लेकर एकाग्र जैसा कि यह मन है यह मन ज्ञानका साधन है, यह बात भी असगत है क्योकि मनकी ही सिद्धि पहिले कर ली। देखिये ! जब अपने आप स्पष्ट समझमे आ रहा है कि मेरा यह ज्ञान है, ज्ञानसे हम जानते हैं, उस ज्ञानका भी निषेध किया जा रहा है तो उसे सिद्ध करने के लिए जो भी युक्तियाँ दी जायेगी जो भी साधन बताये जायेंगे वे सब भी सिद्ध नही हो सकते। मन है कहाँ बतलावो ? देखो है कहाँसे ? किसीको पकडे हुए, बाँधे हुए सिद्ध नही कर सकते और है सीधी सी बात, पर एक अपने ज्ञानको अपनी ही समझ मे न माननेसे फिर कुछ भी सिद्ध न किया जा सकेगा। यदि यह कहे कि लो इस मन की सिद्धि करते हैं मन है क्योंकि एक साथ ज्ञान नही बन रहा है। एक साथ ज्ञान न बननेका चिन्ह मनमे मिलता है क्या ? और वह क्यो ऐसा हो रहा ? आत्माका तो है मनसे सम्बन्ध और मनमे है इन्द्रियका सम्बन्ध। तो जब आत्मामे मनसे सम्बन्ध बने और मनसे इन्द्रियका सम्बन्ध बने तब ज्ञान बनता है। तो इस काममे देरी रहती है तो क्रम-क्रमसे ज्ञान हो पाता है, यह बात अन्य मतावलम्बी दार्शनिक रख रहे है।

जैनसिद्धान्तमे क्रम-अक्रमसे कथचित् ज्ञानकी उत्पत्ति—जैनसिद्धान्तमे तो किन्ही वस्तुओका क्रमसे भी होता है और किन्हीका एक साथ भी होता है। शङ्काकारका ही कहना है कि जिस समय इस मनका आँखसे सम्बन्ध है उस समय पञ्चे-

न्द्रियका सम्बन्ध नही है क्योकि मन अत्यन्त सूक्ष्म है । तो यह मन जिस जिस इन्द्रिय का सम्बन्ध बनाता जाता है उस उस इन्द्रियमे ज्ञान चलता है । इसी कारण एक साथ ज्ञान नही होते, क्रमसे ज्ञान होते हैं । यह शङ्काकारकी बात कही जा रही है । सुननेमे बडा अच्छा लग रहा होगा कि वह ठीक ही कह रहे हैं । लगता भी ऐसा है कि यह मन जिस जिस इन्द्रियसे सम्बन्ध करता है उस उस इन्द्रियका ज्ञान होता रहता है । भाई ! जब यथार्थ जानकारी नही होती है तब ये सब बातें जो भूलमे चली आयी हैं वे तो सही लगेंगी ही । देखिये ! जिनके मन नही है क्या उनके इन्द्रियका ज्ञान नही होता । एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय असज्ञी पञ्चेन्द्रिय जब यह बात तथ्यकी कह रहे हैं कि मनका इन्द्रियसे सम्बन्ध हो तब जानकारी बनती है ।

जाननेके ६ निमित्त कारण षट् इन्द्रिया   दूसरी बात देखिये । जैसे यह इन्द्रिय एक स्वतन्त्र कारण है अर्थात् एक दूसरेकी अपेक्षा न रखकर प्रत्येक इन्द्रिय खुदमे खुद अपना वजूद रखता है ऐसे ही मनभी है । जाननेके साधन ६ हैं—५ इन्द्रिया और छठा मन । अब मन इन्द्रियसे दोस्ती करे याने सहायता दे, उनसे सम्बन्ध करे तब ज्ञानकारी बने यह बात ठीक नही बैठती । हाँ यह अवश्य है कि ज्ञानके चक्र इतने शीघ्र शीघ्र होते हैं कि इन्द्रियका भी काम चलता रहे और मनका भी काम चलता रहे । तो यह शङ्कारखना शङ्काकारको असगत है कि एक साथ ज्ञान भी नही होता, इससे करकी सिद्धि होती है । यह तो एक प्रकृति है । कभी चीजोका क्रमसे ज्ञान होता कभी चीजोका एक साथ ज्ञान होता और मोटे दृष्टान्तमे रख लीजिए वही वेसनकी तेलकी भुनी कडी पपडिया वडीसी, माडवारी टाइपकी उसे कोई खाता जाय तो सभी इन्द्रियोका ज्ञान हो रहा है । चुर्र-चुर्रकी आवाज भी सुन पडती कडी है सो स्पर्श भी हो रहा, गध भी मिल रही, रसनामे स्वाद भी ले रहा यो पाचो बातें एक साथ हो रही है, तो एक साथ भी तो ज्ञान हुआ करता है और भी सुनिये । आप एक घोडेका चिन्तन कर रहे हैं— फलानेका घोडा वडा पुष्ट है, रङ्ग भी खैरिया है, चाल वडी अच्छी है, वह घोडा हमे कैसे मिले यो विचार कर रहे हैं और इसी बीच सामने से निकल जाय कोई गाय तो धुन तो लगी है घोडेके विचारमे पर उस बीच भी गाय की भी कुछ जानकारी बनी कि नही । तो क्रमसे तो नही रही अब बात जब जो आया आ गया ज्ञानमे । कहोगे यह भी भ्रम है । पपडिया खाया, पाचो इन्द्रियसे जाना वहा भी क्रम है । घोडेका विचार कर रहे थे, सामनेसे गाय निकली और ज्ञान हो गया वहा भी भ्रम है तो इससे तो प्रत्यक्ष विरोध है । सामनेकी तो बात है खाकर देख लो, बाजारमे बहुतसी वेसनकी पपडिया बनती हैं ना, जाकर उठाकर खाकर देख लो पाचो ज्ञान एक साथ हो रहे है या नहीं और फिर जो एकान्त बनाया, प्रत्येक ज्ञान क्रमसे ही होते हैं, एक साथ कुछ होते नही, एक साथ भी कुछ ज्ञान हुआ करता या नही, यह पूछा जा रहा है ।

छद्मस्थके क्रमसे ही ज्ञान माननेमे एकान्त दोषकी उत्पत्ति—यदि

कहो कि एक साथ तो कुछ ज्ञानमे आता ही नही तो लो अब कुछ भी सिद्ध नही कर सकते। यह बतावो यह क्या चीज रखी है ? यह चौकी रखी है। चौकी किस ज्ञानमे आ जायगी ? चौकीमे तो अनन्त परमाणु हैं और एक एक परमाणुका क्रम क्रमसे ज्ञान होगा, अथवा परमाणु तुम्हे नही दिखता तो इस चौकीमें देखने योग्य जितने छोटे छोटे टुकडे है चिपके हुए उनके क्रमसे ज्ञान करियेगा। जब एक टुकडेका ज्ञान किया चौकीका नही किया तो तुम चौकीको ज्ञान कैसे लोगे ? जो लोग एक साथ ज्ञान होना नही मानते उनको दोष दिया जा रहा है। जैन दर्शनमे छद्मस्थ अवस्थामे भी कोई चीजका एक साथ भी ज्ञान होता और कोई चीजका क्रम क्रमसे भी ज्ञान होता। पर जो क्रमसे ही ज्ञान होता। है। एक साथ ज्ञान होता ही नही ऐसा एकान्त करते है उनसे पूछा जा रहा है कि फिर तुम इन चीजोको जान कैसे सके ? ये तो सब अवयवी हैं। अवयव मायने छोटे छोटे हिस्से। और, उन हिस्सोका यह पिण्ड है तो तुमने इन सब चीजोंको एक साथ कैसे जान लिया ? चौकीमे १०–२० करोड टुकडा है, उनका समूह यह चौकी है। तो तुम टुकडोंके एक एकके जाननेमे लगे रहो, क्रमसे। एक साथ ज्ञान होना मानते ही नही तो फिर कुछ जान ही नही सकते। और, यदि यह बात रख रहे हो तुम कि आत्माका तो होता है मनसे सम्बन्ध जब कुछ ज्ञानमे आता। इतनी जब कवायत यहा हो जाय तब जाकर कुछ समझमे आता। तो यह बतलावो कि जैसे इस सूक्ष्म मनका इन्द्रियसे किसी भी एक इन्द्रियका सम्बन्ध हुआ तो उस ही सम्बन्धके समयमे सुखसे भी सम्बन्ध हुआ क्योकि आत्मामे सुख परिणमन भी है। उसमे भी मन लगा तो एकेन्द्रियमे सन्निकर्ष के सम्बन्धमे जैसे रूप आदिकका ज्ञान हो रहा है।

ज्ञानके क्षयोपशम द्वारा वस्तुज्ञानकी सिद्धि— इसी प्रकार मानसिक सुख आदिकका ज्ञान क्यो नहीं हो जाता क्योकि सम्बन्ध सम्बन्ध वहां पाया जा रहा है ? तो इसका उत्तर यह देंगे कि उस प्रकारका भाग्य नही अदृष्ट नही इस कारणसे सुख आदिकका ज्ञान नही हो रहा है तत्काल तब फिर सारी बात अदृष्टमे मान लो। एक साथ जो ज्ञान नही हो रहा है वस्तुवोका वह भी अदृष्टका फल है। एक ज्ञानावरण कर्म लगा है उसका उदय है इस कारण एक साथ ज्ञान नही हो पाते ? कौनसा हो पाता है जिसका कि आवरण हट गया। तो उससे अदृष्टका ही अनुमान बनेगा मनका नहीं। मनकी सिद्धि हम नही कर सकते। मन है उसका भाव नही कह रहे किन्तु जो लोग ज्ञानको परोक्ष मानते हैं, हम जिस ज्ञानसे पदार्थको जानते है उस ज्ञानसे जानते ही नही हैं ऐसा मानने वालोसे कहा जा रहा है कि तुम इस ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये जो मनका हेतु देते हो तो तुम मनको सिद्ध ही नही कर सकते। और फिर मन होनेके कारण एक साथ ज्ञान नही होता, एक साथ ज्ञान न होनेसे मनका सद्भाव सिद्ध होता है। ऐसा कहनेमे अन्योन्याश्रय दोष हो गया। जैसे जब कभी कोई दानकी बात कही जाय, बेटासे कहे कि भाई अमुक काममे १००) दान कर

दीजिए तो वेटा कहेगा कि अजी हम कुछ नही जानते जो पिताजी कह देंगे वह हमे स्वीकार है । उसके पिताजीसे कहा कि भाई अमुक काममे १००) लगा दो, तो वह कहेगा अजी वेटा जाने, अब हमारा क्या है । जो कुछ वेटा कह देगा वह हमे स्वीकार है । तो यही हो गया अन्योन्याश्रय । जैसे एक ताला होता है जो विना चाभीका लग जाता है । ताली तो धर दें ट्रकमे और वादमे लगा दे ताला तो क्या स्थिति बन गई कि ताला खुले तो चाभी निकले और चाभी निकले तो ताला खुले । यह एक प्रासगिक बात कही जा रही है ऐसे ही तुमने यहाँ झगडा वना लिया । एक साथ ज्ञान नही होता है यह बात सिद्ध हो जाय तो मनकी सत्ता सिद्ध हो तब यह कहा जा सकता है कि एक साथ ज्ञान नही है ।

सच्ची वात मुकरनेमे अनेक असत्योका सहारा देखिय एक जरासी सीधीसी बात रखी जा रही है । एक सच्ची वातको छिपा लेनेसे कितना झूठ वोलना पडता है । और फिर इतना झूठ बोलनेसे पूरा भी पार नही पडता तो अपनेमे निरख लीजिये कि सबको अपनी अपनी जानकारीका पता है कि नही । सब ही अपनेमे कुछ न कुछ जान रहे हैं समझ रहे हैं और वात जल्दी समझमे न आये तो यह बात देख लो जिसके चित्तमे कपट है, छल है किसी वातका कोई छलका बात रख रहा है तो वह जान रहा है कि नही खुद कि हम यह कह रहे हैं । हम यह कपट रच रहे हैं । वह तो जरूर जानेगा दूसरे जानें या न जानें वह दूसरोकी वात है । तो खुदका ज्ञान खुदकी समझमे न रहे ऐसा कोई मान ले तो उसे अनेक बातें ढूढनी पडेगी अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिये । मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मान मेरा साधन है । ज्ञानकी हममे स्पष्टता है, मैं जानता हू । अब देखिये ज्ञान कही रूप, रस, गध स्पर्श वाला तो नही है जो हम इन्द्रियसे इस तरहमे जान लें जैसे हम पदार्थके जानते हैं, नही हैं रूप रस आदिक ज्ञानमे फिर भी चूँकि आत्मा स्वय ज्ञानस्वरूप है इसलिये अपने ज्ञानका उसे पहिले पता रहता है ।

ससारी आत्माके साथ द्रव्यकर्म भावकर्मकी सिद्धि— देखिये आत्माके साथ द्रव्यकर्मका और भावकर्मका सम्बन्ध है । ज्ञानावरण आदिक ८ कर्म ये भी जीव के साथ लगे हैं और रागद्वेष मोह विकल्प विचार ये भी जीवके साथ लगे हैं । और, रागद्वेष से कर्म मोटे हैं, रागद्वेष उनसे पतले हैं, अर्थात् कर्म तो हैं मूर्तिक और राग-द्वेष हैं अमूर्तिक । कर्मोंमे तो रूप, रस, गध स्पर्श पाये जाते हैं । मोह रागद्वेष भावमे काला, पीला, नीला आदि कोई रङ्ग नही होते हैं पर कर्मोंमे रङ्ग हैं । कर्म हैं मूर्तिक जो मूर्तिक होता है उसमे रूप, रस, गध, स्पर्श पाये जाते है । तो कर्म रागद्वेष मोह आदि विकारोकी अपेक्षा अधिक मोटे हैं लेकिन जितना स्पष्ट बोध रागद्वेष मोहका विकल्प विचारका होता है उतना स्पष्ट बोध कर्मका नहीं होता है । कर्मको कौन जानता है । और, रागद्वेषका सब अनुभव करते हैं । तो ऐसा क्यो हो गया । जब

आत्माके क्षेत्रमे कर्म भी सब मौजूद हैं फिर कर्मका तो हम ज्ञान नही कर पाते और रागद्वेष आदिकका हम ज्ञान कर लेते इसका कारण यह है कि रागद्वेष तो हैं आत्मा के परिणमन और कर्म हैं पुद्गलके परिणमन। तो जो बात हमपर खुदपर बीतती है उसका भी पता न पडे यह कैसे हुआ।

ज्ञानके स्पष्ट माने विना परोक्ष ज्ञानकी अनुपलब्धि यो ही समझिये कि हम जो कुछ ज्ञान करते हैं वह ज्ञान तो हमारा ही अंश है ना, और उसका ही हमे भान न हो यह कैसे हो सकता है। आत्मा है, ज्ञानस्वरूप है और वह अपने आपको सबको अपना ज्ञान, अपनी अपनी जानकारी चाहे किसीका सम्यग्ज्ञान हो रहा हो स्पष्ट रहता है। इससे ज्ञानको सीधा मान लो, परोक्ष मत मानो। और, ज्ञानको परोक्ष मानकर ज्ञानकी सिद्धि करनेके लिये, ज्ञानका अनुमान बनानेके लिये सबका साधन ढूंढना, और साधनोकी सिद्धि करना यह श्रम मत करो। ज्ञानको स्पष्ट माने विना परोक्ष माननेमे एक भी ज्ञानकी सिद्धि नही कर सकते। क्योकि, उस ज्ञान का अनुमान कराने वाला कोई साधन नही दे सकते। अथवा कोई साधन भी बन जाय तो वह ज्ञानका अत्यन्त अप्रत्यक्ष माननेपर उसका भान ही नही हो सकता, ऐसा माननेपर साधनका ज्ञानसे सम्बन्ध होता है यह सिद्ध नही कर सकते। और, जब तक किसी भी चिन्हका सम्बन्ध सिद्ध नही कर सकते तो विज्ञानकी सिद्धि नही बन सकती जिसका हम सम्बन्ध न जानते हो तो दूसरेका ज्ञान कैसे कर सकते, इस कारण इस का एकाग्र छोड दो कि ज्ञान परोक्ष ही रहा करता है।

ज्ञानके स्वपर व्यासायात्मककी सिद्धि— ज्ञानको स्वव्यवसायात्मक और पर व्यवसायात्मक मान लो, ज्ञान खुदका भी निर्णय रखता है क्योकि वह पदार्थकी जानकारीका कारण है। जैसे दीपक खुद भी प्रकाशमान है क्योकि वह पर पदार्थके प्रकाश करनेका कारण है ऐसा मान लो। जैसे आत्माको अप्रत्यक्ष मानते है ऐसे ही ज्ञानको भी प्रत्यक्ष मान लो। देखिये मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ आदिक रूपसे मैं को तो मानते है ये लोग कि हमारा भान रहता है क्योकि मैं का भी भान न रहे तो सुख दुःख कैसे भोगे जाये लेकिन जिस ज्ञानके द्वारा मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ यह जानकारी बन रही है अथवा पर पदार्थोका ज्ञान बन रहा है उस ज्ञानको ही ये स्पष्ट नही मानते प्रत्यक्ष नही मानते। अरे भाई जैसे आत्मा प्रत्यक्ष है वैसे ही आत्माका यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है और आत्मा भी प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ही हुआ। ज्ञानका भान न हो तो लोक मे पुरुषोके प्रति कोई व्यवस्था ही नही बन सकती। यदि कहो कि हम नेत्रके द्वारा देखते है पर नेत्र खुदका ज्ञान नही करता। ऐसे ही हम ज्ञानके द्वारा जानते हैं और वह ज्ञान खुदका ज्ञान नही करता, यह बात किसी भी युक्तिसे किसी प्रकारकी ठीक नही है क्योकि नेत्रसे हम जानते नही है, नेत्र जाननहार नही है, जाननहार तो सर्वत्र यह आत्मा है, ज्ञान है, वह तो पदार्थकी जानकारीमे एक बाह्य साधन है अतएव उस

चारसे यह कह दिया जाता है कि हम आंखसे जानते हैं, कानसे जानते हैं पर परमार्थमे ये आंख कान आदिक आत्म.मे और प्रमाणमे केवल कारण मात्र होता है। यह ज्ञान सुनता नही है और न य: जानता है।

ज्ञानशक्तिसे ही विश्वको जाननेमे समर्थ—आत्मा ज्ञानमय है और अपनी ज्ञानशक्तिसे समस्त विश्वको जानता है। इस आत्माका कार्य केवल जानन जानन बनाये रहना है, और यह कुछ नही करता। यह तो ज्ञानस्वरूप है, अमूर्त है किसी पदार्थमे टक्कर नही ले सकता। किसी पदार्थको अपनेमे रख नही सकता। यह तो केवल जानन जाननका ही काय किया करता है। तब इसके अलावा जो लोग और कुछ मानते हैं मैं करता हूं, मैं भोगता हूं, मैंने इतना कार्य किया यह तो मिथ्यात्व और अज्ञानका फल है। तो कारणभूत जो ज्ञान है वह ज्ञान सबके भानमे है ऐसा मान लेना चाहिए, तब एक सिद्धान्त ऐसा भी है कि जो न ज्ञानको स्पष्ट मानता है और न आत्माको स्पष्ट मानता है। कहते हैं कि उनका भी सिद्धान्त इस कथनसे निराकृत हो जाता है, उनका कथन यह है कि आत्मा भी परोक्ष है क्योकि आत्मा कर्मरूपसे प्रतीयमान नही है। मैं जानता हू ऐसा कोई नही कहता। मैं इसको जानता हू ऐसा कोई नही कहता, मैं जानता हू यो कहा करते हैं, इस कारण आत्मा प्रत्यक्ष नही है। करण ज्ञानकी तरह है ऐसा कहने वाले दार्शनिक भी निराकृत हो जाते हैं क्योकि जो जानकारी है वह भी तो कम रूपसे नही जाना जाता फिर भी सबमे प्रत्यक्ष है, ऐसे ही आत्मा भी और यह ज्ञान भी सब प्रत्यक्ष रहता है।

ज्ञानका वैशिष्ट्य अपने अपनेका सबको पता है मैं भीतरमे कैसा हू, स्वच्छ हू। या कपटी हू या ससारका रुचिया हू या धर्मका अनुरागी हू, चाहे करण हो चाहे कर्ता हो चाहे क्रिया हो, उसका प्रत्यक्ष हो जाता है। ज्ञानस्वरूपके जाननेसे, आत्मासे क्या सर्वथा भेद है ? भेद तो है नहीं, क्योकि उससे विशेष बातका दोष लगेगा, और यदि अभेद है तो कुछ भी एक बात प्रत्यक्ष मानले तो सारी बात प्रत्यक्ष माननी होगी। क्या जानकारी प्रत्यक्ष है। खुद खुदमे बना हुआ है। खुदके घरमे रहता हुआ यह सारी व्यवस्था बनाता रहता है। आत्मज्ञानका ऐसा महत्त्व है कि अपनी ही ज्ञान परिणतिसे जगतमे सब कुछ अपनी व्यवस्था बनाया करता है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माको मान ले कि यह मैं हू और स्पष्ट समझ लें और यह निर्णय कर लें कि यह मैं आत्मा सबसे निराला केवल ज्ञान ज्योति स्वरूप मात्र हू। यो ज्ञान स्वरूपके निकट अपने उपयोगको रमानेसे कर्म कलङ्क कटेंगे, सच्ची प्रसन्नता मिलेगी और भविष्य भी आनन्दमय व्यतीत होगा।

ज्ञान स्वभावमे ही कर्ता कर्म करण क्रियाके-मर्मबोधकी उपलब्धि हम आप सब ज्ञानस्वभावी हैं और ज्ञानसे प्रतिक्षण जानते रहते हैं, उस जाननेकी शैली इस प्रकार हुआ करती है। जिसमे जो जानने वाला है वह भानमे रहे। जिस

ज्योतिके द्वारा जाना है वह भानमे रहे, जैसा जाना है वह भी भानमे रहे और जानने की क्रिया भी भानमे रहे इस शैलीसे जानना हुआ करता है। चाहे कोई इसको कला-त्मक ढगसे, शब्दात्मक पद्धतिसे न भी रख सके परन्तु जिस क्रियाका, जिस परिणति का जिस प्रकार स्वभाव है वह उस प्रकारसे ही हुआ करता है। इसका सीधा त त्पर्य यह है कि जिसको हमने जाना है कि यह चौकी है तो उसका रूपक यो वनता है कि मैं ज्ञानसे चौकीको जानता हूँ ज्ञानसे कहो अथवा अपने आपसे कहो। मैं अपने आपसे चौकीको जानता हूँ। जाननेकी पद्धति इस प्रकार हुआ करती है। और इस पद्धतिसे निरख लीजिए कि मैं जानता हूँ। मैं का भी प्रत्यक्ष माथ साथ है ना और मैं अपने आपसे ही जानता हूँ। मैं अपने आपसे अपने ज्ञानके द्वारा ही जानता हूँ, यह भी प्रतीति रहती है ना, और मै चौकीको जानता हूँ, चौकीकी प्रतीति, चौकीका भान तो सब लोग झट मान लेंगे हां चौकी तो स्पष्ट नजर आ रही है। जाननेकी जो क्रिया है कर रहा हूँ। जान रहा हूँ, इसका भी भान है कि नही। इनमेमे इन चार मर्मोका पता रहता है। चाहे विश्लेषणके ढगमे न वता सके और अपनेमे प्रयोग न कर सके, किन्तु जो भी जीव यहां जानते हैं वे इस प्रकारका रूपक लिए हुए ही जानते हैं। तव हममे सव वात हमारे लिये हमा ी वाम प्रत्यक्ष है, स्पष्ट है इस सिद्धान्तके विरोधमे शङ्काकार यह कह रहा है कि भाई यह तो शब्द गढ लिया।

स्वसवेदन प्रत्यक्ष बिना पदार्थज्ञान वास्तविकतासे रीता — केवल एक शाब्दिक रचना है। यह कि मैं अपने द्वारा चौकीको जानता हूँ। वात तो वहां इतनी है कि चौकी स्पष्ट हो रही है। अब वहां ज्ञान भी स्पष्ट है। मैं भी स्पष्ट हूँ। यह तो सव केवल शब्दके वलपर चल रहा है। मैं का और ज्ञानका कोई भान नही है। चीज दिख रही है वस। यह अनुभव प्रभाव वाला नही है अर्थात् स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष नही है। यदि शाब्दिक घटनाको प्रत्यक्षका अविनाभावी मान लिया जाय कि शब्द द्वारसे जो कुछ ज्ञान वनता है उसका स्पष्ट प्रभिभास होता है तो लो ज्ञान की तो हम अनेक गणना वना दें। देखो हमारी अगुलीके ऊपर १०० हाथी खडे है। शब्द रचना ही तो वनाया और इस कथनमे कोई त्रुटि तो नही है व्याकरणकी शब्दात्मक वात है कह दिया। तो शब्दात्मक गणनासे केवल वाक्य प्रयोगसे यदि तथ्य वन जाय, अनुभव आ जाय, स्वसम्वेदन हो जाय, अनुभव आ जाय तो फिर अगुली तो अव तुरन्त टूट ही जायगी। १०० हाथीका वोझ क्या यह अगुली साध लेगी ? तो ये सब केवल शब्दकी वातें हैं, इसी प्रकार जो तुम ज्ञानकी यह रचना वनाते हो घटना करते हो, जैसे घडा घडा जाता है ऐसे ही तुमने ज्ञानको भी घड दिया, तो इसी प्रकार शब्दके घडनेका यदि अनुभव वन जाय तव तो फिर एक यह वाक्य बोले कि अगुलीके अग्रभागपर१०० हाथी वैठे हैं तो फिर वैठे ही मिलें,फिर वही वात मिले। इससे यह तो कहा जा सकता है कि जिस चीजमे हमने जाना घडेको यह तो स्पष्ट होता है, वाकी न जानने वाला स्पष्ट है न वह ज्ञान स्पष्ट है, चीज स्पष्ट

है। देखिये यह जानने वाले शङ्काकारके अभिप्रायसे आज कलकी चली बैट्री हैं। जैसे उन बैटरियोंसे चीज तो देख लें, न आदमी दिखेगा न बैट्रीदिखेगी, सिर्फ चीज चीजका भान होता है। यद्यपि वहा भी जो दीपक है वह स्वपरप्रकाशक है। वह टार्चका ढाँचा है उसका नाम दीपक नही है, ज्योतिका नाम दीपक है। लेकिन मोटे रूपमे यों समझ लीजिये कि शङ्काकार यह कह रहा कि जैसे न तो बैट्रीका पता न बैट्री लेने वालेका पता, चीजका पता रहता है तो ऐसे ही ज्ञान द्वारा चीजका पता रहता है, न जानने वालेका पता और न जिसके द्वारा जाना उसका पता। यो न कोई आत्मा है न कोई ज्ञान है और केवल पदार्थ स्पष्ट होता रहता है इतनी बातको मना नही कर सकते। शङ्काकार यहा यह शङ्का कर रहा है। इसके उत्तरमे आचार्यदेव यहाँ १०वा सूत्र कह रहे हैं। शब्द घडनेसे ज्ञानकी बात नही बनायी जा रही ज्ञानमे क्या आया और क्या शैली बनी उसको बतानेके लिए शब्द घडे गए हैं।

शब्दके न बोले जानेपर भी आत्मानुभवकी उपलब्धि—शब्दके घडनेके माध्यमसे ज्ञान नही बनाया गया क्योंकि शब्द न बोले तो भी आत्माका अनुभव होता है। जैसे आँखे खोलकर जो देखा वह प्रतिभासमे आ गया। अब जरा जरा सी देरमे एक सेकेण्डके हजारवे हिस्से बराबर समयमे अनेक पदार्थ प्रतिभासमे आते रहते हैं। क्या हम सब जगह ये शब्द घडते रहते हैं ? मैं इसको जानता हूँ, मैं इसको अपने द्वारा जानता हूँ तो जिस पदार्थका प्रतिभास होता है शब्द नही घडते। शब्दके उच्चारणके बिना भी घड शब्द न बोले फिर भी घडका प्रतिभास तो होता रहता है। जो बोलेगा उस चीजका नाम नही जानता और चीज सामने दिख जाय तो नाम न जानने से और शब्द घडते नही, पर ज्ञानमे आयेगे कि नही ? आयेंगे। तो जो घडे शब्दका उच्चारण किए बिना भी घडेके स्वरूपका प्रतिभास होता है और इसी प्रकार घडे शब्दके उच्चारणके बिना घडे स्वरूपका होने वाला प्रतिभास केवल शब्दात्मक प्रतिभास नही है किन्तु यथार्थ प्रतिभास होता है इसी प्रकार आत्माका ज्ञानका शब्द उच्चारण न भी करे तो भी आत्मा आदिकके स्वरूपका प्रतिभास होता है। इस कारण आत्मा का प्रतिभास होना, ज्ञानका प्रतिभास होना केवल एक शब्द-रचनाकी बात नही है, किन्तु होता है ऐसा। यह अपने आत्मारामके उपवनमे विहारकी बात कही जा रही है। यह जानने वाला आत्मा अपने आपके प्रदेशोमे अवस्थित रहता हुआ क्या करता रहता है और उस आत्मप्रदेशमें कितना उजाला प्रत्येक जीवके निरन्तर बना ही रहता है उसकी बात यहाँ कही जा रही है।

अपना ज्ञान प्राप्त करनेके लिये स्वमे ही सामर्थ्य—जैसे भूल होनेके कारण घरमे गडे हुए धनका पता नही रहता है ऐसे ही इस आत्मारामके अन्तरङ्ग खजानेका पता भूल होनेसे स्पष्ट नही मालूम हो रहा है। घरमे गडे हुए धनको स्पष्ट करनेके लिए कुदाली आदिक भिन्न साधनोकी जरूरत पडती है लेकिन इस आत्मगृहमे

गडे हुए धनको स्पष्ट करनेके लिए किसी भी बाह्य साधनकी जरूरत नही है। अपने ही ज्ञानसे अपने आपमे वह प लिया जाता है। हम जो कुछ भी जानते हैं उसका ज्ञान तत्काल बनता है जब ज्ञान बनता है तब उसको बतानेके लिये फिर शब्दरचना हुई। जैसे मिश्री खाया, मीठी लगी। अब कोई उस मिश्रीके बारेमे वर्णन करने लगे, यह तो बहुत मधुर है तो क्या ऐसा वर्णन करनेसे इसकी मधुरता बनायी जा रही है? नही। यह स्वय मधुर है और उनको बतानेका प्रयत्न यह शब्द बोलकर किया जा रहा है। शब्द बोलना भी निराधार नही हुआ करता। यदि शब्द गणना भी की है तो बोलकर अटपट शब्दोसे नही की है। जो भी शब्दोसे कहा गया वह वाक्यका आधार है। तो शब्दोकी प्रतीति भी निराश्रय नही होती है। किसी वस्तुके स्वरूपका भान होता है तो उसके ही विषयको शब्दो द्वारा बोला जा रहा है। तो शाब्दिक जो जानकारी है वह निराश्रय नही हुआ करती है उसका वाच्य भाव। जिसके सम्बन्धमे शब्द निकले, व्यवहार किया गया— यह चौकी है, यह घडी है तो ये शब्द निराश्रय नही हुए। तो शब्दका वाच्यभूत पदार्थ है, उसको बतानेके लिए शब्द द्वारा व्यवहार किया है।

वाक्यके अभावमे वाचककी अनुपलब्धि यदि शाब्दिक प्रतिभास मात्र होनेसे वह सब निराश्रय ज्ञान बन जाय अर्थात् उसका वाच्य तथ्यभूत कोई पदार्थ न माना जाय तो लो मैं सुखी हूँ ऐसा शाब्दिक ज्ञान हुआ तो वह भी निराश्रय बन जायगा। तो सुखका आधारभूत फिर आत्मा ही न रहेगा। तो जैसे सुखी हूँ इस शाब्दिक ज्ञानमे एक विशिष्ट कोई आत्मा है ना, उसकी सिद्धि है ना तो शब्द बोला गया तो उसका कोई पदार्थ ऐसा है जिसके बारेमे शब्द बोला है इसी प्रकार यदि यह बोला गया कि मैं जानता हूँ तो शब्द प्रत्पत्तिका भी आश्रय है आत्मामे हुआ ना कुछ, तब ये शब्द बोले गए, न हो तो शब्द व्यवहार कौन करेगा? कोई भी वस्तु ऐसा नही है कि जो हो तो कुछ नही और उसका नाम हो। पदार्थ तो कुछ है ही नही। और, नाम रख दिया जाय ऐसा हो सकता है क्या? किसी असत का नाम नही हुआ करता। जगतमे जितने भी शब्द हैं उन सबका वाच्यभूत अर्थ अवश्य है। कोई कहे अच्छा लो हम कहते हैं गधेका सीग, धुर्वेका कोपल, आकाशका फूल खरगोशके सीग। हम बोलते तो चले जा रहे हैं। हमे जरा चलकर दिखा दो ये कहाँ हैं। अरे इस प्रकार मनमाने ढङ्गसे तो सम्बन्धकी बात नही है, पर आकाश तो कुछ होता है और सीग भी होते है। पदार्थ न हो तो उसका नाम नही रखा जा सकता है। जितने नाम है उन सबका वाच्यभूत पदार्थ अवश्य है तो जब यह शब्द रचना हुई कि मैं जानता हूँ यह जानता है तो मैं और यह का वाच्यभूत प्रमाता आत्मा ज्ञाता कोई है उसका अपलाप नही कर सकते।

प्रमाणस्वरूपके निर्णय विना वस्तुतत्त्वकी अज्ञेयता—इस परिच्छेदमे

प्रमाणका स्वरूप कहा जा रहा है। यह दार्शनिक ग्रन्थ है, युक्तियोंमे जानने के स्वरूप को इस ग्रन्थमे वताया जायगा और यह ग्रन्थ तत्त्वके स्वरूपके वतानेके उपायको वतावेगा। लेकिन इस ढङ्गसे आचार्यदेवने रचना की है कि वस्तुके स्वरूपको सिद्ध करने वाले उपायका विवरण करते हुए भी वस्तुका स्वरूप वीच वीच वताते जायेगे। तो युक्तियोंसे तत्त्व निर्णय करने वाला यह ग्रन्थ है। उसमें सवसे पहिले इस प्रमाणकी जानकारी होना चाहिये जिसके वलसे यह कहा जा सके कि यह वात तो युक्त है यह वात अयुक्त है। *यों तो प्रमाणके स्वरूपका निर्णय किए विना कितनी ही विडम्वनाएँ* वन जाती है। निर्णय हो तो मूखता नही ठहर सकती। एक कोई पुरुप कही वाहर जा रहा था रिश्तेदारीमें। रास्तेमे थक गया तो उसे एक चरता हुआ घोडा मिला उसको पकड लिया और उसपर सवार हो गया। सवार इस तरह हुआ कि घोडेकी पूँछकी तरफको मुख किया, मुखकी तरफ पीठ और अपनी गठरी अपने सिरपर रख ली। ऐसे वैठकर कोई वाजारमेसे निकले तो वहुतसे लोग उसे देखकर खुश हो जायेंगे जव किसी गावसे वह पुरुप निकला तो उस गाँवके लोग सोचते हैं कि यह पुरुप वडा वुद्धिमान दिखता है। देखो, आगेसे कोई लडे तो यह घोडा लडेगा, पीछेसे कोई लडे तो यह मनुष्य लडेगा और लडते लडते भग जाय तो सिरकी गठरी तो सुरक्षित रहेगी। सो उसे वुद्धिमान समझकर उस गाँवके लोगोने उसे अपने गाँवका मुखिया (जज) वना लिया। गाँवके सभी झगडोका वह निपटारा करे।

समझकी विपरीततासे दुःखकी ही उपलब्धि—एक वार कोई आदमी किसी पेडपर चढ गए। डरके मारे वह उतर न सके तो उसी पेडपर एक डालपर वैठकर वह रोने लगा। गाँवके लोगोंने झट मुखिया साहवको वुलाया और कहा कि इसे किस तरह उतारें? मुखिया साहव आये और कहा झट एक मोटी रस्सी लावो। आ गयी रस्सी। ऊपर फेंककर उस डालीपर वैठे हुए पुरुपसे कहा कि इसे तुम अपनी कमरमे कसकर वाँध लो। उसने वाँध लिया। अव तीन चार आदमियोसे कहा कि तुम लोग इसे खीचना जव हम एक दो और तीन कहें। जव एक दो और तीन कहा तो झट उसे खीच लिया। करीव २५ हाथकी दूरीपर वह था। झट नीचे आ गिरा। उसके चोट भी आ गयी, हड्डियाँ भी कुछ टूट गयी। कुछ लोग तो खुश हुए और कुछ लोग उस मुखियापर उसकी वेवकूफीपर नाराज हुए। तो मुखियाने कहा अजी यह तो २५ ही हाथकी दूरीपर था, हमने तो ५० ५० हाथकी दूरीसे कुवेमेसे कई लोगोको खीच लिया। तो यह प्रमाण तो नही वैठा। जहाँ उपायका सही निर्णय नही है वहाँ ऐसी ही विडम्वना हो जाती है।

स्व अपूर्व अर्थका निर्णायक ज्ञानके प्रमाणता—दर्शनशास्त्रके क्षेत्रमे जहाँ वस्तुके स्वरूपका निर्णय किया जायगा वहाँ यह जानना तो प्रथम ही आवश्यक है कि प्रमाण कहते किसे हैं? जो लक्षण न मिले उसकी वातमे तो वहा दोप दे सके। यहाँ

अनैकान्तिक दोष आया । असिद्ध दोष जिसमे बता सके उस ही प्रमाणका स्वरूप कहा जा रहा है । क्या कहा ? जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये ऐसा ज्ञान प्रमाण होता है । अभी प्रमाणका ही स्वरूप कहा जा रहा था, उस ही स्वरूपमे अब तक पक्ष प्रतिपक्ष प्रश्नोत्तर शका समाधानमे चलते चले जा रहे हैं । इस प्रसगमे इस बातपर चर्चा है कि ज्ञान स्वका निश्चय करने वाला नही होता । यह शका रखी जा रही है । जो ज्ञान अपने आपका निश्चय न रखे उस ज्ञानके द्वारा पदार्थका निश्चय नही किया जा सकता । चाहे मिथ्या दृष्टि जीव हो और चाहे सम्यग्दृष्टि, जाननेकी शैली सबमे एक प्रकारकी है । मिथ्यादृष्टि भी जो कुछ जान रहा है उसे भी वही समझ रहा है । कोई रस्सीको साप समझ रहा है तो इसे सही समझ रहा है तो वह तो इसे सही समझ रहा है उसे कोई दुविधा नही रहती कि हमारा यह ज्ञान सही है या नही भी । जब भी अपने ज्ञानमे निर्णय होता है तो पदार्थके स्वरूपका सही निर्णय होना है ।

ज्ञानके स्वव्यवसायत्वके अभावमे आपत्ति ज्ञान स्वव्यवसायी न हो तो वह परव्यवसायी नही हो सकना । इस प्रकरणमे सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शनकी बात नही कही जा रही, किन्तु ज्ञानका जो साधारण स्वरूप है इस ज्ञानकी बात कही जा रही है और इस स्वरूपसे सम्बन्ध सभी जीवोका है । तो ज्ञान है स्व व्यवसायी । जैसे प्रदीप स्व प्रकाशक न हो तो पर प्रकाशक नही बन सकता । वह ज्योति जिस ज्योतिका निमित्त पाकर अन्य अनेक पदार्थ प्रकाशित हो जाते है तो वह ज्योति स्वय अघ हो स्वय स्वप्रकाशक न हो तो पर प्रकाशनका कारण नही बन सकता, इसी तरह यह ज्ञान स्व प्रकाशक न हो तो पर प्रकाशक नही होता । आत्मा और ज्ञानमे भेद नही है । आत्माको चाहे स्व व्यवसायी कह लो चाहे ज्ञानको स्वव्यवसायी कह लो पर विशेषात्मक ढगसे कुछ अन्तर आता है इस कारण आत्माको स्व व्यवसायी न बता कर प्रमाणके स्वरूपमे ज्ञानको स्व व्यवसायी कहा है । इतने पर भी आत्मा भी इस ज्ञाताको प्रत्यक्ष रहता है । ज्ञान भी प्रत्यक्ष रहता है । यहाँ प्रत्यक्षका अर्थ स्वानुभवने नही यह दर्शन शास्त्रका विषय है । यह निर्णयके क्षेत्रकी बात है । स्व प्रकाशकका अर्थ है जो ज्ञान किया जा रहा है वह ज्ञान अपने आपमे सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नही रख रहा । हम किसी चीजको जानें और ज्ञानमे सशय बनायें अथवा विपरीत जानें या कुछ निश्चयका उमङ्ग ही न हो ऐसे ज्ञानसे परपदार्थका निर्णय नही होता । इससे यह निर्णय करें कि स्वपर व्यवसायी ज्ञान ही वास्तविक प्रमाणभूत ज्ञान है ।

वाच्यभूत आधारके माने बिना सुखकी उपलब्धि असम्भव - आत्मा ज्ञानस्वरूप है और जब इस ज्ञानस्वरूपको आत्मा जानता है -किसी पर पदार्थका तो उसको प्रत्यक्ष होता है और साम व्यवहारिक प्रत्यक्ष तो पदार्थका हो गया है । मैंने

इस पदार्थको ज्ञानके द्वारा जाना, यह इस वेचैनीमे है। जिस पदार्थ को जाना उसका वोध हुआ, जिस ज्ञानके द्वारा जाना उसका भी वोध हुआ और जाननेका भी वोध हुआ। इस सम्बन्धमे शङ्काकारने यह आपत्ति की थी कि यह तो तुम केवल शब्दो शब्दोसे वात कह रहे हो। जिस पदार्थको जाना उस पदार्थका तो भान हो जाता है पर उस ज्ञानका भान नही होता। इसपर यह सिद्धान्त रखा कि शब्द न वालनेपर भी आत्माका अनुभवन होता है। जैसे हम लाखो करोडो पदार्थोको एक सेकेण्डमे नजर डालते ही जान जाते हैं या हम सव पदार्थोका नाम लेकर जानते हैं उनका नाम न लेनेपर भी एक शब्दसे उसे न वोलनेपर भी। इसी प्रकार अपने आत्माका शब्द नाम न लेनेपर भी आत्माका वोध होता है, शब्द निराश्रय नही हुआ करते। शब्द वोले तो उस का कोई अर्थ है अर्थात् वाच्यभूत पदार्थ है। अन्यथा मैं सुखी हूँ यह प्रतिभास भी निराधार हो जायगा। किन्तु जो शब्द वाला है उस शब्दका कोई आश्रय ही नहीं, शब्दका वाच्यभूत कुछ आधार माने नही तो सुखी होनेका अनुभवन भी झूठा हो जायगा। अव शङ्काकार अपना पक्ष रख रहा है कि जैसे सुख दुख आदिकका सम्वेदन जिस ज्ञानके द्वारा सुखका अनुभवन किया वह ज्ञान स्पष्ट नही होता, प्रत्यक्ष नही होता है तो सुख आदिक सम्वेदन अर्थात् सुख ज्ञानका प्रत्यक्ष न होनेपर भी जैसे सुखका प्रतिभास होना वन जाता है।

दुःख सुखकी पहिचान इसी तरह पदार्थका जो ज्ञान किया सो पदार्थ भानमे न आनेपर भी पदार्थका प्रतिभास नही वन सकता है यह वात भी विना विचारे सुन्दर लग रही है। विचार करनेपर यह वात ठीक नही वन सकती। अरे भाई, सुख आदिकका जो सम्वेदन हो रहा है वह आत्मासे भिन्न स्वभाव वाला नहीं है अथवा इस ज्ञानसे भिन्न कोई सुख नही। किन्तु एक आल्हादके रूपमे परिणति ज्ञान विशेष है उसीको ही सुख सज्ञा दी गई है। यहाँ एक यह वात भी विशेषरूपसे समझ लेना चाहिए कि आत्माको केवल ज्ञानस्वरूप देखे और यह निर्णय कर ले कि ज्ञानके सिवाय आत्मा और कुछ नही है जो प्रतिभास है, जानकारी है वही ज्ञान विलास है ज्ञान है सो आत्मा है। अव आत्मामे जो अन्य अन्य बातें मालूम पडती हैं। जैसे आत्मामें सुख हुआ, दुःख हुआ, चिन्ता हुई, शोक विचार हुआ ये सव क्या चीजें हैं? वे ही ज्ञानके रूपान्तर हैं। चिन्तासे भी क्या होता? ज्ञानोपयोग उस प्रकारका वर्तता रहता है कि जिसका फल चिन्ता है। चिन्ता भी ज्ञानके परिणमनके अतिरिक्त अन्य कुछ नही है। जो जो भी बातें आत्मामे प्रतीतिमे आयी, नजरमे आयी उन सबका भी ज्ञानरूप निर्णय करलें। सुख क्या है? ज्ञान एक आल्हादरूपमे परिणम गया बस वही सुख है। दुःख क्या है? ज्ञानमे क्लेशरूप कल्पना वन गयी वही दुःख है।

सयम क्या है?—सयम भी ज्ञानका एक रूप है। इस तरहका ज्ञान केन्द्रित होना, नियत्रणमे आना, ज्ञानको किसी अन्य विषयमें न उलझा सकें इसीका नाम तो

सयम है तपश्चरण क्या ? दया क्या ? वे सब ज्ञानके रूपान्तर है। दया भी क्या है ? किसी मनुष्यका क्लेश देखा, देखा मायने जानना।

व्यवहारनयसे इन्द्रियाँके पदार्थका ज्ञातृत्व— जैसे लोग कहते हैं कि हमने आँखो देखा तो देखा शब्द गलत है सिद्धान्तसे। यो कहना चाहिए कि आँखोने जाना। कानोसे सुना। अरे सुननेके मायने क्या हैं ? कानोसे जाननेकी जो विधि है, जो परिणमन है उसीका नाम सुनना रख लिया। हम यह जल्दी समझ जायें कि हमने यह काम कानोसे किया। इसलिए ५ नाम अलगसे रख लिये। सुनना, देखना, सूँघना, स्वादना और छूना। ये पाँचो बाते कुछ अलग नही है, ये सब जानना कहलाती हैं। पाँचोसे जाना उसका नाम रख लिया सुनना व्यवहारमे ताकि ज्यादा गडबडी न पडे अर्थ लगानेमे। यो ही सभी इन्द्रियोसे जानने जाननेकी ही बात रख ली गई तो जरा देरमे बात समझमे आगयी और व्यवहार-व्यवस्था नही बन पायी इसलिए ये ५ नाम रख लिये – सुनना, देखना आदिक। पर सुनना, देखना आदिक कोई बात नही है, सब जानना ही जानना है।

दर्शन और ज्ञानमे अन्तर जो अर्थ कानोसे जाने उसका नाम सुनना है, जो अर्थ आखोसे जाने उसका नाम देखना है। नाकसे अर्थका ज्ञान करना इसका नाम सूघना है, जिह्वासे अर्थका ज्ञान करना इसका नाम स्वाद लेना है और शरीरसे भिडकर छूकर जो कुछ ज्ञान करना है उसका नाम छूना है, पर हैं ये सब ज्ञान ही ज्ञान। हमने हाथसे जाना, हमने जिह्वासे जाना तो चूकि जानना जानना इन्द्रियमे लगा तो बोलचालमे जरा जल्दी समझ न पाते इसलिये भिन्न भिन्न उसके शब्द बना दिये गये हैं। लेकिन वे सब जाननेके ही रूप है, देखनेके रूप नही। देखना बहुत ऊची चीज है और वह होती है आत्माके ही प्रति। पदार्थोका देखना नही हुआ करता। देखना होता है आत्माका। दर्शन होता है।

इन्द्रियोमे आत्माके ज्ञान करानेकी अशक्यता आत्मका। ज्ञान होता है पर पदार्थोका भी। तो ये इन्द्रिया सब पर पदार्थोके ज्ञानमे निमित्त है। आत्माके प्रतिभासमे निमित्त नही है। कोई मनुष्य अपने आत्माको समझना चाहे और इन इन्द्रियोका प्रयोग करे जैसे कोई चीज जरा साफ नही दिखती है तो आखोपर जोर लगाकर उसको देखते हैं तो कुछ दिख भी जाता है। तो इस तरह हम आत्माको देखनेके लिये आखोका जोर लगाये या किसी इन्द्रियका जोर लगाये तो क्या आत्मा का प्रतिभास हो जायगा ? नही हो सकता। तो देखना हुआ करता है आत्माका और जानना हुआ करता है पर पदार्थोका। यो ही सूघना स्वादना, सकल्प विकल्प विचार कल्पनाएँ आदि करना ये सब ज्ञानके रूपके सिवाय और कुछ है ही नही। यह सब एक स्वरूप दृष्टिसे ध्यानमे आयगा। तो सुख क्या है ? ज्ञानसे कुछ अलग वस्तु नही है जिसको कि तुम यो कह रहे हो शङ्काकारो कि सुखका तो प्रतिभास हो

जाता है भास होता है प्रत्यक्ष हो जाता है मगर सुखका भान करने वाला जो ज्ञान है सुखज्ञान उसका प्रत्यक्ष नहीं होता । पर सुखज्ञान और सुख कुछ अलग वस्तु नहीं है । ज्ञानका ही रूप सुख है । तो जब सुखका प्रत्यक्ष हुआ, प्रतिभास हुआ तो ज्ञानका प्रतिभास हुआ । ये लोग ज्ञानको तो परोक्ष मानते हैं, इसका भान नहीं होता, पर ज्ञानके द्वारा जो पदार्थ जाना जाता है उस पदार्थको स्पष्ट माना है । यह है और प्राय करके संसारी जीवोंमें ऐसा हो ही रहा है । कोई चीजको हम निरखते हैं जानते हैं, सब साफ साफ मालूम होता है पर जो ज्ञान जान रहा है वह ज्ञान तो आधा साफ भी नहीं मालूम होता । और ।

बाह्य दृष्टि ही आकुलताकी जननी—इन्हीं भूले भटके और उस कलाको न प्राप्त करने वाले लोगोंकी वृत्ति देखकर यह सिद्धान्त रखा जा रहा है कि ज्ञान तो भानमें नहीं आता, पर ज्ञानसे जो जो कुछ जानते हैं वह सब भानमें आता है और सिद्धान्त यह है कि ज्ञान तो भानमें पहिले आयगा ही, तब पदार्थका भान कहलावेगा नहीं तो पदार्थका कुछ भान नहीं । लोगोंकी दृष्टि बाह्यकी ओर है । अतएव भानमें आता रहता हुआ भी ज्ञान लोगोंकी दृष्टिमें नहीं है और बाहरी चीज दृष्टिमें है । तो सुख आदिकका सम्वेदन कुछ अलग वस्तु नहीं है, केवल एक आल्हाद प्रसन्नताके आकारमें परिणत हुआ ज्ञान विशेष ही सुख कहलाता है । क्या हुआ कि थोडी देरमें खबर आयी कि अमुक व्यापारमें २ लाखका टोटा पड गया । तो इतनी खबरके मिलते ही सेठजी बेहाल हो रहे हैं, बडी बेचैनीमें हैं । कहाँ तो अभी गप्पें उड रही थी, अब क्या हो गया ? वह तो बडा दुःख महसूस कर रहा है । अरे, बात वहाँ यह हो गयी कि उसका ज्ञान इस रूपमें परिणम गया कि वह पलङ्गपर पडा हुआ भी दुःखी हो रहा है । हाय ! बडा नुकसान हो गया, अब क्या होगा, ऐसा सोच सोचकर वह सेठ बडे क्लेशका अनुभव कर रहा है तो उस सेठपर जो कुछ गुजर रहा है वह सब ज्ञानका ही रूप है, और कोई दूसरा नहीं है । और, कदाचित् थोडी देर बाद उसी व्यापारके बारेमें यह खबर आ जाय कि उसमें ४ लाखका लाभ हो गया । अब देखिये बाजे बज रहे हैं, संगीत हो रहे हैं, लोगोंका खूब मेल मिलाप, स्वागत हो रहा है । खूब लोगोंको खिला पिला रहे हैं । अरे क्या हो गयी हो कुछ नहीं गया । अब उस ज्ञानने अपना और तरहका आकार बनाया । जो पहिले बनाये हुए ज्ञानसे विलक्षण है । बडा लाभ हुआ, बडा बडप्पन बना, अच्छा भाग्य जगा, इस प्रकारके ज्ञानके विचार बनने लगे जिसके प्रसादसे अब इस इस प्रकारकी चहल पहल हो गयी । दोनो ही स्थितियोंमें हुआ क्या ? ज्ञानके रूप बने । तो आत्माको एक ज्ञान स्वरूपमें देखो और यह निर्णय करते जावो कि प्रत्येक परिणतियोंमें हुआ क्या, एक ज्ञानका ही ऐसा परिणमन हुआ । यह तो लोक व्यवहारकी बात कही, मोक्षमार्गकी और संसार मार्ग की विधिकी बात सुनो ।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका ऐक्य ही मोक्षमार्ग—मोक्षमार्ग है सम्यग्द-

र्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जीवादिक ७ तत्त्वोका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जिस स्वरूपमे है उस स्वरूपमे उसका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। और, सम्यग्ज्ञान जो पदार्थ जिस रूपसे मौजूद है उस रूपसे परिज्ञान करना सो सम्यग्ज्ञान है। और सम्यक् चारित्र आत्म स्वरूपमे लीन होना, जिस प्रकार विषय कषायोके परिणाम रुके उस प्रकार अपने आपको बनाना सम्यक्चारित्र है। तो मोक्षमार्गमे ये तीन बाते आती हैं क्या? देखिये प्रयोजन वश भेद करके बोला जाय तो यह सब सही है और जब इस दृष्टिसे देखो कि वे तीन बातें कुछ नही हैं तो क्या ? ज्ञानका ऐसा एक परिणमन है। देखिये आग जल रही है तो वह जो कुछ भी कर रही है वह तो एक ही बात होगी ना।

प्रत्येक वस्तुमे अनेक स्वभावकी उपलब्धि— जब एक चीज है तो उसकी एक बात है, एक स्वभाव है, एक परिणमन है, पर लोग बोलते तो अनेक ढगसे हैं। यह अग्नि प्रकाश करती है, हाथ जलाती है, रोटी सेंकती है, कमरेका अशुद्ध वातावरण मिटाती है, पर इतनी भिन्न भिन्न बातोको आग कर रही है क्या ? हाँ कर भी रही है। जब हम भेद दृष्टि करके न्यारे न्यारे रूपमे देख रहे हैं तो हाँ ठीक उत्तर है लेकिन वह जो कुछ कर रही है वह एक ही काम कर रही है और अनेक पदार्थोंके विभिन्न परिणमनमे वे निमित्त बने हैं इस कारण लोग उसके अनेक काम बतलाते हैं। बडी सूक्ष्मतासे देखो तो आग पर कागज डाल दिया तो लोग तो यह कहते हैं कि आगने कागज जलाया पर यह बात सही नही है। आगकी समीचीनता पाकर कागज जल गया यह बात सही है आगने कमरेको प्रकाशित कर दिया यह कहना सही नही है, अग्निकी ज्वालाका सन्निधान पाकर सब पदार्थ प्रकाशित हो गए। तो जितने काम बनते हैं किसी एक पदार्थका निमित्त पाकर लेकिन उसमे हमारी शक्ति हमारी कला, हमारी क्रिया ये सब बातें बताते हैं पर वस्तुत प्रत्येक पदार्थमे एक ही काम चलता रहता है। वह अभेदरूप परिणमन है अब इस दृष्टिसे निहारो। मोक्षमार्गमे ज्ञानने क्या किया ? यह ज्ञान जीव आदिक ७ तत्त्वोंके दर्शन स्वभावरूपसे परिणम गया। यह ज्ञानका काम हुआ, जिसे तुम सम्यग्दर्शन कहते हो ज्ञानने समस्त पदार्थोंको जैसा है वैसा जाना। यह काम हुआ सम्यग्ज्ञानका और यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपमे मग्न हो गया यह काम हुआ सम्यक् चारित्रमे। सो यह भी ज्ञानका ही रूप बना,

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र ससारका मार्ग—अच्छा, और जब ससार मार्ग चलका है तब मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्या चारित्र संसारके मार्ग है। पर पदार्थ हैं बिल्कुल भिन्न और मान लिया कि मेरे हैं यही मिथ्यादर्शन है ना। पदार्थका स्वरूप है और भाँति जान लिया और भाँति, इसका नाम मिथ्याज्ञान है और ज्ञान अपने स्वरूपमे न रमकर बाह्य पदार्थोंमे इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके रमे इसका नाम है मिथ्याचारित्र। ससारके इन नामोमे क्या ते तीन बातें अलग-अलग हैं ? नही।

वे तीन भी ज्ञानके रूप हैं, यह ज्ञान पदार्थोको और और प्रकारसे भानमे लेने लगे, और और रूपसे श्रद्धान रूप करने लगे यही हुआ मिथ्यादर्शन, वह भी ज्ञानका एक प्रकार है और पदार्थ है अन्य भाति जान लिया अन्य भाति इस रूपसे ज्ञानकी जो वर्तना है उसका नाम है मिथ्याज्ञान। और, यह ज्ञान अपने आपमे न रमकर बाह्य पदार्थोको विषय बनाकर कल्पनामे मानता है यही है मिथ्याचारित्र। तो ये भी सब ज्ञानके ही रूप हुए, और हम आपको ज्ञानके ही रूप भानमे आया करते हैं। तो यह ज्ञान भानमे नहीं आता और पदार्थ ही साफ भानमे आ रहे हैं यह कहना कैसे सही होगा? बल्कि कहा जा सकता कि पदार्थ भानमे नही आ रहे।

पदार्थके जानते समय ज्ञानका ज्ञानत्व—बस ज्ञान ही ज्ञान ज्ञानमे आ रहा, यह कमण्डल है यह चौकी है इस प्रकार जो यहाँ ज्ञान बन रहा, प्रतिभास हो रहा वह आ रहा हमारे ज्ञानमे। ये बाहरमे ठहरे हुए पदार्थ हमारेभानमे नही आ रहे यह तो कहा जा सकता है पर यह नही कहा जा सकता कि ये सब पदार्थ तो तो मेरे ज्ञानमे स्पष्ट हो रहे हैं, पर यह ज्ञान नही स्पष्ट होता है। है क्या बला? या मुझे छूता ही नही, मुझसे न्यारा है, जो मुझसे कुछ कराता रहता है। यो अपने ज्ञानको स्वभावको परोक्ष मानना, अपनेसे भिन्न परखना यह बात युक्त नही है। जो ज्ञान स्वका और परका व्यवसायी होता है वह ही ज्ञान सच्चा है, प्रमाणभूत है। जो ज्ञान स्वव्यवसायी नही है वह परका भी व्यवसायी नही होता।

जो स्वय व्यवस्थित रहता है उसपर दूसरोको व्यवस्थित करनेका उपचार भला लोकमे जो खुदकी तो व्यवस्था किसी प्रकारकी न बनाये और दूसरो की व्यवस्था बनाता फिरे उसे लोग पागल कहे तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस प्रसङ्ग आप कुछ शङ्कायें भी रख दे कि जो गांधी जैसे नेता हुए वे तो खुदकी कुछ व्यवस्था न बनाते थे, जिस चाहे प्रकारसे रहते थे पर दूसरोकी व्यवस्था बनाया करते थे। तो भाई ऐसी बात नहीं है। वे स्वय व्यवस्थित रहते थे तब दूसरोकी व्यवस्था करते थे। जो खुद व्यवस्थित नही है वह दूसरोकी व्यवस्था नही कर सकता अब व्यवस्थित होनेके रूप न्यारे न्यारे हैं, कोई लोग इस हीमे अपनेको व्यवस्थित समझते कि जिस चाहे तरहसे कमाओ, खावो पियो, मौजसे रहो, और कुछ लोग इसको व्यवस्थित मानते हैं कि अपने स्वरूपसे कभी चलित न हो। और, इन दोनो जघन्य और उत्कृष्ट व्यवस्थाओंके बीचमे अनेक प्रकारकी परिस्थितिसे व्यवस्था बननी है। तो स्वय व्यवस्थित है वह दूसरेका व्यवस्थापक बनता है। यो ही जो ज्ञान स्व व्यवसायी है वही ज्ञानपर पदार्थोंका भी निर्णय करने वाला है। ऐसा ज्ञानरूप मैं हूँ। यो अन्तर्दृष्टि करके अपनेको ज्ञानमात्र निरखना चाहिए।

शब्दके न बोलनेपर भी आत्माकी अनुभूति—शब्दके न बोलनेपर भी अपने आपके आत्माका अनुभव होता है जैसे कि घट पट आदिक बाह्य पदार्थोंका नाम

न बोलनेपर भी उसका प्रतिभास होता है और आत्मासे सम्बन्धित ज्ञान सुख आदिक का भी प्रतिभास हुआ करता है, यदि सुखका प्रत्यक्ष नही मानते, प्रतिभास नही मानते, उसे अप्रत्यक्ष कहते तो परोक्ष ज्ञान द्वारा सुख ग्रहणमे आता है ऐसा माने तो मेरा मेरे द्वारा प्रत्यक्ष तो है नही अर्थात् मैं अपने सुखका स्पष्ट अनुभव कर सकता हूँ नही तव इस सुखसे मेरा कुछ अनुभव न वनना चाहिए, सुख होने पर जो प्रसन्नता है, अवग्रह है, अपना भला समझना है यह सव बात न होना चाहिए। अवग्रह तो तव वन सकता है जव अपना सुख अपने आपको प्रत्यक्ष स्पष्ट हो। यदि हमारा सुख हमे भी विदित न हो तो हम उसे स्पष्ट नही कर सकते और जो उससे हमारा अनुग्रह वन जाय भलाई वन जाय तो दूसरेके सुखसे भी हममे भलाई आ जाना चाहिए।

दूसरेके अनुग्रहसे कल्याणकी आपत्ति– क्योकि अब तो जैसे मेरा सुख मेरे प्रत्यक्षमे नही आता इसी तरह दूसरो पुरुषोका भी सुख मेरे प्रत्यक्षमे नही आता अव दोनो ही सुखोमे प्रत्यक्षता नही है तो जैसे अपने सुखसे अपना भला मानते है ऐसे ही दूसरेके सुखसे अपना भला हो जाना चाहिए। शायद यह कहो कि होता है तो उन का सुख निरखकर यह अपनी भलाई तो समझता है। पुत्रादिकके सुखमे हमे प्रत्यक्षता नही हुई लेकिन उनका सुख होता है ऐसा जव हम अनुमान कर लेते हैं तो इतने ही मात्रसे हममे दूसरेमे अनुग्रह आदिक पाया जाता है। तव यह एकान्तकी बात तो न रही। आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि यह भी मूर्ख पुरुषोके लक्ष्यमे आयी हुई बात है। वास्तवमे तो पुत्रके जो सुख आदिक उत्पन्न होते हैं तो पुत्र आदिकके सुख होनेके कारण पिताको सुख नही होता, किन्तु पिताका मन कुछ अच्छा बना और उससे उन के सुखका अहकार हुआ। मैं महान हूँ। मुझे पुत्रादिकसे बडा सुख है, बहुतसी महिमा है इस प्रकारका अपने आपमे अभिमान जगा उस अभिमानसे स्वयमे जो सुख परिणमन हुआ उस सुख परिणमनके बिना पिताका अनुग्रह सतोष आदिक नही बनता। पिताने भला माना है तो अपने ही सुखसे माना है। पुत्रादिकके सुखसे नही माना। कारण कि पिताके चित्तमे स्वय सुख परिणमन न हो, स्वय मनमे प्रसन्नता न आये और फिर अनुग्रह वन जाय तो स्त्रीका भी सुख तव हुआ।

अपने सुखकी उपलब्धि अपनेसे ही—अथवा जिस पुत्रमे मोह नही रहा जो व्यसनी धूर्त होनेके कारण निकाल दिया गया और उसका सुख हुआ तो उससे भी पिताका अनुग्रह होना चाहिये। पिताको प्रसन्न होना चाहिए। इससे यह सिद्ध है कि अपना सुख अपने आपसे विदित होता है, प्रत्यक्ष होता है। साफ समझमे रहता है। तव अपना अनुग्रहभाव बनता है, प्रसन्नता वनती है। भला मानकर सन्तोष हो जाय वह बात बनती है इस कारण सुखको भी प्रत्यक्ष माना, परोक्ष ज्ञानसे ग्रहणमे आया सो नही। अर्थात जव कभी हमे किसीसे सुख होता है तो उस सुखके ज्ञान करने के लिये किसी दूसरेसे पूछना नही पडता। जैसे कभी शरीरमे कोई पीडा हो जाय तो

उस पीडाके लिये दूसरेसे नही पूछना पडता कि पीडा कम है या ज्यादा या कहाँ पीडा अपने आपको प्रत्यक्ष अनुभवमे आती है।

सहज ज्ञान स्वरूप अनुभवके समय विशिष्ट आनन्दकी उपलब्धि— इसी प्रकार सुख भी हमारा प्रत्यक्ष अनुभवमे आता है तब हम तृप्त होते हैं। हमारा सुख हमारे ज्ञानमे विदित न हो और हम प्रसन्न हो जाएँ यह बात नहीं होती किसीसे पूछना नही पडता। एक वेदान्तके ग्रन्थमे एक कथानक आया है कि एक बहूके गर्भ रह गया, पहिली बार बच्चा पैदा होना था, तो उसे बडा डर लगे कि कहीं ऐसा न हो कि मैं सोती ही रहूँ और बच्चा पैदा हो जाय। साससे कह दिया कि जब हमारा बच्चा पैदा हो जाय तो हमे जगा देना, कही ऐसा न हो कि हम सोती ही रहें पता ही न पडे। तो सासने कहा कि अरी बहू जब बच्चा पैदा होगा, किसीसे जगानेकी प्रार्थना नही करना है। यही बात इन सुख दु ख ज्ञानोमे है। जब किसी आशयसे सुख उत्पन्न होता है तो किसीसे पूछनेकी आवश्यकता नही है कि मुझे सुख हुआ अथवा नहीं और जब विशुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगता है उस समय जो एक विशिष्ट आनन्द होता है उस आनन्दके लिये भी किसीसे पूछनेकी जरूरत नही है। मिठाई खाने वाले को किसीसे पूछनेकी जरूरत नही है कि मीठी लगी या नहीं। इसी प्रकार आत्मामे जो सुख दु ख ज्ञान अनुभव जो भी बात होती है वह आत्माको प्रत्यक्ष कराती हुई होती है। तो जितने भी सुख होते है, अनुग्रह होते हैं, प्रसन्नता होती है, सन्तोष होता है वे सब अपने आपके उस प्रकारके परिणमनसे होते हैं और वे प्रत्यक्षमे रहते हैं।

स्वके सुखरूप परिणमनके विना परके अनुग्रहकी विफलता - देखो भैया! बाहरकी बातें तो छोड दो, पुत्रके सुख होनेसे हमे सुख हुआ, इन बातोकी तो कथा छोड दो। यह परख लो कि सबसे निकट तो यह शरीर है, यह शरीर भी आत्माको सन्तोष नही कर पाता, जब तक कि यह जीव स्वय अपने आपमे अहङ्कार करके सुख परिणति न बनाये हो। बनाये तो होता है। तो अत्यन्त निकट रहने वाला शरीर हमारे सुख परिणमनके विना हमको अनुग्रह नही कर सकता सन्तोष नही कर सकता तो अत्यन्त भिन्न पुत्र आदिककी चर्चा तो दूर रही। प्रयोजन यह है कि स्वय स्वयको प्रत्यक्ष रहे तो उसका सन्तोष होता है। यह बात कही जा रही है ज्ञानको स्वव्यवसायी सिद्ध करनेके लिए। ज्ञान अपने आपका अनुभव रखता है तब वह पर पदार्थोंका भी निर्णय करता है। अपनी बात अपने आपकी निगाहमें बहुत प्रत्यक्ष रहती है। प्रत्यक्ष तो रहती है सबको। चाहे कोई न माने उसको भी प्रत्यक्ष है और मानले तो उसको अत्यन्त स्पष्ट रहता है। कभी आत्मामे प्रसन्नता जगे, खेद जगे और जब जान करके, इच्छा करके अपने आपमे निरखने बैठिये तो अपने आपको खुद विदित हो जायगा। मैं क्या क्या विचार किया करता हूँ, कहाँ रहा करता हूँ, क्या सोचता रहता हूँ, ये सब परिणाम अपने आपको स्पष्ट होते ही हैं। इसीके मायने तो है प्रत्यक्ष।

स्वपर वीती बात स्वको ही स्पष्ट—जोवके प्रदेशोमे ज्ञानावरणादिक कर्म भी वैठे हैं, राग द्वेष मोह विकार भी वैठे है। पर राग द्वेप मोह विकार तो हमारी समझमे नही आते, ये राग द्वेष मोह तो है अमूर्तिक, इनमे रूप, रस, गध, स्पर्श नही है और ये ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्म मूर्तिक हैं, इनमे, रूप, रस, गध, स्पर्श पाये जाते है। तो मुकावलेमे स्थूल चीज हुई कम। रागद्वेप मोह आदिक विकार सूक्ष्म हैं, पर ये रागद्वेष मोह विकार तो समझमे आते हैं पर ये कर्म समझमे नही आते इसका कारण क्या है ? जो बात खुदपर बीती है, जिसका खुदपर अटैक है, वह यदि सूक्ष्म भी हो तो शीघ्र ही समझमे आ जाती है। जो बात खुदपर बीतती है वह खुद को स्पष्ट समझमे आती है। जैसे कि एक छोटासा कथानक हो कि राजा मत्रीसे अड गया कि तू हमको आत्मा और परमात्मा वता। तो मत्री बोला—महाराज कमसे कम ८-१० वर्ष तो चाहिएँ समझानेके लिये, पढनेके लिये, प्रयोग करनेके लिए। तो राजा ने कहा—अरे मत्री हमारे पास इतना समय नही है। तो मत्री बोला अगर हमारा कसूर माफ करो तो हम एक सेकेन्डमे समझा दें कि आत्मा और परमात्मा क्या है ? राजाने कहा—अच्छा तुम्हारा कसूर माफ। तो मत्रीने राजाका कोडा छीनकर १० कोडा मारा। राजा चिल्लाकर कहता है अरे रे रे भगवान। तो मत्री बोला—अब आप समझ गए आत्मा और परमात्मा। जिसने अरे रे रे बोला वह तो है आत्मा और जिसे भगवान बोला वह है परमात्मा। तो इतनी जल्दी राजा क्यो समझ गया? क्योकि वह बात खुदपर बीती। जो बात खुदपर बीतती है वह स्पष्ट समझमे रहती हैं। उस बातका स्पष्ट प्रत्यक्ष रहा करता है। पर, यहाँ यह दार्शनिक न तो ज्ञानको प्रत्यक्ष मानता है न सुख आदिकको प्रत्यक्ष मानता है। इसका मतव्य यह है कि जिस ज्ञानसे हमने जाना यह घट है पट है आदिक। तो वह ज्ञान मेरा ठीक है या है भी ज्ञान। उसको समझनेके लिये हमे एक नया ज्ञान और बनाना पडता है। ऐसे ही सुख की बात मानता है कि सुख तो होता है पर वह प्रत्यक्ष नही होता। शायद इस बुद्धि से चलकर इस निर्णयपर पहुँचे हो कि वह सुख दु ख किसीको बताया नही जा सकता आपको कोई पीडा हुई और हम कहे कि जरा उस पीडाको हमारे हाथमे धरकर दिखादो, हम देख लें कि कितनी पीडा है तो क्या वह पीडा किसीको दिखाई जा सकती है ? वह दिखाई नहीं जा सकती। उस दर्दका प्रत्यक्ष तो खुदको ही होता है, ऐसे, ही दर्द सुख दु ख ज्ञान आदिकका प्रत्यक्ष खुदको ही हो पाता है। शायद इस वजहसे कहते हो कि सुख और ज्ञान आदिक प्रत्यक्ष नही हुआ करते, लेकिन अपने आपमे गुजरने वाली बात अपने आपको ही अपने ही अन्दर प्रत्यक्ष न हो तो उस का कोई प्रभाव तो नही बन सक्ता। जैसे सुख होनेका प्रभाव है आत्मसन्तोष तृप्ति, तो ये सब प्रभाव भी न वनेगे। इससे जो बात स्पष्ट है सीधी है, उसे अङ्गीकार कर लो।

शब्दके उच्चारण न करनेपर भी ज्ञान और आत्माके अनुभवकी उप-

लब्धि—मान लो कि आत्मामे जो परिणमन होता है, ज्ञानका सुखका जिसका कि प्रभाव अनुग्रह आदिक पडता है वह प्रत्यक्ष होता है तो जैसे शब्दके न बोलनेपर भी अपने सुख दु ख आदिकके अनुभवनमे रहते हैं ऐसे ही पदार्थका नाम न लेनेपर भी पदार्थका प्रत्यक्ष होता है। अपने ज्ञान और आत्माका नाम न लेनेपर भी शब्द न उच्चारण करनेपर भी ज्ञान भी और आत्मा भी अनुभवमे रहा करते हैं। तो यहां तक यह सिद्ध किया गया कि सुख आदिक भाव प्रत्यक्ष होते हैं। इसपर अब शङ्काकार यह कह रहा है कि चलो मान लें कि सुख आदिककी प्रत्यक्षता होती है लेकिन वह प्रत्यक्षता भी तो प्रमाणसे होती है उस ही भावसे नही होती। इस शङ्काकारका आशय यह है कि जब कभी हम किसी पदार्थका ज्ञान करते हैं तो कभी कभी ऐसा भी सोचने लगते हैं कि यह मेरा ज्ञान सही है या नहीं, और उस ज्ञानको सही ठीक करनेके लिये हम दूसरा ज्ञान करते हैं ऐसे ही सुख तो हो गया, पर मुझे यह सुख हुआ है ऐसा अनुभव बनानेके लिये नया ज्ञान उत्पन्न करना पडता है। कुछ ऐसी दृष्टि बनी जिससे शङ्काकार यह कह रहा कि जिस ज्ञानसे हम पदार्थोंको जानते हैं ज्ञान प्रत्यक्ष नही होता, और जिस सुखको हम भोगा करते हैं वह सुख भी प्रत्यक्ष नही होता। और प्रत्यक्ष हो भी जाय तो अन्य प्रमाण द्वारा प्रत्यक्ष होगा, स्वय न होगा क्योंकि स्वयमे स्वयकी क्रियाका विरोध है। क्या कुल्हाडी खुदका काट लेगी? क्या चाकू खुदको छीलने लगेगी? स्वयका स्वय कोई क्रिया नही बनाता यो ही ज्ञान के स्वय प्रत्यक्ष बननेकी क्रिया न बन सकेगी।

स्वकी क्रियाका स्वमे ही उपलब्धिका दृष्टान्त—यह शङ्काकार कह रहा है और उन दृष्टान्तोको छोड देता है जिस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता कि खुदकी क्रिया खुदमे हुआ करती, ऐसा भी दृष्टान्त है जैसे साप गोल मटोल बन गया, उसने अपनी कुण्डल करली तो सापकी क्रिया खुदमे हुई कि नही? अच्छा आग खुदको जलाकर खाक कर लेती या नही? तो अपने आपकी क्रिया अपने आपमें भी होती है ऐसे भी दृष्टान्त हैं, उन्हे तो छोड दिया और तथ्य देखो तो अपने आपकी क्रिया अपने मे ही होती है परमे नही होती। देखनेमे तो ऐसा लगता है कि कुल्हाडीकी क्रिया काठपर हुई पर ऐसा नही है। कुल्हाडीका ऊपर नीचे आना, घिस जाना, रङ्ग बदलना, आदि जो भी क्रियायें हो रही हैं वे कुल्हाडीमे ही हो रही हैं कुल्हाडीसे बाहर नहीं हो रहीं। इसमें विरोध कुछ नहीं है। तब यह कहो कि सुख आदिक प्रत्यक्ष तो होते हैं किन्तु अन्य प्रमाणोसे प्रत्यक्ष होते हैं, यह बात बिल्कुल असगत है, प्रत्यक्षसे विरोध है। जैसे कि घट आदिक पदार्थ जिनका कि स्वरूप हमने नहीं जाना, पीछे क्या रखा है हम नही जानते, मगर पीछे जो कुछ रखा है वह रखा ही है। पहिलेसे रखा है। अब हमने उस ओर दृष्टि दी और हमारे ज्ञानमे वह चीज विदित हो गयी कि यह चीज है इस तरह सुख उत्पन्न नही हुआ करता। सुख प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता कि वह सुख पहिलेसे ही हुआ तैयार है। हमने उसे जाना नहीं, अब हम जानते हैं

तो इन्द्रियसे सम्बन्ध करते हैं तब वह ग्रहणमे आता है ज्ञान या सुख, ऐसी बात होती है क्या ?

स्वव्यवसायित्वसे ही ज्ञानमे प्रमाणताकी उपलब्धि– जैसे हमको यह अलमारी प्रत्यक्ष हो गयी तो अलमारी तो पहिलेसे है ना, ऐसी सुखकी तो बात नही है कि सुख पहिलेसे खडा तैयार चल रहा था पीछे हमने प्रत्यक्ष किया, यो नही हुआ करता, किन्तु प्रथम ही प्रथम क्यो सुख हुआ करता ? इष्ट और अनिष्ट विषयका अनुभव करनेके बाद सुख अथवा दु ख अपने ही प्रकाशसे अपने ही आपमे उदित हो जाता है। सुख होना, हमारे ज्ञानमे आना, उसका प्रत्यक्ष रहना ये सब बराबर एक साथ चलते है, इन पदार्थोंकी भांति नही कि यह पदार्थ पहिलेसे उत्पन्न हो और कई वर्ष गुजर जायें, बादमे हम उनका प्रत्यक्ष करें ऐसे सुख आदिक नही होते हैं, तो साथ ही साथ प्रत्यक्ष भी होता जाता है और उनसे अपने आपको तुरन्त तृप्ति और सन्तोष भी होता रहता है इस कारण यह बात सही है सो मानो कि सुख ज्ञान ये सब अपने आप प्रत्यक्ष हुआ करते हैं और वही ज्ञान प्रमाण है। जो ज्ञान स्वव्यवसायी है अपने आपका भी निश्चय करता है ।

ज्ञानसे ही ज्ञानका प्रत्यक्ष जिस ज्ञानसे हम पदार्थको जानते हैं वह ज्ञान उस ही ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष रहा करता है। अर्थात् उस ज्ञानका भान बना रहता है और इसी तरह जो सुख दु ख आदिक परिणाम जीवमे उत्पन्न होते हैं वे परिणाम भी प्रत्यक्ष रहा करते हैं अर्थात् भानमे रहते है। अपनेको सुख तो हो जाय और अपनी समझमे न आये तो सुखका फल क्या पाया ? प्रसन्नता तो नही हुई, अनुग्रह तो नही बना, तो सुख भी अपने आपको प्रत्यक्ष हुआ करता है

स्वज्ञानको अन्य अन्य ज्ञान द्वारा जाननेमे अनवस्थाकी उत्पत्ति इस पर शङ्काकारने यह आपत्ति की न तो वह ज्ञान प्रत्यक्षमे रहता है और न सुख प्रत्यक्ष मे रहता है और रहता है तो किसी दूसरे ज्ञानसे वह जाना जाता है। सुख होता है। तो उस सुखका कराने वाला ज्ञान कराने वाला एक नया ज्ञान और बनता है, तब उस नये अन्य ज्ञानसे प्रमाणसे सुख आदिक प्रत्यक्षमे आते हैं और इस विषयमे आपत्ति यह आती है कि सुख आदिकको जाना हमने अन्य प्रमाणसे और वह प्रमाण भी जाना जायगा किसी अन्य प्रमाणसे वह ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञानसे। इस तरह अनवस्था हो जायगी और दूसरी बात यह है कि जो भिन्न प्रमाण द्वारा ग्रहणमे आ रहा वह उत्कृष्ट प्रसन्नता आत्म सन्तोष नही बन सकता ।

स्वसुखको स्वय न जाननेपर फलकी अनुपलब्धि—हमारा सुख तब भी प्रकट होता है उसी समय हमारा गुजारा है। प्रयत है, हम पर भानमे है और उस ही कालमे हम सन्तोष करते हैं। अनुग्रह मानते हैं। कही उस सुखको जाननेके लिये

नया ज्ञान बनाना पडे तब उसका फल यह तो नही देखा जाता। किसी भी भोग भोगनेके कारणसे जो सुख आदिक होते हैं वे किसी दूसरे आत्माको प्रसन्नता ला दें, अनुग्रह कर दें ऐसा तो नही होता। जिसमे सुख परिणमन होता है वही तो उस सुख का लाभ लेता है कि दूसरा लेगा। तो जब तक अपना सुख अपने आपके भानमे न आये तब तक उसका फल तो न मिलेगा। अब यह शङ्काकार यह बात रख रहा है कि दूसरेके सुख आदिक अनुमान जन्य है इसलिये दूसरेको आत्मसतोष नही मिलता और अपना सुख अपने प्रत्यक्षगम्य है इस कारण अपने आपमे उसका सन्तोष बनता है तो यह भी बात यों सारभूत न बनेगी कि हमारे सुखको जैसे हम प्रत्यक्ष करके जानते हैं ऐसे योगिराज सर्वज्ञदेव प्रभु भी उस सुखको प्रत्यक्ष करदे। केवल ज्ञानके द्वारा तो कोई भी चीज बच न जाय, ज्ञानमे न आये तो वहाँ भी सतोष अनुमान हो जाना चाहिए क्योकि जैसे हम अपने सुखको प्रत्यक्षमें ले लेते ऐसे ही सर्वज्ञदेव प्रभु योगीश्वर भी सबके सुखको प्रत्यक्षमे लेते हैं। शायद यः कहो कि नहीं अपना ही सुख है वही अनुग्रह करता है, तृप्ति करता है दूसरेका सुख नही यह बात कहना यो व्यर्थ है कि जब सुख और दुःख बिल्कुल न्यारे न्यारे पदार्थ लगने लगते क्या उनमे वह सुख किसी अन्य प्रमाणके द्वारा ग्रहणमे आता है ऐसा मानते तो यह भी सिद्ध नही कर सकते कि यह सुख मेरा है।

सुखकी आत्मस्वरूपसे अभिन्नताकी सिद्धि—प्रथम तो वह सुख आत्मस्वरूपसे भिन्न माना, दूसरेके सुखको किसी अन्य ज्ञानके द्वारा विदित माना तो तुम यह कैसे कह सकते हो कि यह सुख मेरा है? यदि सुख हमारा परिणमन है यो मानो तो और अपने आपपर बीतने वाली बात है यो मानो तब कह सकते हो कि यह सुख मेरा है, तथ्यमे गिर जानेपर स्वरूप जैसा है वैसा भानमें न लेनेपर यः भी सिद्ध नही कर सकते कि यह सुख मेरा है, यह ज्ञान मेरा है। वह सुख क्या आत्माका गुण है, इसलिए आत्माका मानते हो? सुख आत्माका कार्य है क्या इसलिए सुखको आत्मा का मानते? या सुख आत्मासे आधेय है? जैसे गागरमे पानी। पानी आधेय है गागर आधार है, ऐसे ही क्या सुख आधेय है और आत्मा आधार है। इसलिये सुखको आत्माका कहते हो? अथवा उस आत्मामे ही मुझसे वह सुख उत्पन्न हुआ है इस कारण सुखको आत्माका बताते। यो सुख आत्मा कैसे है? इस सिद्धिके लिए ५ विकल्प उठाये गए हैं। अब उनका क्रमसे वर्णन सुनो। सुख आत्माका आत्मगुण होने के कारण तुम सिद्ध नही कर सकते। क्योकि सुख और आत्मा ये बिल्कुल न्यारी न्यारी चीजें हैं। हैं नही, पर यह दर्शन मानता है जिसकी चर्चा चल रही है। ज्ञान भी जुदा है, सुख भी जुदा है, आत्मा जुदा है। ऐसा जो कहा करते हैं उनको कहा जा रहा है कि जब सुख न्यारा है, आत्मा न्यारा है तो यह कैसे कह सकते कि सुख आत्मा का गुण है। आकाश आदिकका नही है या अन्य आत्माका नही है। जब हमारा सुख हमारेसे न्यारा है तो कैसे हम कहेंगे कि यह सुख हमारा है? कोई कह बैठेगा

कि यह सुख तो आकाशका है, यह सुख तो किसी विदेशमे रहने वाले आत्माका है। तो गुण होनेके कारण सुखको गुण मान करके आत्माका सिद्ध नही कर सकते क्योकि ये दोनों भिन्न भिन्न तत्त्व है।

सुख आत्माका कार्य – यदि यह कहो कि आत्माका कार्य है यह सुख इस कारण आत्मा का कहलाता है। यहाँ यह सिद्ध करवाया जा रहा है कि यह सुख आत्मा का है। यह कैसे सिद्ध करलोगे भेदवादीजन जो मानते हैं ज्ञान न्यारा, आत्मा न्यारा, सुख न्यारा। तो यह ज्ञान सुख आत्माका है यह तो नही सिद्ध कर सकते, तो आत्मा का कार्य है सुख इस कारण सुखको आत्माका बताते हो तो कहा जाता कि यह सुख आत्मा कार्य है। जब सुख आत्मासे भिन्न तत्त्व है तो यह सुख आत्माका ही कार्य है, यह कैसे समझा ? यदि यों समझा हो कि आत्माके होनेपर सुख होता है।

सुखका समवायिकारण आत्मा – इस कारण सुख आत्माका कार्य है तो यों भी विरोधमे कहा जा सकता है कि आकाशके होनेपर सुख होता है इस कारण सुख आकाशका है। सुख आत्माकी चीज है, यह दृष्टि नही बन रही भेदवादियोसे। यदि यह कहें कि आकाश तो एक निमित्तकारण है, इस कारण आकाशका कार्य नही बना सकते। तो यह बात आत्मामे मान लो। आत्मा भी निमित्तकारण है। शङ्काकार कहता है—नही, आत्मा तो समवायकारण है। समवाय कारणके बिना कार्य उत्पन्न नही होता और आकाश निमित्तकारण है, समवाय कारण उपादानकी तरह होता है, जिसमें कार्य मिला हुआ हो उसे समवाय कारण कहते हैं। तो आत्माका गुण है, आत्मा समवाय कारण है। आकाश आदिक तो समवाय नही है, कोई इसके खिलाफ कह दे तो सुखका समवाय कारण आकाश है, आत्मा नही। तो सुखको आत्माका तत्त्व माननेपर यह सिद्ध नहीं कर सकते कि यह सुख आत्माका है। यदि यह कहें कि सुखकी निकटता आत्मामे है इस कारण सुखका समवाय कारण है, अभिन्न कारण है, जिसमें सुख उत्पन्न होता है ऐसा कारण आत्मा ही है। तो यह बात ठीक नही, क्योंकि देश कालकी निकटतासे तो यह भी जानकारी है आत्मा जैसे आकाश हमेशा रहता है ना, सब जगह रहता है ना, ऐसे ही इसका आत्मा भी सब जगह रहता है, सर्वव्यापी सब जगह रहता है, फिर सुखका समवाय कारण जिसमे सुख मिले वह आत्मा ही है, आकाश नहीं है यह कैसे सिद्ध कर सकते ?

सुख एवं ज्ञानरूप परिणमन आत्माके कार्य —मतलब यह है कि सुख और ज्ञान है सो आत्माके परिणमन, आत्माके कारण और चूंकि आत्माके काम हैं इसलिए आत्मायें ये मान भी रहा करते, किन्तु ऐसा न मानकर सुखको और ज्ञान को आत्मासे सर्वथा जुदा मान लिया जाय तो यह भी सिद्ध न किया जा सकेगा कि यह सुख आत्माका है, यदि योग्यताकी बात कहो तो जैसी योग्यता आत्मामे है वैसी योग्यता आकाश आदिकमे है। देखिये ! जैनशासनमे वस्तुका स्वरूप इस भांति

बताया है कि प्रत्येक पदार्थ हैं और जब वे हैं तो कोई न कोई स्वभाव लिए हुए हैं। और यह स्वभाव है तो एक रूप लेकिन भेदव्यवहारमे हम उसे नाना रूपमे भी निरख सकते। वह ही कहलाता गुण। वस्तु जैसे शाश्वत है, सदाकाल रहता है।

गुण, शक्ति, स्वभावके त्रिकाल स्थायित्व इसी प्रकार वह गुण भी, शक्ति भी, वस्तुका स्वभाव भी ये सदाकाल रहा करते है। और, वस्तुका ऐसा प्रभाव है कि वह निरन्तर भी किसी न किसी अवस्थामे रहता, सो प्रत्येक गुण अपनी नवीन नवीन अवस्था बनाते चले जाते हैं। चाहे वे अवस्थायें समान समान बनें या विषम बनें तो वह कहलाया पर्याय। यो गुण और पर्यायका जो आधार है द्रव्य है उस द्रव्यसे यह गुण न्यारा है या अभिन्न है। तो अनेक दर्शन ऐसा मानते हैं कि पदार्थकी वह शक्ति, पदार्थके वे गुण, पदार्थके वे परिणमन पदार्थसे न्यारे हैं। तो जब वे पदार्थ से न्यारे हो गए गुण तो यह कैसे कहा जा सकता कि यह गुण इस पदार्थका है? इसी सिलसिलेमे सुख और ज्ञानको ये न्यारा बता रहे हैं तो न्यारा माननेपर यह कैसे सिद्ध होगा कि यह सुख आत्माका है? और जिसमे सुख होता है उसको सन्तोष हो तो फिर उस सतोषका भी कोई प्रबन्ध न बन सकेगा। सुख भी कही न हो, जब सब आत्मावोसे जुदा है तो सुख कैसे हुआ? कोई व्यवस्था नही बन सकती।

आत्मामे अपने लिये अपने द्वारा सुखोत्पादकत्व यदि कहो कि आत्मा आत्मामे अपने आपके लिये सुखको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है आकाश आदिकमे नही है। यह बात तो यो न बन सकेगी कि जब सुख आत्मासे अत्यन्त भिन्न मान लोगे तो आत्मामे ही अपने लिये सुखको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है यह कैसे कहा जा सकता कोई यो कह दे कि सुखको उत्पन्न करनेकी आकाशमे सामर्थ्य है और फिर आत्माकी यह सामर्थ्य भी अपने आत्मासे भिन्न है तो यह सामर्थ्य भी आत्मामे है कि अन्यकी नही है यह भी विभाग नही बन सकता। देखिये जैसे जब कोई बच्चा रूठ जाता है तो उसे कोई कुछ भी दे तो वह उसे झट फेंक देता है, वह प्रसन्न नहीं रहना चाहता ऐसे ही जब भेदका एकान्त कर लिया तो वह भी किसीको अपना नही मानता। उनके तो यही हठ रहती है कि मैं सबसे न्यारा हूँ। आत्मामे सामर्थ्य है ऐसी कि सुखको उत्पन्न करले, तो वह सामर्थ्य भी तो जुदी है आत्मासे। कुछ सिद्धि नही हो सकती। किसी रूपमे किसी दृष्टिमे जरा भी गुंजायश निकले और उसको सर्वथा एक मत मान लें तो वहीसे फिर एकान्तवाद दर्शन हो जाता है। ज्ञान आत्मासे न्यारा है मगर कहनेके लिये समझानेके लिये ज्ञानका नाम ज्ञान है आत्माका नाम आत्मा है। ज्ञान एक गुण है, आत्मकी एक विशेषता है। आत्मा एक पदार्थ है। थोडासा कुछ भेदरूपसे समझनेके लिए गुंजायश हो नही और एकान्त भेद मान ले, ज्ञान आत्माका है ही नही अत्यन्त भिन्न है तो वह एकाग्र बन गया। और, इस तरह तो बहुतसी बातें बोलते। शरीरका रूप। तो रूप और शरीर क्या न्यारे न्यारे हो गये?

प्रत्येक वस्तुके अनेक गुणात्मकताकी सिद्धि – और देखिये एक दृष्टिसे समझनेके लिए रूप शरीरसे न्यारा है क्योकि शरीर केवल रूप मात्र नही है, इसमे रस भी है, गध भी है, स्पर्श भी है, और और भी बहुत सी बातें है वे सब रूप शरीर है शरीर रूप मात्र नही हैं। इस कारण रूप एक गुण है शरीरका। इतना तो भेद समझमे आया, पर वस्तु न्यारे–न्यारे हो जायें लो रूप यह धरा, शरीर यह धरा यो न्यारे न्यारे हो जायें, यह बात नही है। यहाँ छोटे बच्चोंको प्रसन्न करनेके लिये दादी और नानी ये ज्यादा गप्पें मारा करती है। तो एक बार हमारी दादीजी बोली — बच्चा! पहिले जमानेमे यह शिर गूँथा जाता था, सो पेंच निकाल लिया, आगे रख लिया और गूँथ लिया शिरमे लगा लिया और पेच लगा दिया। तो एक भान उससे ले सकते कि तिलक सहनन भी होता है और एक हड्डीसे दूसरी हड्डीके जलानेमे कीलियाँ काम करती हैं। शायद सुन रखा हो कीलक सहनन, उसी धुनमे बात बतायी हो। ऐसे ही इस ढङ्गकी एक गप्प है - ज्ञान आत्मासे अलग है, उसे सम्हाललें फिर आत्मा मे फिट करलें तब आत्मा ज्ञानी बनना। उसी तरहकी गप्प है—सुख भी आत्मासे न्यारा है, उसे ग्रहण करलो, आत्मामे फिट करलो। अरे, न्यारा कहाँसे है, एक कहने मात्रको न्यारा है समझानेके लिये, पर वस्तु न्यारी हो यह कैसे बन सकता है? प्रत्येक वस्तु स्वभावमात्र होती है।

स्वभावरूपता वस्तुका प्राण स्वभावको छोडकर वस्तु और क्या है? तो ज्ञान और सुख आत्माके ज्ञान और आनन्द गुणके परिणमन हैं। भले ही जैसे कोई मनुष्य घरसे बाहर किसी कामके लिये दौडकर जाय लालचवश और दरवाजेका कोई हिस्सा शिरपर लग जाय और न मालूम पडे क्योकि बाह्य पदार्थकी तृष्णामे वह उस ओर भागा जा रहा है, न मालूम पडे, फिर भी चोट तो उसके शिरपर आयी है। उस समय न मालूम पडे, किन्तु थोडी देरके बादमे तो मालूम ही पडेगा जब कि पता पडेगा कि ओह! यह तो शिरमे खून लगा है। वह बात तो खुदपर बीती है, उसे कोई दूसरा क्या समझाये, वह तो खुद समझ लेगा, ऐसे ही ज्ञान और सुख ये सब खुदपर ही तो बीतते हैं, खुदके आत्माके ही तो परिणमन हैं। भले ही किसी बाहरी उपयोगके कारण इस ओर ध्यान न दे, पर जो खुदपर बीतते हैं सुख दु ख आदिक उनका प्रत्यक्ष स्वयको हुआ करता है। ऐसा नही है कि सुख और ज्ञान न्यारे हो, आत्मा न्यारा हो, फिर आत्मामे सुख और ज्ञानका समवाय बनाया जाय, सम्बन्ध बनाया जाय। समवाय और कुछ चीज नही है।

तादात्म्य एव सयोग सम्बन्धकी सार्थकता—सम्बन्ध दो प्रकारके हैं ना— एक सयोग एक तादात्म्य तादात्म्य कहना मात्र है, वह भी पदार्थका स्वरूप है। जैसे अग्निमे गर्मी यह है तादात्म्य सम्बन्ध। और घडेमें चने, यह तादात्म्य सम्बन्ध नही है। तो ज्ञान और सुखका सम्बन्ध आत्मामे तादात्म्यमे है, सयोगसे नही है। तो

जब सुखको आत्मासे जुदा मान लेते तो यह सिद्ध नहीं कर सकते कि यह सुख आत्मा का है, यह सुख या आत्मा कार्य है, यह अन्वय मात्रसे नहीं बन सकता। शायद यह कहो कि आत्माका अभाव हो तो सुखका भी अभाव हो जायगा, इस कारण सुख आत्माका कार्य है। तो भाई आत्मा तो हमेशा रहता है, सर्वव्यापी है, उसका कभी अभाव ही नहीं रह सकता। जैसे आकाशका कभी अभाव ही नहीं बन सकता ऐसे ही आत्माका भी अभाव नहीं बन सकता। तो सुख आत्माका कार्य है आकाशका नहीं है। यह बात कैसे सिद्ध करोगे? समवाय सम्बन्ध तो कुछ चीज नहीं है, इस कारण यह बात मान लो कि आत्मामे ज्ञान आत्माके परिणमनसे बनता है और प्रत्येक ज्ञान होते ही हैं। आत्माका अन्यसे भान बनाने वाला प्रत्यक्ष करने वाला होता है, ऐसे ही सुख भी आत्मामे होता है और आत्माका भाव कराता हुआ होता है।

स्वके ज्ञान और सुख आदिकी स्व द्वारा ही प्रत्यक्षकी सिद्धि– अपना सुख समझनेके लिए हमे कोई नया ज्ञान बनाना पडता है क्या? अथवा हम किसी पदार्थको जानते हैं तो जिस ज्ञानसे हमने जाना उस ज्ञानकी समझ बनानेके लिए हमे नया ज्ञान बनाना पडेगा? अरे, वह ज्ञान और सुख स्वय ही ऐसी प्रकृतिको लिए हुए है कि स्वय स्वयके द्वारा प्रत्यक्षमे रहा करते है, इस कारण ज्ञानको स्वव्यवसायी मानो। ज्ञान स्वपर प्रकाशक है, अपने आपको भी जानता है और परपदार्थोंको भी जानता है। इसमेसे स्वका भी जानता है, इसका कुछ दार्शनिकोने निषेध किया था। उस प्रसङ्गमे यह सिद्ध किया जा रहा है कि ज्ञान स्वका भी व्यवसायी है। यदि स्वका निर्णय न रखे तो परका भी निर्णय यह ज्ञान नही कर सकता। ज्ञान स्वका प्रकाश नही करता अर्थात् ज्ञान ज्ञानको नही जानता। यहाँ सिद्ध करते हुए शङ्काकारने यहा तक कह डाला कि आत्मामे जो सुख उत्पन्न होता है उस सुखका जो ज्ञान चलता है वह भी भानमे नहीं है, प्रत्यक्ष नही है। तो इस बातपर यह आपत्ति दी गयी थी कि तुम्हारा सुख भानमें नही रहता और भिन्न भी मानते आत्मा जुदा है, सुख जुदा है, तो फिर यह सुख आत्माका है यह कैसे निर्णय किया जा सकता है? यदि यह कहो कि सुख आत्मामें पाया जाता है, सुख आत्मामे आधेय हैं, आत्मा आधार है, इस आधार आधेय सम्बन्धके कारण यह कहा जा सकेगा कि सुख आत्माका है। तो आधेयका अर्थ क्या है। आधेय मायने क्या, सुखका आत्मामे सम्वय हो जाता है, एक-एक मिल जाता है अथवा उसका तादात्म्य हो जाता है, या आत्मामे सुख प्रकट हो जाने मात्रका नाम आधेय कहोगे? ये तीन विकल्प किए समवय सम्बन्ध तो कोई चीज ही नही। या तो होता है सयोग या होता है। तादात्म्य।

आत्मा और ज्ञानके तादात्म्यकी सिद्धि–जैसे आत्मामें ज्ञान सयोगसे है या तादात्म्यसे? सयोग तो होते हैं भिन्न भिन्न दो चीजोमे और तादात्म्य होता है एक ही पदार्थके स्वरूपमे। जैसे अग्निका गर्मीसे तादात्म्य है सयोग नही है और

चौकीका वस्तुसे सयंग है तादात्म्य नही। तो समवाय नामकी तीसरी और क्या चीज है ? तादात्म्य कहेंगे तो तुम्हारे सिद्धान्तसे विरोध आयगा। जैसे आत्मामे सुख तादात्म्यरूपसे है। तादात्म्य उसे कहते हैं जो इस ही पदार्थका स्वरूप हो, सदा रहे।

तादात्म्यके प्रकारत्वकी सिद्धि— तादात्म्य दो तरहसे होता है। एक तो अनादि कालसे अनन्त काल तक सदा रहे उसका सम्बन्ध, एक अत्यन्त शाश्वत् तादात्म्य और एक वर्तमान काल तादात्म्य। जैसे आत्मामे क्रोधभाव जगा तो क्रोध आत्मा मे सयोगसे तो है नही क्योकि सयोग होता है दो पदार्थोंका। क्रोध नामका पदार्थ अलग हो, आत्मा अलग हो, ऐसी दो चीजे अलग तो हैं नही। क्रोध जुदी चीज है, जैसे चश्मा घडी वगैरह। इस प्रकार क्रोध कोई अन्य वस्तु हो और आत्मा अन्य पदार्थ हो ऐसा नही है, किन्तु कर्मोदयका निमित्त पाकर आत्मामे कर्मविकार जगा है वह है क्रोध। तो क्रोधका आत्मासे तादात्म्य सम्बन्ध है लेकिन आत्मामे सदा नहीं रहता इसलिये तादात्म्य होकर भी क्षणिक सम्बन्ध है और ज्ञान शक्तिका आत्मामे तादात्म्य होकर ध्रुव सम्बन्ध है। तादात्म्य दो प्रकारके है एक ध्रुव और एक क्षणिक। तो सुख जो है आत्मामे, तादात्म्यरूपसे है किन्तु क्षणिक है। कुछ समयको सुख हुआ उस के बाद दुःख हो सकता है। यदि वह सुख हुआ तो आत्मामे, आत्माका ही परिणमन हुआ, परन्तु सदाके लिये नही टिक सकता, तादात्म्य भी नही मान सकता सुखका और आत्मामे क्योकि तुम्हारे मतसे आपदा है।

आत्माके आनन्दस्वभावका त्रिकालवर्तित्व— जैन दर्शन तो मानता है। यदि यह कहो कि आत्मामे सुख प्रकट हुआ, यह सुखकी आधेयता है तो भाई जैसे समस्त आत्मा न्यारे हैं ऐसे ही आकाश आदिक भी न्यारे हैं तो सुख आत्मामे ही प्रकट होता यह कैसे कहा जाय ? हम कह दे कि आकाशमे प्रकट हुआ। तब सुख भिन्न चीज है, आत्मा भिन्न वस्तु है और आत्मा भी व्यापक है आकाश भी व्यापक है पर सुख आत्मामे ही प्रकट हुआ यह कैसे कहोगे कि आकाशमे प्रकट हुआ तो यह कहो कि भाग्यवश यह नियम है। जो सुख अपने भाग्यसे पैदा किया गया है वह सुख उस आत्माका है, और, दूसरोका सुख तो जिनके भाग्यसे प्रकट हुआ वह सुख मेरा है यह भी कहना ठीक नही। भाग्य भी आत्माका है यह भी तो पहिले सिद्ध करो। भाग्य भी जुदा है। हर एक वस्तुका जिसमे जरा जरासा अन्तर दिखाई दे, तुरन्त भेदको मान ले उसके यहाँ तो कुछ भी सिद्धि नही है। आत्मामे ज्ञान है, सुख है पर ज्ञानका जो स्वभाव है वह तो आत्मामे शाश्वत अभेद है और आनन्दका वह जो स्वभाव है वह भी आत्मामे सदाकाल रहता है।

विपरीत अभिप्राय ही क्लेशका हेतु— अब ज्ञान और आनन्द स्वभाव का परिणमन यह कोई समयपर होता है और फिर दूसरे क्षणमे दूसरा परिणमन होने लगता है। तो प्रत्येक पदार्थ अपने गुण पर्यायरूप रहते है, न गुण उससे अलग है, न

पर्याय उससे अलग है, यो अदृष्ट भी तो तुम सिद्ध नही कर सकते। तव भेदवादका एकान्त लिया। यदि कहो कि जो अदृष्ट सुख दु खको उत्पन्न करता है तो इससे इतरे तरा दोष होता है। इसके बाद यह समझमे आयगा कि सुख इस आत्माका है तव यह कह सकेंगे कि भाग्य इस आत्माका है। शायद यह कहो कि जिसको श्रद्धासे ग्रहण किया गया द्रव्य गुण कर जिस भाग्यको पैदा करे वह मेरा है तो उसमे भी वही दोष है, अत्यन्त भिन्न है तो यह दृष्टि अपने आत्माकी है यह भी कैसे सिद्ध कर सकते, तो प्रयोजन यह है कि जो वात हो तो सीधीसी उमे न मानकर अपनी दार्शनिकता छाँटनेके लिये लोकमे अपनेको कुछ विशिष्ट बतानेके लिये जो अनाप सनाप धारणा बना ली जाती है वे इस जीवको क्लेशके कारण है। जब तक तत्त्वज्ञान नही जगता तव तक जीव को शान्तिका मार्ग नही मिलता।

ज्ञानका कार्य जानन मात्र—अपने आपकी यथार्थ श्रद्धा करो। मैं ज्ञान स्वरूप हूँ, ज्ञान मेरा स्वभाव है। जानना मेरा काम है। मैं हर समय जाननेमे तो स्वतत्र हू, जानना ही मेरा सही काम है। इसके आगे और कुछ मेरा काम नही है। मैं किसी पदार्थको करता नही, मैं किसी पदार्थको भोगता नहीं। फिर जब मेरा किसी पदार्थसे न कर्तृत्वका सम्बन्ध न भोक्तृत्वका सम्बन्ध ऐसे ही दूसरे जीव न उसे कुछ कर सकते न उसे कुछ भोग सकते, जब ऐसा परस्परमे अत्यन्त लगाव है, फिर सम्बन्ध मानना कि दुनियामे मेरा कहीं कुछ है यह मूढताका परिणाम है कि नही ? अथवा इस असार ससारमें इन मायामय जीवोसे मनुष्योसे अपनी प्रशसा चाहना नाम चाहना बडप्पन चाहना यह सब मूढता है कि नही ?

सर्वज्ञ वीतराग आनन्दमय, आत्मा— अरे सबसे निराला ज्ञानस्वरूप यह मैं हूँ। मैं ही अपना भविष्य बनाने वाला हूँ, अपनी सृष्टि करने वाला हूँ। भगवानका गुण तो इसलिये गाते हैं कि भगवान है शुद्ध पवित्र, उनके ज्ञानमे सारा विश्व ज्ञात है, रागद्वेष उनके रच नही है, मोहका सर्वथा अभाव है, ऐसे पवित्र आत्मा हैं भगवान उन भगवानकी भक्तिमे हमे अपने आपके स्वरूपकी सुध होती है, ओह ! ऐसे ही निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ पवित्र आनन्दमय मेरा स्वरूप है। यह स्वरूप यदि ध्यानमे रहे तो इस जीवको कष्ट नही है।

आत्माके करने योग्य कार्य—जिन जीवोका हम विकल्प करते हैं। जिन जीवोसे हम प्रतीति और मोह करते है, परिस्थितिवश हो कुछ जाय लेकिन तथ्य यह है कि अपने स्वरूपसे चिगकर केवल वहाँ विकल्प ही किया जा रहा है। कुछ किया जा रहा है। कुछ किया नही जा रहा, कोई पुरुष दूसरोंसे स्नेह नही कर सकता, वह अपने आपके प्रदेशोमे ही स्नेहका परिणाम बनाये रहता है। स्नेहका परिणाम बनाने पर भी उस जीवसे यह न्यारा ही है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे अपना परिणमन कर रहे हैं। सभीके साथ भाग्य लगा है। सभी अपने अपने कर्मोदयके अनुसार सुख

अथवा दु ख पाते हैं। कोई किसीको सुख दु ख देने वाला नही है। मोहवश इष्ट बुद्धि और अनिष्ट बुद्धि करके यह जीव अपने आपमे क्लेश मचाता है। दु.ख होता रहता है। अरे ज्ञाता दृष्टा रहो ना, जिसका जैसा भाग्य है जिसका जैसा परिणमन है उस का उसके अनुसार होता है। इस जगतमे करनेका काम क्या है ? जो मेरे लिये लाभ करे, कुछ ठीक निर्णय तो करो। आज वडा पुण्यका उदय है, अच्छे घरानेमें उत्पन्न हुए, शासन उत्तम मिला, सत्सग मिला है, सारी बातें ठीक हैं, पर जरा अपने आपके वारेमे ऐसा तो विचार करो कि मेरे करने लायक इस जगतमे कौनसा काम है? जिसके कर लेनेसे फिर सतोप मिले, आनन्द मिले और यह विश्वास रहे कि अब भविष्यमे मैं इससे नीचेकी स्थितिमे न गिरूँगा।

धन वैभवकी वृद्धिकी चाह ही दु खका हेतु - ऐसा कौन कार्य है सो बतावो ? धन वैभवका सचय कर लेना यह तो लाभकारी कार्य नही है। धनके सचय होनेपर भी शान्ति तो नही मिलती। उसके कारण शान्ति मिलती हो तो बतावो ? शान्तिका वह तरीका ही नही है। मोह लगा है इसलिए दु खी भी होते जाते और सुख भी मानते जाते। जैसे तीखी चरफरी लाल मिर्च खाते जाते है, सी-सी करते जाते हैं, आँखोसे आँसू भी गिरते जाते हैं फिर भी कहते हैं कि मुझे और चाहिए लाल मिर्च। ऐसे ही इस मोहके कारण दु खी भी होते जाते और उसीमे सुख भी मानते जाते है। तो ऐसा एक नियन्त्रण बने, अपने आपको ऐसा सयत रखे कोई कि यह मैं आत्मा लो इतने ही स्वरूपमे तो हूँ इसमे बाहर मैं नही हूँ, बाहर जो कुछ है वे भी सब पूरे पूरे हैं। कोई अधूरा नही है। किसीसे कितना ही मोह करो उसको सुखी बनानेके लिए, पर भाग्यमे नही है तो कौन सुखी होनेका निमित्त बन सकेगा ? यहाँ एक दृष्टान्त है। एक राजाका लडका था, लेकिन पुण्य पल्ले न था। ज्यो ज्यो बडा होता गया, राज्यमे आपत्ति आने लगी। प्रजाने राजासे निवेदन किया। जबसे आपका पुत्र हुआ है तबसे राज्यभरमे विप्लव है, सब प्रजाजन हैरान है, तो उसे अलग कर दिया। किन्तु साथमे यह दु खी न हो तो गाडीभर सामान और पैसा खजाना आदिक सब चीजें लदा दिया और देशसे बाहर निकाल दिया। लेकिन उसका उदय अनुकूल न था सो सारा धन आग बन गयी, अनाजके बोरोमे छिद्र हो गया, सारा अनाज बिखर गया। पुण्योदय न हो तो कितना ही किसीके सुखी होनेका उपाय करले सुखी नही हो सकता। सुखी होने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नही है। उसका ही उदय हो तो सुखी हो सकता है। तो इस धन वैभवसे शान्ति नही प्राप्त होती है बल्कि जितना बढावो उतनी ही अशान्ति बढती जाती है और फिर यह उपाय नही करता कि देखो यह बढ गया धन इसलिए अशान्ति बढ गयी, अनर्थ बढ गया, तृष्णा बढ गयी। तो इस धन वैभवके परिमाण करलें कि हम इससे अधिक अपने पास न रखेंगे। इससे अधिक हो गया तो दान कर देंगे। यह कोई बडी बात नही।

परिग्रहके त्यागभावमे सुखकी उपलब्धि – पहिले समयमे अनेक वाद-

शाह ऐसे भी हुए कि टोपी सीकर, खेत जोतकर या कुछ चीज बनाकर उससे जो आमदनी हुई उससे अपने परिवारका पेट भरते थे, लोग पूछते कि यह करोडोका वैभव किस लिये है ? तो उनका उत्तर था कि यह सब वैभव प्रजाजनोसे टैक्समे आया है सो यह सब धन प्रजाका है, इसको छूनेका हमे अधिकार नही है। ऐसे भी राजा हुए हैं। क्या गृहस्थजन इतना नही कर सकते कि जितनेमे खूब मौजसे जिन्दगी व्यतीत हो रही है उतनेका परिमाण बना लें, उससे आगे जो कुछ बढे उसका दान करे ? क्या कोई भूखे मर रहे हैं, क्या किसीके रोटियोकी कमी है, मगर धुन एक ऐसी बन गयी है कि मैं धनका अधिकाधिक सचय करलू । इस धन वैभवका सचय किस लिये किया जा रहा है ? इसीलिये कि लोकमे मेरी इज्जत बने, मैं धनी कहलाऊ। यही तो धन सचयका उद्देश्य है, पेट पालनेका कोई उद्देश्य नहीं हैं। तो आप देख लीजिए कि परिग्रहका परिमाण कर लेनेपर जो अधिक आयें वह दानमे लगे, परोपकारमे लगे तो उससे इज्जत है कई गुना या नही ? चार लाख वाला पुरुष यदि ८ लाख वाला धनी हो जाय तो उसकी उतनी इज्जत न बढेगी जितनी कि ८ लाखका दान कर देने वालेकी बढेगी, पर मोह भाव ऐसा है कि जो यथार्थ मार्ग है, उस ओर बुद्धि नही जाती। लेकिन यह तथ्यकी बात है कि जब तक परिग्रहका परिमाण न कर लिया जाय तब तक नही होता कही तो अटकाव होना चाहिए। क्या जीवन भर धन सचयके स्वप्न निरखकर ही समय बिताना है ? तो धन वैभवसे भी शान्ति नही मिलती।

शान्ति मार्गकी प्राप्ति किसको ?—परिवारजनोसे भी शान्ति नही मिलती। अरे परिजनके लोग अच्छे होगे, आज्ञाकारी होगे तो उनके सुखी करनेके लिये कष्ट करना पडेगा। परिवारके लोग यदि बुरे होगे, प्रतिकूल होंगे तो उनका ख्याल कर करके दु खी होगे तो परिजनोसे भी आत्माको शान्ति नही मिलती तो फिर इज्जत, लौकिक नेतागिरी आदिक बन गई तो वहाँ भी शान्ति नही मिलती। क्योकि ऐसी स्थितिमे तो पराधीनता बहुत होती है। जो लोग इज्जत चाहते हैं, नेतागिरी पराधीनतायें हैं। वे हर एकके दिलको प्रसन्न करना चाहते, हर एकसे वोट लेनेकी याचना करें। किस बातकी व ाँ शान्ति है। इसपर विचार तो करलो, कही अन्यत्र शान्ति न मिलेगी। एक दृष्टिसे यदि ऐसा भी कह लो तो अच्छा है कि दुनियामे बेवकूफ सा बन कर रहे तो उसे शान्ति मिल सकेगी। बेवकूफ बनना तो मिथ्यात्व है पर ऐसा बेवकूफ कि कोई हमे जान नही रहा, किसीसे हमारा कुछ ताल्लुक नही, किसीसे कुछ चाहे नही किसीमे हम अपनी चतुराई न छाटें, कही दखल न दें ऐसे भोले सरल अपने आत्माके प्रयोजन रखकर रहे ता उसे शान्तिका मार्ग मिलता है, इसका मतलब यह न होगा कि खुदके विषय साधनोके जोडनेमे तो चतुर रहें और दूसरोका उपकार न कर सकें, अपने लिये भी न चाहे, परके लिये भी न चाहे, ऐसे समता परिणाम वाले बनकर जीवन वितायें कोई तो वह शान्तिका साक्षात् मार्ग है।

लेकिन बुद्धिपूर्वक शान्तिका उपाय तो करना ही होगा। वह उपाय है निजको निज परको पर जान।

मोहरूप परिणमन ही दुःख—यथार्थ समझ कर लो, उस आत्मामे अन्तर्दृष्टि डालकर निहारो, केवल यह मै ज्ञानमात्र हूँ, रूप, रस, गध, स्पर्शसे रहित हूँ, इसे कोई पकड नही सकता। छेद भेद नही सकता। केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र हूँ। इससे बाहर कही मेरा नाता नहीं। किसीसे भी सम्बन्ध नहीं। यह जैसे परिणाम बनाता है वैसे ही अपनेको भोगता रहता है। इस जीवको व्याकुल करने वाला केवल मोह परिणाम है। इस जगतमे सबसे अधिक गदी चीज मोह है। आप बतावेगे कि यह नालियामे जो गदगी बहा करती है मल-मूत्र वगैरह अथवा मास आदिक ये चीजे गदी है पर जरा सोचो तो सही कि ये चीजें कैसे बनी हैं? यदि मोह न होता तो ये सब चीजे कैसे बनती? तो मूलमे यह मोह सबसे गदी चीज रही। तो शरीर बननेका भी आधार क्या, कारण क्या? मोही जीव। मोही जीवोका सम्बन्ध न हो तो शरीर कैसे? जीव आये बिना कोई शरीर बन सकता है क्या? चाहे पृथ्वी हो, जल हो, अग्नि हो, वायु हो, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय हो, कोई भी काय हो, जीवके आये बिना शरीर तो नही बन सकता। तो शरीर बननेका कारण क्या है? जीवोका सम्बन्ध नही किन्तु मोही जीवोका सम्बन्ध। मोही जीवोमे भी जीव बहुत नही। जीवका स्वरूप तो जो प्रभुका है, जो सबका है सो अपना है, किन्तु उस जीवमे जो मोहभाव लगा है, अज्ञानभाव है, शरीरको अपनानेका भाव है, जिस भावके कारण शरीर मिलते जाते है। तो गदा हुआ मूलमे यह मोह भाव कारणका कारण खोजते जाये गदा वह कहलायेगा।

मोह भाव ही जीवमे गन्दगीका उत्पादक—जैसे किसीका पैर मैलमे भिड गया तो जो भी उसे छू लेगा वह अस्पर्श हो गया, उसे जो छुवे वह अस्पर्श हो गया, यो जितने भी लोग छूते जायेगे वे सब अस्पर्श हो गए, पर जरा सोचो तो सही कि मूलमे अस्पर्श कौन है? अस्पर्श तो मूलमे वही है जिसका पैर मलमे भिड गया। ऐसे ही यहाँ भी विचार करे, नाली खराब है, मल मूत्र मास आदिक खराब क्या है? मोह। तो सबसे अधिक गदा मोह परिणाम हुआ। इस मोह विडम्बनासे बचनेकी बात कर लें सो भला है। ज्ञान दृष्टि शुद्ध बना लें। तो यहाँ उस ही ज्ञानकी चर्चा है कि यह ज्ञान स्वका भी प्रकाश करता है और परका भी प्रकाश करता है, ऐसा ज्ञान मात्र अपने आपको समझ लेना चाहिए।

विश्वके अन्य पदार्थोंका जानने वाला ज्ञान अपना भी ज्ञाता—आत्मामे जो सुख आदिक भाव होते है वे इस भोगने वाले आत्माके प्रत्यक्ष रहते है अर्थात् अनुभवके बाहर है। सुख दुःख अनुभवमे न आये तो सुख दुःखका प्रभाव क्या? जैसे सुख और दुःखका परिज्ञान करनेके लिये हमें अन्य ज्ञान बनानेकी जरूरत नही उनको

है उस ही प्रकार किसी भी ज्ञानको जाननेके लिये हमे अन्य ज्ञान बनानेकी जरूरत नही रहती। जैसे कि मैंने घट जाना है तो फिर जो मैंने घडाका ज्ञान किया है ऐसा समझनेके लिये हमे नया ज्ञान बनानेकी आवश्यकता नहीं होती किन्तु वही ज्ञान अपनेको भी जानता है और परपदार्थोंको भी जानता है। जो लोग ऐसा प्रश्न करते हैं कि ज्ञान तो दूसरेके ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है जहाँ वह खुद अपने आपको नही जान सकता इसी प्रकार इन घट पट चौकी आदिक पदार्थोंको हमने जिस ज्ञानसे जाना है वह ज्ञान भी किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जा सकेगा। खुद वही ज्ञान अपने आपको नही जान सकता, क्योंकि ज्ञान भी प्रमेय है, पदार्थ तत्त्व है, ज्ञानके योग्य है ऐसा कहना युक्त नही है कि तुम्हारे इस कथनमे दोष आता है। क्या तुम्हारा जो यह कहना है कि जो भी ज्ञान होता है वह ज्ञान किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाता है तो सुख हुआ और उसका हमे ज्ञान हुआ, मगर सुखका ज्ञान किसी ज्ञानके द्वारा जाना जाता अथवा परमात्माका ज्ञान, ईश्वरका ज्ञान समस्त विश्वका जानता है और वही ज्ञान अपने ज्ञानको भी जानता है।

ज्ञानको स्वयका ज्ञाता न माननेपर अनवस्था दोष— तुम्हारे यहाँ कहा कि ज्ञान खुद अपने आपको नही जान सकता। लेकिन महेश्वरका ज्ञान तो अपने आप को भी जान गया और विश्वके पदार्थोंको भी जान गया। तब तुम्हारा यह कहना युक्त नही है। वह प्रमेय है फिर भी अन्य ज्ञानोके द्वारा नही जाना जाता और मैंने अपने ज्ञानको किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना तो फिर अनवस्था हो जायगा। वह दूसरा ज्ञान फिर तीसरे ज्ञानके द्वारा समझा जायगा, तीसरा ज्ञान चौथेसे, यों व्यवस्था न रहेगी। यहाँ बात यह सिद्ध की जा रही है कि जो हम आप लोगोको ज्ञान बनता है किसी पदार्थको जाननेके लिए तो वह ज्ञान खुद अपने आपको समझ लेता है कि मैं हूँ, सही हूँ ठीक जान रहे हैं। उस ज्ञानको जाननेके लिए दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नही होती है। लेकिन जो दर्शन इस सिद्धान्तका विरोध करते हैं उनको यह आपत्ति दी गई है कि यदि ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाय क्योकि प्रमेय होनेसे, तो इस अनुमानसे ईश्वरके ज्ञानमे बाधा आती है अर्थात् ईश्वरका ज्ञान पदार्थको भी जानता है।

एक ज्ञेयको विषय करने वाले ज्ञानमे अन्य ज्ञेयोके जाननेमे सामर्थ्य— इस प्रसङ्गमे शङ्काकार अपना बचाव कर रहा है कि ज्ञान अन्य ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है और इसमे महेश्वरके ज्ञानका व्यभिचार भी नही होता। अनवस्था भी नही आता, क्योकि हम ईश्वरमे हमेशा दो ज्ञान मानते हैं। यहाँ शङ्काकार कह रहा है एक ज्ञानसे तो ससारके पदार्थोंको जानते और दूसरे ज्ञानसे ज्ञानको जानते। जैसे किसी जगह आस-पास दो दीपक हैं, दो लौ बनाये गए हैं तो एक लौ तो समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता और एक लौ उस लौको। ऐसे ही ईश्वरमे दो ज्ञान रहते हैं। एक ज्ञान ससारके पदार्थोंको जानता है और एक ज्ञान ज्ञानको। यह बात कुछ

सङ्का प्रतीत नही होती। तथ्य तो यह है कि ईश्वरका ज्ञान एक ही है और उस ज्ञान मे स्वपर प्रकाशकताका स्वभाव पडा है। शङ्काकार कह रहा है कि ईश्वरमे नित्य दो ज्ञान रहते हैं—एक ज्ञानसे तो समस्त पदार्थोंको जानते और एक ज्ञान ज्ञानको ही जानता रहता है। अब तीसरे ज्ञानकी कोई जरूरत नही। सही-सही बात तो दो ज्ञानोसे ही बन जाती है, फिर तृतीय ज्ञान माननेकी जरूरत नही। अत अनवस्था दोष नही आता, यह कहना भी ठीक नही है।

पूरे द्रव्यमे समान जातीय दो गुणोकी अनुपलब्धि—समान कालमे, पूरे द्रव्यमे सजातीय दो गुण नही हुआ करते। जैसे कोई एक पदार्थ ले लो -एक आमफल, लेकिन उस आमफलमे एक ही समयमे पूरे आममे २ रङ्ग नही रह सकते — हरा भी रङ्ग रहे और लाल भी रहे। हा आगे पीछे रह जाय। पहिले हरा है पीछे लाल हो गया या किसी अशमे लाल हो किसी अशमे हरा हो, पर एक ही समयमे पूरे द्रव्यमे सजातीय दो गुण नही रहते। सजातीय शब्द इसलिए बोला है कि आममे रूप और रस जुदी जुदी जातिके गुण हैं, पर रूपके ही जो भेद है काला, पीला, नीला आदिक ये एक साथ नही रह सकते। रह भी सके मगर पूरे फलमे नही रह सकता। तो एक ही समयमे पूरे द्रव्यमे समान जातिके दो गुण कभी नहो ठहर सकते। यहाँ एक ही ईश्वरमे, पूरे उस आत्माके सजातीयता इसका ज्ञान मान लिया। एक ज्ञान तो पदार्थके समूहको जानता है और दूसरा ज्ञान पदार्थ समूहके जानने वाले ज्ञानको जानता है। तो वे दोनो ही ज्ञान सजातीय हैं। तो सजातीय दो ज्ञान एक साथ एक द्रव्यमे पूरेमे एक समय नही होता। तो ईश्वरमे दो ज्ञान नही हैं। ज्ञान एक ही है और वह ईश्वर उस एक ही ज्ञानसे सारे पदार्थसमूहको जानता है और खुदके स्वरूपको भी जानता है। यही बात हम आप लोगोकी है। हम आप किसी पदार्थको जानते हैं कि लो यह चटाई है, उसी ज्ञानसे तुरन्त यह निर्णय करलें कि हमारा ज्ञान सही है। दूसरा ज्ञान नही करना पडता कि जो मैंने जाना है कि यह चटाई है यह ज्ञान सही है या नही ? पदार्थको जानते ही ज्ञानमे दो स्वभाव आ गए। पदार्थको जाना और अपने आपको भी जाना। तो ईश्वरमे भी एक ही ज्ञान है, वह जिससे सारे विश्वको जानता और खुद अपने स्वरूपको भी जानता है।

ईश्वरमे एक ही ज्ञान गुणकी सभवता—तो ईश्वरमे दो ज्ञान एक साथ सम्भव नही है। मान लो ईश्वरमे दो ज्ञान सही है तो यह बतलावो कि वह दूसरा ज्ञान जिस ज्ञानने पहिले ज्ञानको जाना वह दूसरा ज्ञान प्रत्यक्ष है या परोक्ष ? यदि प्रत्यक्ष नही है, वह स्वय भानमे नही आता तो अप्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा प्रथम ज्ञानकी प्रत्यक्षता नही बन सकती। यदि अप्रत्यक्ष ज्ञानसे जो ज्ञान हमारे भानमे न आये उस ज्ञानसे हम इस ज्ञानको जान जायें तो पहिले ज्ञानसे हम पहिले ज्ञानको क्यो न जान जायें ? उससे ही हमारे पदार्थका प्रत्यक्ष क्यो नही हो जाता ? इससे चाहे ईश्वरका

ज्ञान देख लो चाहे अपना ज्ञान देख लो दोनोंके ज्ञानोंमे एक समान स्वभाव पड़ा है। यदि ईश्वरमे दो ज्ञान माने जायें तो पूछा जा रहा है कि दूसरा ज्ञान उसे अप्रत्यक्ष है या प्रत्यक्ष। यदि प्रत्यक्ष मानते हो तो अपने आपसे ही प्रत्यक्ष बन गया या किसी अन्य ज्ञानसे बना? यदि अपने आप बना तो पहिला ज्ञान भी अपने आप प्रत्यक्ष होने लगा। दूसरे ज्ञानसे बना तो अनवस्था दोष है। यदि पहिले ज्ञानसे दूसरा ज्ञान प्रत्यक्ष हो, दूसरे ज्ञानसे पहिला ज्ञान प्रत्यक्ष हो तो यह इतरेतराश्रय दोष हो गया पहिला ज्ञान प्रत्यक्ष बने तो दूसरा ज्ञान जान जाय। दूसरा ज्ञान जान जाय तो पहिला ज्ञान जान जाय यों विपरवाद मत मानो।

आत्माकी अखण्डता एव ज्ञानस्वरूपता — पदार्थका जैसा स्वरूप है वैसा समझो। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, और ज्ञानका ऐसा स्वरूप है कि वह पदार्थको भी जाने और खुदको भी जाने, अर्थात् ज्ञान स्वपरव्यवसायी हुआ करता है। प्रत्येक आत्मा एक एक है। और, एक उसे कहते हैं जो अखण्ड हो, एक का टुकड़ा नहीं हुआ करता है। तो हम आप सबका आत्मा यद्यपि विस्तृतरूप हो रहा है और है भी। जितना बड़ा हमारा शरीर है उतने ही बड़े आकारमे हमारा आत्मा है। देहाकार है आत्मा, लेकिन जैसे देहके टुकड़े किये जा सकते हैं ऐसे इस आत्माके टुकड़े नही किये जा सकते। अतएव आत्मा एक है, शरीर एक नहीं है। इस शरीरमे ऐसे अनन्त परमाणु हैं, पदार्थ है। आत्मा एक है, यह प्रत्येक आत्माकी बात कही जा रही है। आत्मा अखण्ड है और ज्ञानस्वरूप है। तो जितने फैलावमे आत्मा है उतने ही फैलावमे ज्ञान है। ज्ञान और आत्मा जुदे नहीं है, इसलिये जो ज्ञान आत्माके एक प्रदेशमे है वही ज्ञान आत्माके दूसरे प्रदेशमे है। इसका दृष्टान्त बाहरमे यों नहीं मिलता कि जितने अखण्ड पदार्थ हैं वे आँखो नही दिखते। न तो आत्मा आँखो दिखता, और पुद्गलमे एक एक पदार्थ हैं परमाणु सो परमाणु आँखो दिखते। धर्म, अधर्म आकाश द्रव्य न वे आँखो दिखते। काल द्रव्य असख्यात है, एक एक प्रदेशपर एक एक कालद्रव्य है सो न कालद्रव्य दिखता अत दृष्टान्त क्या दे? यह तो अनुभवसे ही जाना जा सकता है। मैं आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूँ यह आत्मा स्वपर प्रकाशक है। यो आत्माको स्वपरव्यवसायी मानें, ज्ञानको स्वपरनिर्णायक मानो वह ज्ञान प्रमाण है।

किसी भी आत्मामे दो ज्ञान गुणोकी अनुपलब्धि — यहाँ शङ्काकार ईश्वरमे दो ज्ञान मान रहा है, एक ज्ञानसे तो पदार्थ जाने जा रहे है और दूसरे ज्ञानसे ज्ञानको जाना जा रहा है कि तुम्हारे ईश्वरके वे दोनो ज्ञान ईश्वरसे अत्यन्त भिन्न हैं तो ये ईश्वरके ज्ञान हैं यह कैसे सिद्ध होगा? यह दार्शनिक सब चीजोको भिन्न भिन्न मानता है। ज्ञान जुदा है, आत्मा जुदा है, फिर ज्ञानका आत्मामे सम्बन्ध जोड़ा तब आत्माने जाना। जैसे कि साधारण रूपसे बिना विवेकके ऐसा लगता है कि जो ज्ञान हममे पैदा हुआ वह ज्ञान नष्ट हो गया, अब इसमे दूसरा ज्ञान आया। अरे आया कहाँ

से ? किसी दूसरी जगहसे ? हाँ ऐसा मान रहा है कि दूसरी जगहसे आया। तव भिन्न भिन्न हो गए ना, इस ढङ्गसे वह दर्शन भिन्न भिन्न मानता है। ईश्वर निराकार चैतन्यस्वरूप है और उसमे ज्ञान जुडा है, सम्वन्ध होता है ज्ञानका तव वह ज्ञानको जानता है। यदि ईश्वरसे वे दोनो ज्ञान भिन्न है तो वे ईश्वरके है यह कैसे सिद्ध होगा ? समवाय सम्बन्ध भी नही वनता, आधार आधेय भी नही वनता, फिर यह सिद्ध नही कर सकते कि यह ज्ञान इस ईश्वरमे है। यह ज्ञान इस ईश्वरका है। और, फिर एक बिढगी वात देखो कि अपना ज्ञान जव अपने आपको भी नही जान सकता तो वाहरमे रहने वाले पदार्थोंको जान ले, इसपर कौन विश्वास करेगा ? जो दीपक खुद प्रकाश मान नही है वह दीपक परपदार्थको प्रकाशित कर दे इसे कौन मान लेगा ? इससे सीधी वात मानना कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और वह अपना भी प्रकाश करता है और दूसरेका भी प्रकाश करता है।

आत्माके जगमगस्वरूपकी स्वसवेद्यता— जव अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि पहुचती है तव यह स्वय अनुभव करता है—ओह ! यह ज्योतिर्मय मैं हूँ। यही मेरा शरण है, मेरी दुनिया है, मेरी समृद्धि है। इससे बाहर कही भी कुछ मेरा नही है कल्पनामे कुछ भी मानते जावें किसी भी वस्तुसे मोह करें, नाता माने, पर इस मुझ आत्माका अन्यत्र कही कुछ नही है। ऐसा यह ज्ञानस्वरूप आत्मा जो स्वय जगमगरूप है वह मैं हूँ। आत्माका स्वरूप जगमगरूप है। जगमगको लोग वडे समारोहमें सामिल करते हैं। कही सभा सोसाइटीमे खूव विजली वगैरहसे सजाया गया हो और वह बिजली केवल जग ही जग रहे, उजला ही उजेला निरन्तर रहे तो उससे शोभा नही वढती। शोभा बढती है जगमगसे अर्थात् विजलीके जलने और वुझकर तुरन्त जलनेसे अथवा अपने प्रकाशमे समाकर प्रकाशित होनेसे। जब बिजली जल रही हो और बुझ रही हो तो लगता है कि कोई नकशा सा बनाया जा रहा है। तो जैसे उस बिजलीके सजावटकी शोभा है जगमगसे, ऐसे ही इस आत्माका निरन्तर जगमगस्वरूप है। अन्तर इतना है कि यहाँ मगका अर्थ वुझना नही किन्तु आनन्द स्वरूपमे समग्ना है। जगसे ता जाना और मगसे मग्न हुआ, आनन्द पाया। मगसे आनन्द मिलता है जगसे जानकारी मिलती है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा जगमग स्वरूप है। केवल जगसे भी प्रयोजन नही वना और केवल मगसे भी प्रयोजन नही वना। आत्मामे विशुद्ध आनन्द है तो उसके ज्ञानका भी महत्त्व है। आत्मामे विशुद्ध ज्ञान है तो उसके आनन्दका भी शुद्ध विलास है। यो आत्मा जगमग स्वरूप होता है। यदि कोई पूछे कि आत्माकी खास विशेषता क्या है ? तो यह जगमगस्वरूपता, ज्ञानानन्द स्वरूपता।

आत्मामे ज्ञान और आनन्दकी अविनाभाविता—किन्ही दर्शनोंने इसी आधारपर सिद्धान्त अलग अलग मान लिया। कोई कहते है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप

है, कोई कहते हैं कि आत्मा आनन्दस्वरूप है। ये भिन्न भिन्न सिद्धान्त हैं एक ब्रह्मवाद यह कहता है कि ब्रह्मका स्वरूप आनन्द है तो एक ब्रह्मवाद यह कहता है कि ब्रह्म चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है। देखिये—आत्मा एक स्वभाव वाला है। ब्रह्म भी एक रूप है जगमगाता लिये हुए होता है। ज्ञानानन्दस्वरूपको लिये हुए होता है किसी दार्शनिकने इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको एक ज्ञानकी प्रमुखतासे देखा, किसीने आनन्दकी प्रधानतासे देखा कि यह आनन्द स्वरूप परमात्मा है, किन्तु विचारो तो सही कि ज्ञान न हो तो आनन्दका स्वरूप क्या होगा? आनन्द न हो तो ज्ञानका रूप क्या, जैसे यह चौकी है इसमें आनन्द नहीं है क्योंकि ज्ञान नहीं है। जिस पदार्थमें ज्ञान नहीं उस पदार्थमें आनन्द भी नहीं जिस पदार्थमें आनन्द नहीं उस पदार्थमें ज्ञान भी नहीं। ये दोनों तो आत्माके अभिन्न स्वरूप हैं। ज्ञान आनन्द। अब इन दोनोंपर कर्मोंका उपाधिका आवरण लगा हुआ है जिस आवरणके कारण आत्मा अपने ज्ञानका पूर्ण विकास नहीं पाता। मूलमें इस आत्माका स्वरूप जगमग मानना पड़ेगा।

सहज जगमगस्वरूप आत्माकी उपासनासे हितकी उपलब्धि - ऐसे जगमगस्वरूप आत्माके विशुद्ध स्वरूपको हम अपने ज्ञानके द्वारा यदि ज्ञात कर लें अनुभव करलें तो इन हमारे पुण्यपापका यह प्रसाद होगा कि आकुलतायें दूर होंगी। ज्ञानानन्द स्वरूपका विकास होगा। अपने आपका उद्धार करनेमें हम ही स्वयं समर्थ हैं। प्रभुके स्वरूपका स्मरण हमारा सहारा है। प्रभुका सहारा नहीं है। किन्तु प्रभुके गुणोंका स्मरण सहारा है। देखिये वहाँ पर भी सहारा मिला अपने आपका प्रभुके गुणोंका जो स्मरण किया वह स्मरण पर चीज है? प्रभुके गुण प्रभुके हैं, उनसे मुझे कुछ सहारा नहीं मिलता। हम प्रभुके गुणोंका स्मरण करेंगे तो वह स्मरण हमारी चीज है। उस प्रभुकेस्मरणमें ही यह सामर्थ्य है कि हमारे भव भवके कर्म कलंक दूर होते हैं। तो हमारे लिये शरण हम अपने आप हैं। हम प्रभुके गुणोंके स्मरणका सहारा लें और अपने आपमें शाश्वत विराजमान ज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव करें, यही एक कल्याणके लिये करने योग्य काम है।

ज्ञानको स्वसंविदित न माननेपर अनिष्ठापत्तिका प्रसङ्ग—ज्ञान एक ऐसा भाव है जिसके होनेका, बननेका ढङ्ग ही यह है कि अपने आपको जानता रहे और परपदार्थोंको जानता रहे। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है, किन्तु इसके विरोधमें कहने वाले दार्शनिक यह सिद्ध कर रहे हैं कि ज्ञान खुद अपने ही ज्ञानके द्वारा नहीं जाना जाता, किन्तु ज्ञानको जाननेके लिए नया ज्ञान उत्पन्न करना पड़ता है। साथ ही ये दार्शनिक यह भी मानते हैं कि विज्ञान आत्माका स्वरूप नहीं है, स्वभाव नहीं है, किंतु प्रकृतिका विकार है याने अलगसे एक पदार्थ है ज्ञान। ज्ञानका उस आत्मामें सम्बन्ध जुड़ता है तब आत्मा ज्ञानी कहलाता है। इन दोनों शङ्काकारके भावोंको निरखकर आचार्यदेव कह रहे हैं कि यदि ज्ञान भिन्न है, आत्मा भिन्न है, चाहे वह ईश्वर हो

चाहे वह ससारी हो। ईश्वरके भी आत्मासे ज्ञान भिन्न है तो प्रथम तो यह निर्णय उनका सिद्ध करना कठिन होगा कि यह ज्ञान ईश्वरका है और फिर मान लो ईश्वर का ज्ञान ईश्वरमे समवेत है तो भी ईश्वरका ज्ञान अप्रत्यक्ष, अविशद रहा, क्योकि सारे ज्ञान खुदको नही जाना करते किन्तु ज्ञानको जाननेके लिए किसी नये ज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है। तो ईश्वरका भी ज्ञान अप्रत्यक्ष रह गया। ज्ञान खुदको न जान सके तो सर्वज्ञ कहाँ रहा ? फिर जिस ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ सबको जानते हैं वह ज्ञान भी स्पष्ट नही रहा। खुद खुदको न पहिचान सका तो फिर इस प्रकारसे तो समस्त पदार्थोंमे ही प्रत्यक्षका विरोध होगा। जो ज्ञान खुदको नही समझ सकता उस ज्ञानके द्वारा अन्य पदार्थोका जानना नही बन सकता। जो दीपक खुद अधेरेमे हो उस दीपकके द्वारा पर पदार्थ प्रकाशमे नही आ सकते, ऐसे ही जो ज्ञान खुदको न समझता हो उस ज्ञानके द्वारा परपदार्थ ज्ञात नही किए जा सकते। यदि भिन्न ज्ञानके द्वारा पदार्थोंका प्रतिभास होने लगे तो सारे ज्ञान इस दार्शनिकने आत्मासे भिन्न माने। तो जिस चाहे ज्ञानसे जो चाहे आत्मा जानने लगेगा, अथवा ईश्वरके ही ज्ञानसे प्रत्येक आत्मा जानने लगेगा। यदि हम आप ईश्वरके ज्ञानको जानने लगें तो सर्वज्ञ ही बन गए फिर तो यह ईश्वर है यह अनीश्वर है, यह ससारी है, यह प्रभु है यह बात नही बन सकती। इस कारण ईश्वर और ससारीमे यदि विवेक मानते हो तो यह मानना होगा कि प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है और जिस आत्माका ज्ञान पूर्ण विकसित है वह तो ईश्वर है और जिस आत्माका ज्ञान अपूर्ण है, विकसित नही है, कम है वह है ससारी। तो मानो कि ज्ञान स्वपरप्रकाशात्मक है।

स्वसविद ज्ञानकी आस्थामे हितलाभ भैया ! खुद ही परखलो हम कुछ भी जानते हैं तो जाननेके साथ हम अपने आपमे विश्वास भी बनाये रहते हैं—हम जान रहे हैं, ठीक जान रहे हैं। ज्ञान स्वय यदि अधेरेमे है तो बाह्य पदार्थ प्रकाशमे नही आ सकते। देखिये ! यह अपने आपके ज्ञान वैभवकी चर्चा चल रही है। हम आपका यह ज्ञान वैभव कितना समृद्ध है, उसकी कुछ खबर नही रखनेसे ककड पत्थर लोहा चाँदी सोना कागज आदिक अत्यन्त भिन्न अचेतन पदार्थोंमे समृद्धिकी कल्पना करते है, पर इस आत्माको शान्ति इन बाह्य समृद्धियोके कारण नही मिल सकती, शान्ति तो अपने आपके ज्ञान समृद्धिसे ही प्राप्त होगी। खुद ही खुदके लिए सब कुछ है। खुदके सिवाय अन्य कुछ परमाणु मात्र भी इस खुदके लिए कुछ नही है। यह निर्णय बने तब उसकी गिनती मोक्षमार्गियोमे बनेगी, अपने आपको टटोल लीजिये कि यह निर्णय हममे बसा हुआ है या नही ? यह मैं आत्मा अपने ही प्रदेशोंमे हूँ, अन्य बाहरी क्षेत्रोंसे इसमे कोई स्वरूप नही आता। बाह्य पदार्थोंमे इस ज्ञानका कुछ सबध नही है। यह मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसा निर्णय बने तो मोहकी गाँठ हल्की हो अथवा टूटे। जब तक मोहकी ग्रन्थि टूटती नही है तब तक यह जीव विकार भावोको अपनाता है शान्तिका उपाय प्राप्त करनेके लिए ही तो हम मदिर जाते, पूजन करते, सत्सङ्ग करते

इन सर्व उद्यमोसे यह शिक्षा ग्रहण करें कि मेरे लिए मेरा आत्मा ही सर्वस्व है, उसको छोडकर अन्य कोई पदार्थ परमाणुमात्र भी मेरे लिए कुछ नहीं है । यह आत्माका निर्णय बने तो आत्माका भला हो । अन्यथा इस आत्मदेवपर जो शरीरका बोझ लदा हुआ है वह लदा ही रहेगा । कुछ गम्भीरतासे अपने आपके निकट रहकर आत्महित का निर्णय करना चाहिए । दुनिया क्या कहती है, क्या कहती है उसको देखकर अपना प्रोग्राम बनाना मूढता है । क्योकि प्राय सारी दुनिया मूढ है, मोह-ग्रस्त है । इन अज्ञानी जीवोकी सम्मतियाँ जीवके हितके लिए न बनेंगी । खुद मैं ज्ञानस्वरूप हूँ । यदि अज्ञानको न अपनाऊँ तो खुद ही मैं निर्णय कर सकता हूँ कि वास्तवमे तथ्य क्या है ? और हमको किस मार्गमे चलना चाहिए ? मोहमे फँसना तो केवल विडम्बनाओ को बढानेवाली बात है । अनादिकालसे यही तो करते आये हैं ।

स्वरूपभावनामे अप्रमादी रहनेका अनुरोध— अपने आपके स्वरूपके निकट रहनेका उत्साह बनाये । यदि इस बातपर दृष्टि नही देते तो जैसी भटकना अभी तक चली आ रही है वह चलती रहेगी । दिलको मजबूत बनायें । उपयोगमे यह दृढ निश्चय करलें कि मेरे आत्माका मेरे स्वरूपके सिवाय अन्य कुछ नही है । जो बात जैसी है तैसी सतोंने कही है । हटकर तो कुछ मिल सकता है पर लगकर इन पदार्थोंसे कुछ नही मिल सकता । किसीसे कोई वस्तु लेना है तो आप यदि उसके पास लेने जाते हैं तो खुद गर्ज समझकर आपको वह चीज महगी देगा आप ठग जाते हैं और यदि वह खुद आपके पास आकर कहे कि आप इसे खरीद लीजिये तो आपको वह चीज सस्ती पड जाती है, उसमे आपको लाभ हो जाता है । यह फल भी गरज और उपेक्षासे मिल रहा है । ग्राहक अगर उपेक्षासे बात करे तो वह लाभमे रहता है और यदि लगकर बात करे तो हानिमे रहता है । यह एक मोटी बात कही है । ये ससारके प्राणी बाह्य पदार्थोंमे लगकर अपना जीवन बितायें तो अच्छी जिन्दगी नही बीतती और यदि इन पदार्थोंमे उपेक्षा भाव रखकर जिन्दगी बितायें तो अच्छी जिंदगी बीतती है । बाह्य पदार्थ तो इस आत्मामे अत्यन्त भिन्न हैं, कोई भी पदार्थ किसीके आधीन नही है । अतएव सबसे न्यारा अपने आपको निरख कर अपने ही स्वरूपमे मग्न होनेका भाव करें तो उसमे पराधीनताका कोई काम नहीं है । खुद खुदको निहार रहे हैं और सुखी हो रहे है । भगवान और कर क्या रहे हैं जिनकी हम आप रोज पूजा करने आते हैं ?

प्रभु-पूजामे भक्तकी उत्सुकता— भक्तोमें प्रभुपूजाके बारेमे ऐसी आदत बन जाती कि जिस दिन प्रभुके दर्शन करने न आ सकें उस दिन ऐसा लगता है कि कुछ गुमसा गया है । जिस भगवानको हम आप पूजने आते हैं वे कहाँ रहते हैं उनका काम क्या है, उनसे सम्बन्ध बनानेसे हमे लाभ क्या होगा इसका निर्णय तो होना चाहिए । लोक व्यवहारमे जिससे मित्रता बनती है उसके सम्बन्धमे इतना तो ज्ञात

होता ही है कि यह कौन है, कहाँ रहता है, क्या करता है, इसकी मित्रतासे हमको क्या लाभ हो सकता है ? चाहे विस्तारसे न कहे फिर भी यह निर्णय बराबर रहता है ऐसे ही प्रभुके बारेमे जान तो लीजिये कि यह कौन हैं, इनका नाम क्या है यह कहाँ रहते है, क्या काम करते हैं और यह कभी हमारे काम भी आ सकते हैं क्या ? ये कौन है ? ये ज्ञानानन्दके पुञ्ज हैं जिससे हम परिचय बना रहे हैं। यह प्रभुका परिचय दिया जा रहा है। ये प्रभु ज्ञान भाव और आनन्द भावके पिण्ड हैं और कुछ नही है। ये किसीके चाचा, दादा, नाना, मामा आदि नही हैं। ये वीतराग हैं। ये किसीसे प्रीति करें किसीसे द्वेष करें, किसीका काम बना दें, किसीको दण्ड दे ये सब कुछ नही करते। इनका आत्मा केवल ज्ञानानन्द स्वरूप है। रागद्वेषका बिन्दु मात्र भी नही है। यह ज्ञान और आनन्दके पुञ्ज निर्मल विशुद्ध केवल खाली आत्मा ही आत्मा है।

प्रभुकी निर्नामता—प्रभुका नाम क्या है ? क्या ऋषभदेव ? नहीं। क्या महावीर ? नही। प्रभुके नाम ये कोई नही हैं। पर नाम लिये बिना व्यवहार नही चलता। बात नही बतायी जा सकती इसलिये इनका नाम रखा है। तो रखा हुआ ही नाम बतावो ? तुमने इस प्रभुका नाम क्या रखा है ? ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ आदिक नाम रखे गए हैं क्या ? नही। और, ये नाम रखे भी गए तो जिस रूपमें ऋषभदेव अजितनाथ आदिकको पूजते हैं वह रूप नही है प्रभुका। लोग यों निरखते हैं कि ऋषभदेव नाभिराजाके लाल थे, इतने हाथके थे, ऐसे मूर्तिक आकार रूपमें नाम रखा गया है वह नाम नही है प्रभुका। तब फिर क्या नाम है, रखा हुआ ही बतावो ? प्रभु जो प्रकर्षरूपसे पूर्ण विकासके रूपसे भू मायने हो जाय जिसका पूर्ण विकास हो उसे कहते है प्रभु यह नाम रखा है अपने इष्टदेवका। ठीक है। बतावो परमात्मा परम अर्थात् उत्कृष्ट। उत्कृष्ट ज्ञान हो जिस आत्माका वह है परमात्मा क्या ऋषभ अजित कुछ भी नाम नही हैं ? हाँ ऋषभका अर्थ है वृषभ वृष मायने धर्म और भ मायने शोभित है। आत्माका धर्म जो ज्ञानानन्द स्वभाव है वह जिसमे पूर्णतया शोभित है वह ऋषभ। यह है प्रभुका नाम। लेकिन उस नाममे मरुदेवी नन्दन नाभिनन्दन और ५०० धनुष वाले यह मूर्तिकता नही नजर आयी। जो प्रभुका ठीक नाम बैठ रहा हो उसकी दृष्टि करो तो समझ लो यह है प्रभुका नाम

नामके द्वारा प्रभु-पूजाका प्रयोजन—हम लोग तो चौबीस नाम वाले भगवानोंकी भक्तिसे पूजा करते हैं क्यों करते हैं ? उसका कारण सुनो। जो भव्य आत्मा मुक्ति जानेको है वे किसी मनुष्य पर्यायमे ही तो मुक्ति जाते हैं। अब कोई भव्य आत्मा नाभिनन्दन, मरुदेवीनन्दन होकर मनुष्य पर्यायमे आये और उस मनुष्य पर्यायका नाम है ऋषभनाथ, अजितनाथ आदिक। इन नामों वाले भव्य तीर्थङ्कर हुए विशिष्ट पुण्यशाली हुए, इनकी वजहसे जैन शासनका प्रवर्तन हुआ। ये आत्मा चार

घातिया और चार अघातिया कर्मोंका नाशकर सिद्ध हुए। ये तीर्थङ्कर जब समव शरणमे भी विराजमान हुए उस समय भी भव्य जीव परमात्माका तब दर्शन कर पाता है जब नाम आकार, लम्बाई चौडाई, कान्ति आदियुक्त उस देहमे बसने वाले उस पवित्र आत्माका ध्यान करें। उस ध्यानमे क्या ध्यान होगा, तब परमात्माका दर्शन वहाँ भक्त कर पायगा। तो प्रभु है यह। ये कहा रहते है? प्रभुकी अवस्थाये दो प्रकारकी हैं। वे दो प्रकार मुक्ताविलेतन नही हैं, किन्तु पहिले तो अरहन्त अवस्थामे हैं और उसके पश्चात् सिद्ध अवस्थामे हैं। ये दोनो ही अवस्थाये परमात्माकी हैं। केवल अपने स्वरूपमे रहते हैं। अपने आत्म प्रदेशोमे रहते हैं। ऐसे तो हम भी अपने ही आत्म प्रदेशोमे रहते हैं। हम कहाँ बाहर रहते हैं? प्रत्येक पदार्थ अपने प्रदेशमे रहता है, कहीं बाहर नही रहता।

प्रभु–परिचय—प्रभुका कुछ और परिचय सुनो! ये परमात्मा ज्ञान उपयोग द्वारा भी अपने आत्मामे रहा करते हैं। ठीक है, पर कुछ बाहरी बात समझमे नही आयी कि कहाँ रहते हैं? उनका बाहरमे स्थान कुछ नही है। वे अपने परमौदारिक शरीरमे रहते हैं। और, सिद्ध भगवान लोकके अन्तपर जाते हैं सो लोकके शिखरपर विराजमान रहते हैं। और, ये क्या किया करते हैं? यह तो नाम और स्थानका परिचय है। ये परमात्मा अपने ज्ञान और आनन्दस्वभावका निरन्तर शुद्ध विलास किया करते हैं। यही उनकी रोजिगार है। न उनके भूख–प्यास है, न कोई रोग है, न कोई अन्य द्वंद-फंद है, संयोग मोह-ममता आदिक कोई विडम्बनाएँ भी वहाँ नही हैं केवल आत्मा आत्माका स्वरूप है। वह ज्ञान द्वारा समस्त विश्वको जानते रहते हैं और उसही ज्ञानसे स्वय अपने आत्माको और स्वरूपको भी बराबर जानते रहते हैं। यों स्व और पर प्रकाशक भानुकी तरह उनका ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है। तो इस कामके करनेसे उन्हे नफा क्या होता है? वे निरन्तर ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपको और समस्त विश्वको जानते रहते है। ऐसे पुरुषार्थका, रोजिगारका, परिणमनका फल क्या मिलता है उन्हे? फल उन्हे मिलता है अनन्त आनन्द। जहाँ केवल ज्ञाता द्रष्टा रूप परिणमन है। सर्व विश्वके ज्ञाता है पर किसी भी बाह्य पदार्थमे उनके मोह नहीं, रागद्वेष नही। अतएव वे प्रभु अनन्त आनन्दको भोगते रहते हैं।

प्रभु–पूजासे आत्मशासन　देखो! कुछ भी चीज जो आपको आज प्राप्त है कुछ भी सदा नही रहनेका। अकेले ही हैं, अकेले ही रहेंगे। जैसे कोई पुरुष पहिले निर्धन था, बीचमे दो चार वर्षको धनिक हो गया। फिर निर्धन हो गया तो जैसा था वैसा ही हो गया, ऐसे ही अकेले होकर भी आज बहुतोंके सगमे हैं पर अन्तमे फिर अकेलेके अकेले ही रह जायेंगे। यह जीव है तो अपने स्वभाव समृद्धिके कारण अनोखा अनुपम लेकिन अब तक यह गरीबी ही भोगता चला आ रहा है, परकी आशा, परतंत्रता रखता आ चला आ रहा है। अकेला ही आता है और कुछ दिनोको स्वप्नेको

देखकर फिर यह आगे अकेला ही जायगा। अकेला ही रहेगा। अतएव पायी हुई विभूतिमे वि वास मत करें कि यह मेरा हितरूप है या मेरा कुछ है। अपने ज्ञान स्व-रूपके निकट रहना यह प्रभु-पूजासे हमे शिक्षा मिलती है और इसके सम्बन्धसे ऐसी दृष्टि जगती है जिससे शान्ति मिले, यह लाभ है प्रभुका सम्बन्ध बनानेका।

ज्ञानमे सर्वसाधारणरूपसे स्वपरप्रकाशकताकी सिद्धि - परमात्मा ज्ञानस्वरूप है और वह ज्ञान स्वका भी प्रकाशक है परका भी प्रकाशक है स्वपर प्रकाशक है। जैसे प्रभुका ज्ञान स्वपर व्यवसायी है इस ही प्रकार समस्त आत्मावोका ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपनेको भी ज्ञानमे लिए रहे और उस ज्ञानका जो विषय होता है पर पदार्थ वह भी ज्ञानमे रहा करे। तब यहाँ शङ्काकारने जो यह अनुमान बनाया था कि ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है, क्योकि प्रमेय होनेसे। इस प्रमाणका अनुमानमे परमात्माके ज्ञानसे अने-कान्त होता है अर्थात् प्रभुका ज्ञान भी प्रमेय है और स्वय अपने आपके ज्ञानसे जाना जाता है। इसपर शङ्काकार यह कहता है कि हम लोगोकी अपेक्षासे यह बात ठीक सिद्ध हुई है कि ज्ञान अन्य ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। ईश्वरके ज्ञानकी बात नही कह रहे हैं, प्रमेय होनेसे। हम लोगोके ज्ञान खुद अपने आपको नही जानते किन्तु ज्ञानकी जानकारी करनेके लिये नया ज्ञान उत्पन्न करना होता है तब ज्ञानकी जानकारी बनती है ऐसा शङ्काकार कह रहा है। उत्तरमे आचार्यदेव कहते हैं कि यह तो सिर्फ ज्ञान ज्ञानकी बात चल रही है, चाहे ईश्वरका ज्ञान हो, चाहे ससारी जीवोका ज्ञान हो, जिस तत्त्वमे जो स्वभाव होता है वह तो वहाँ रहता ही है। हम लोगोका ज्ञान हो अथवा प्रभुका ज्ञान हो, समस्त ही ज्ञान स्वपरव्यवसायी हुआ करते है। यह कहना तुम्हारा युक्त नही है कि भाई ईश्वर तो एक विशिष्ट आत्मा है, वह सारे विश्वको जानता है और अपने आपके स्वरूपका भी निर्णय रखता है, और हम आप ससारी लोगोको ज्ञान अपने आपके स्वरूपका निर्णय नही रखता है। केवल परको ही जानता है, यह दो दुधाबात नही कह सकते क्योकि वह तो स्वभावके अवलम्बनकी बात है। स्वपरका प्रकाशक यह ज्ञान सामान्यका स्वभाव है। कोई विशिष्ट ज्ञानका स्वभाव नही है कि ईश्वरका ज्ञान तो स्वपरप्रकाशक हो और हम लोगोका ज्ञान केवल परप्रकाशक हो।

दृष्टान्तपूर्वक सर्वसाधारणरूपसे ज्ञानमे स्वपरप्रकाशकताकी सिद्धि— जैसे जो तेजस्वी चीज है उसका स्वभाव है यह कि स्व और परको प्रकाशित करदे। चाहे वह प्रदीप हो, चाहे वह सूर्य हो, ऐसा तो नही है कि सूर्यमे तो दो स्वभाव हो कि अपने आपका भी प्रकाश करे और परका भी प्रकाश करे दीपकमे एक ही बात हो, केवल परको प्रकाश करे। हाँ, विकासमे अन्तर है। दीपकका विकास थोडे क्षेत्रमे है, सूर्यका प्रकाश बहुत क्षेत्रमे है, ऐसे ही प्रभुका ज्ञान सारे विश्वका जाननहार है और

हम आप ससारी लोगोका ज्ञान कुछ क्षेत्रका जाननहार है। लेकिन ज्ञानमे जो स्वभाव है वह तो सर्वत्र एकरूप है। चाहे प्रभुका ज्ञान हो चाहे ससारियोका ज्ञान हो यदि केवल सूर्यमे स्वपरप्रकाशकता पाये जानेसे प्रदीपमे स्वपरप्रकाशकता कोई न माने तो वह अनुचित बात है। इसी प्रकार प्रभुमे स्वपरप्रकाशकता होनेसे यहाँ भी स्वपर-प्रकाशकताकी सिद्धि होती है। यदि कोई शङ्काकार यह कहे कि प्रभुके ज्ञानकी तरह यदि हम लोगोंके ज्ञानमे भी स्वपरप्रकाशका स्वभाव आ जाय तो प्रभुकी तरह सारे विश्वका ज्ञान कर लेना चाहिये, सभीको सर्वज्ञ हो जाना चाहिए। तो इसका पल्टा तो दीपक और सूर्यमें भी घटित होता है। सूर्यकी तरह दीपक भी स्वपरप्रकाशक है, तो सूर्यकी ही तरह बहुत विस्तृत क्षेत्रमे दीपक प्रकाश कर बैठे तो वहाँ योग्यताकी बात मानते हो कि दीपकमे इतनी ही योग्यता है कि कमरेभरमे प्रकाश करे और सूर्य मे इतनी योग्यता है कि वह लाख योजनके क्षेत्रमे प्रकाश करे तो इसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना कि ससारी जीवोके ज्ञानमे इतनी योग्यता है कि वह थोडेसे क्षेत्रमे प्रकाश करे और प्रभुके ज्ञानमे ऐसी योग्यता है कि वह योजनोके विस्तारमे प्रकाश करे। इससे ऐसा ही मानें कि सभी ज्ञान स्वपरप्रकाशक होते हैं। जैसे कि प्रभुका ज्ञान स्वपरप्रकाशक होता क्योकि ज्ञान होने से। अथवा व्यवधान न रखकर पदार्थका प्रकाशक होनेसे ज्ञान स्वपरव्यवसायी है। इन्द्रियाँ पदार्थके ज्ञानमे कारण तो होती हैं पर व्यवधानरहित होकर नहीं। अर्थात् ज्ञानका तो पदार्थोंके जाननेमे साक्षात् सम्बन्ध है और इन चक्षु आदिक इन्द्रियोका पदार्थोंकी जानकारीसे साक्षात् सम्बन्ध नही है किन्तु जाननेवाले ज्ञानकी उत्पत्तिमे निमित्त है। अत पदार्थकी जानकारीमे इन्द्रिय तो व्यवहित कहलाती है और ज्ञान व्यवहित नही है, ज्ञान स्वपरप्रकाशक है क्योकि ये अर्थ ग्रहण आदिक पदार्थके जाननहाररूप हैं। जो स्वपरव्यवसायी न हो वह न साक्षात् जाननहार बन सकता न पदार्थका ग्रहण करने वाला बन सकता। जैसे महेश्वरका ज्ञान स्वपरव्यवसायी है इसी प्रकार हमारा भी ज्ञान स्वपरव्यवसायी है। ज्ञान प्रमाण है और ऐसा ज्ञान प्रमाण है जो स्वका भी निर्णय रखता और पर पदार्थका भी निर्णय रखता है।

ज्ञानमे अन्य ज्ञान सविदितताकी असिद्धि – ज्ञानको स्वत निर्णय न मानकर किसी अन्य ज्ञानके द्वारा यह ज्ञान जाननेमे आता है, इसमे जो प्रमेयत्व हेतु दिया वह आश्रयसिद्ध हेतु है अर्थात् पहिले ज्ञानको सिद्ध कर लें कि ज्ञान कुछ है फिर विशेषता सिद्ध करनेके लिये हेतु दें। जैसे यह पर्वत तो हो नहीं सामने लेकिन कह दिया कि इस पर्वतमे आग है क्योकि धुवा होनेसे। तो भाई जो आश्रय है वह तो है ही नही और व्यर्थकी कल्पना बनाते हो इसे कहते हैं आश्रयसिद्ध। इसी प्रकार जो दार्शनिक ज्ञानको स्वपर प्रकाशक न मानेंगे वे ज्ञानकी सत्ता भी सिद्ध नही कर सकते कि ज्ञान है कुछ। एक थोडा सा समझका अन्तर रहा। शङ्काकारका प्रयोजन यह है कि जैसे हमने जाना कि यह घडी है। तो घडी तो जान ली पर जिस ज्ञानके द्वारा

है। आकुलताएँ वाह्य पदार्थों के राग मे उत्पन्न होती है, वे सब तो पर ही है, भिन्न ही हैं और उनसे यह भिन्न आत्मा रख रहा है प्रीति।

ज्ञानवृत्तिके यथार्थ निर्णय विना हितकी सिद्धिका अभाव—अहो चाहता तो यह है प्राणी कि इस परका सम्बन्ध सदैव रहे। ये पर पदार्थ जैसा मैं चाहूँ वैसा परिणमे। पर यह बात कभी हो सकती है नही। तो अनुकूल परिणमन न होनेसे यह जीव दुखी होता है आकुलित होता है। यह मोही प्राणी चाहता है कि मेरे इष्टका सम्बन्ध सदैव रहे किन्तु रह सकता नही, वस्तु स्वरूपका ऐसा ही नियम है। तब यह जीव आकुलता ही तो मचादेगा। दूसरा कारण यह है कि यह चाहता है कि परपदार्थ मेरे इष्ट मित्र आदिक या अन्य अन्य भी लोग जैसा मैं चाहूँ वैसा ये करें, वैसा ही परिणमें, यह भी वात अपने आधीन नही है, क्योकि समस्त परपदार्थो का स्वरूप चतुष्टय मेरे स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न है अतएव मेरे चाहनेके अनुसार पर-पदार्थोंका परिणमन हो नही सकता, इस कारण भी यह जीव विह्वलता मचाता है लेकिन एक स्वरूपदृष्टिकी औपधि स्वरूप दर्शनके अमृतकी घूट पी लीजिए मैं मैं ही हूँ, जितनेमे अनुभव जगा उतना ही मात्र मैं हूँ जो यह ज्योति वनी, जो यह ज्ञान प्रकाश उठ गया उतना ही मात्र मैं हूँ, मेरा काम भी जो यह ज्ञान वृत्ति वनी उतना ही मात्र है, ऐसा अपने आपके स्वरूपका निर्णय वने और यहाँ ही मग्नता हो तो सारे सकट एक साथ दूर हो जाते है। मेरे उपयोगमे अन्य पदार्थ नही है तो दुखोंके दूर करनेका यह एकत्व दर्शन उपाय है, लेकिन जैसे कोई खूनके दागको खूनसे ही धोने लगे तो वह दाग धुल नही सकता इसी तरह परकी दृष्टि रखनेसे उत्पन्न हुई वेदनाको मिटानेके लिये परका ही सहारा चाहे तो उसकी वेदना मिट नही सकती। होता भी क्या है यहाँ ?

अन्तर्वृत्तिका वर्णन—जैसे समुद्रमे लहर उठती है तो वह लहर क्या किसी अन्य चीजपे वनी हुई है ? अरे समुद्रमे एक ऐसा रूप वन गया कि हवाका निमित्त पाकर वह जल लहर रूप वन गया। जलको छोड़कर अन्य कुछ वह नही है। कुछ ही समय वादमे वही समुद्र शान्त हो जाता है। तो मामूली हवा भी उसे विचलित नही कर सकती। वह जो स्थिर शान्तरूप है वह समुद्रकी ही एक अनवस्था है अन्य चीज कुछ नही है। हाँ, उसमे निमित्त यह रहा कि हवा भी न चली। हवाके न चलनेका निमित्त पाकर समुद्र शान्त और स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार जो दुख सुख आदिक वेदन हो रहे हैं वे सब क्या हैं ? वे भी ज्ञानकी लहरें हैं, आत्माकी तरग हैं और वे उत्पन्न हुई हैं उपाधि भावकर्मके सम्बन्धसे। तो उपाधि और भावकर्मका सम्बन्ध न रहे तो आत्मा स्वय शान्त स्थिर गम्भीर हो जाता है। ज्ञान सभी स्थितियों मे चाहे वह शान्त गम्भीर वने तो भी स्वपरप्रकाशक है और जवकि क्षोभसहित तरग सहित सुख दुख आदिक वेदन सहित वन रहा है आत्मा उस समय भी ज्ञान स्वपर-

प्रकाशक है। सुख दुःख हो जाय और उस सुखको यह ग्रहण न करे तो सुखका अनुभव क्या? दुःख उत्पन्न हो जाय और उसे यह ज्ञान ग्रहण न करे तो दुःखका अनुभव क्या? ऐसे ही जानकारी तो बन जाय और उस जानकारीको ज्ञान ग्रहण न करे तो जानकारी भी क्या? यह आत्मा स्वपरप्रकाशक है, तब ज्ञान दर्शनकी व्यवस्था बनती है। ज्ञान स्वपरव्यवसायी है, केवल वह परको ही जाने ऐसी बात नहीं है वही ज्ञान प्रमाण है जो स्वपरव्यवसायी हो।

ज्ञानकी स्वपरव्यवसायिताका शङ्कासमाधानपूर्वक समर्थन—जो यह कहा था शङ्काकारने कि ज्ञान ज्ञानको कैसे जान लेगा? किसी पदार्थमें अपने आपमें कोई क्रिया नहीं होती। जैसे तीक्ष्ण भी तलवार हो तो क्या वह अपने आपके भी टुकडे कर सकती। ऐसे ही कितना ही निपुण नटका बालक हो पर वह अपने आप कंधेपर चढ जाय रस्सीपर जैसा सो यह नहीं हो सकता। तो जैसे यहाँ उसकी क्रिया उसमें खुदमें नहीं होती ऐसे ही ज्ञानकी क्रिया जानकारी ज्ञानमें खुदमें नहीं होती। यह दृष्टान्त दिया था शङ्काकारने लेकिन यह बात विरुद्ध है। प्रथम तो सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक पदार्थका अपने आपके स्वरूपमें भी व्यापार होता है। अपने आपमें ही ही अपनी क्रिया होती है। प्रथम तो तथ्य यह है, और फिर दूसरी बात यह है कि जाननका काम और तलवार तलवारके टुकडे कर दे ये काम भिन्न प्रकारके है। जानन तो केवल एक प्रकाशभावका ही काम है। वह तो अपने आपमें है। अपने आपका स्वयं प्रकाश कर लेगा। यह बाहरी दृष्टान्त है। तो यह कहना कि पदार्थका स्वात्मामें विरोध है, क्रिया नहीं कर सकते यह बात ठीक नहीं है, बल्कि यह युक्त है कि प्रत्येक पदार्थकी क्रिया स्वयंमें ही हुआ करती है। किसी पदार्थकी क्रिया दूसरेमें नहीं होती। यह तो व्यवहार कथन है कि तलवारने अमुकका शिर काट डाला। पर ऐसी बात नहीं है। तलवारमें तलवारकी सारी क्रियायें हुई। तलवारसे बाहर नहीं हुई। यह वस्तु स्वरूपकी दृष्टिसे कहा जा रहा है। अपने आपमें ही पदार्थकी क्रिया हुआ करती है। इसी प्रकार ज्ञानकी क्रिया है जानन। वह जानन ज्ञानमें ही होता रहता है परपदार्थोंमें नहीं हो रहा है। जैसे कोई पुरुष किसी भी पर आत्मासे प्रीति कभी कर ही नहीं सकता। कर रहा है वह अपने ही प्रदेशोंमें भावोंकी प्रीति। किन्तु, उस प्रीतिका विषयपर बना, उस परका उपचार करके कहते हैं कि इसने अमुक पुरुषमें प्रीति की। इसी प्रकार ज्ञान भी परपदार्थका नहीं होता ज्ञान भी अपने आपके प्रदेशोंमें ही चलता है। परके जाननेमें जो परपदार्थ विषय हुए उपचारसे हम कहा करते हैं कि ज्ञानसे चौकीको जाना। और ज्ञान स्वका ही निर्णायक है और उपचारमें परका निर्णायक है यों ज्ञान स्वपरव्यवसायी होता है, वह ज्ञान प्रमाण है और इस ही प्रमाणके बारेमें आगे बहुत विस्तारसे वर्णन होगा जिससे हम आप निर्णय कर सकेंगे कि अमुक सिद्धान्त सदोष है और अमुक सिद्धान्त निर्दोष है। इस प्रकरणमें ज्ञानको स्वपरनिर्णायक सिद्ध किया गया है।

क्रियावानमे क्रियाके स्वरूपका अविरोध –ज्ञान होता तो है स्वपरप्रकाशक अर्थात् अपने आपके स्वरूपका भी भान रहता है और बाह्य पदार्थोंका भी ज्ञान करता है किन्तु इसके विरोधमे एक दार्शनिकने यह पक्ष रखा था कि ज्ञान खुदको नही जान सकता। ज्ञानके स्वरूपको जाननेके लिए अन्य ज्ञान बनाने पडते हैं क्योकि किसी भी पदार्थका अपने आपमे क्रियाका विरोध होता है। जैसे कुल्हाडी अपने आपको नहीं काट पाती है। बहुत सीखा हुआ भी नटका लडका अपने कंधेपर चढ नही सकता। ऐसे ही ज्ञान भी अपनी जाननेकी क्रियाको अपने आपमे नही लगा सकता। स्वात्मामे क्रियाका विरोध है यह पक्ष रखा था। उसके समाधानमे उनसे पूछा जा रहा है कि क्रियाकी जो स्वात्मा है क्रियाका जो रूप है और जिसमे होती है क्रियाका स्वरूप क्या निज आत्मा है या क्रियावान आत्मा है ? यदि क्रियाका स्वरूप क्रियाका स्वात्मा है तो फिर क्रियाके स्वरूपका खुदमे विरोध कहाँ ? स्वरूपका तो खुद द्रव्य विराधक नही होता। जैसे जीवका स्वरूप ज्ञान है तो क्या ज्ञानका जीवमे विरोध हो सकता है ? नही। इसी तरह क्रियाका स्वात्मा क्रियाका स्वरूप ही है। तो क्रियाके स्वरूपका क्रियाके स्वात्मामे क्या विरोध हो सकता है ? न हो सकेगा। यदि अपने आपका अपने आपके स्वरूपमे विरोध हो जाय तो समस्त पदार्थ स्वरूपरहित हो जायेंगे और विरोध तो दोमे हुआ करता है। क्रियाका जो स्वरूप है, क्रियाका जो स्वात्मा है वह तो दो नही है। तो विरोध कैसे ? जाननेका विरोध खुदमे नही हो सकता। यदि क्रियावान आत्मा क्रियाका स्वात्मा है तो ठीक ही है। क्रियावान खुद हुआ, खुदमे उसकी प्रतीति हो जायगी नही तो समस्त द्रव्य क्रियासे रहित हो जायेंगे किन्तु ऐसा तो नही है। सबकी क्रिया अपने आपमे प्रकट हो रही है। तो जो जाननेकी क्रिया हो रही है आत्मामे वह जाननका काम खुदमे भी चल रहा है और परपदार्थके जाननेका भी चल रहा है। कर्म भी जाननेमे आ रहा, कर्ता भी जाननेमे आ रहा। सब अपने अपने रूपसे जाननेमे आ रहे।

जाननके प्रसङ्गमे कर्ता कर्म करण व क्रियाकी प्रतीति—मैं ज्ञानके द्वारा चौकीको जानता हूँ इस प्रयोगमे जो चार बातें आयी मैं, चौकीको, ज्ञानके द्वारा जानता हूँ, उन चारकी बराबर समझ बन रही है। तो चारो ही प्रत्यक्षमे आ रहे है अतएव जाननेका ज्ञानमे अविरोध हुआ। ज्ञान स्वको भी और परको भी जानता है। जाननेकी क्रियाका खुदमे विरोध नही होता और वहा तो कुल्हाडीकी क्रिया कुल्हाडीमे हो रही है, यह तो विचारसे मानोगे कि कुल्हाडीकी क्रिया कुल्हाडीमे ही होती है। सभी पदार्थोंका परिणमन उनका उनमे होता है। यह तो लोग मोटी दृष्टिसे कहते हैं चाकूने पेन्सिलको छीलनेका काम किया परन्तु तथ्य यह है कि चाकूने अपने आपमें हलन चलनका काम किया। अब उस हलन चलनमें चाकूका सम्बन्ध पाकर पेन्सिल भी छिल गयी पर चाकूने पेन्सिलमे कुछ नहीं किया। यही बात सब जगह है। लोग कहते हैं कि हमने मकान बनाया अरे तुमने तो केवल भाव बनाया विकल्प किया,

इच्छाकी योग किया, ईंट आदिकका सम्बन्ध जोडा, वे पुद्गल हैं पुद्गलसे चेतन त्रिकाल भी नही बन सकता। लोग कहते हैं कि मैंने इस लडकेको खूब पढाया और घर गृहस्थी बना दी, पर उस पुरुषने कुछ भी नही किया सिर्फ अपना भाव किया, विकल्प किया योग किया प्रत्येक पदार्थ अपने आपमे ही अपने आपका काम कर पाता है। यह श्रद्धा जिस दिन हो जायगी समझ लो हमको स्वपरदृष्टि प्राप्त है जो मोक्षके मार्गमे ले जाने वाली है, उस दिन समझिये कि हमारा कल्याण हुआ। जब यह दृष्टि जम जायगी कि मेरा काम मेरा सर्वस्व मेरा स्वरूप मेरा कर्तव्य, मेरी कला, मेरी करतूत सब कुछ मुझमे ही है। मुझसे बाहर मेरा कुछ तत्त्व नही है। इसी प्रकार दुनिय के समस्त जीवोका और चेतन अचेतनका सबका सब कुछ उस ही पदार्थमे है उससे बाहर नही है। यही श्रद्धा अमृत है। इस अमृतका जो पान करता है वह अमर हो जाता है।

अमृतस्वरूप -- लोग कहते हैं कि अमृतका पान करनेसे लोग अमर हो जाते हैं। तो वह बात बिल्कुल सही है। मिले तो कभी अमृत। और, पान करनेका ढग भी है, यो ही मुहसे वह अमृत नही पिया जाता, उसके पीनेका ढग निराला है और कोई उस अमृतको पी ले तो अमर हो जाता है। अच्छा ढूढो अभी मिल जायगा कही बाहर भी न जाना पडेगा। अमृतका अर्थ है 'न मृत इति अमृत'--जो कभी मरे नही वह अमृत है। जो अमृत फल खा लिया जाय अथवा पी लिया जाय वह यदि खुद नष्ट हो गया, खुद मर गया तो दूसरेको अमर क्या करेगा ? तो जो अमर चीज है उसे ढूढो। कौनसा वस्तु पदार्थ तत्त्व है जो नष्ट नही होता ? ऐसा तो समस्त पदार्थोंका सहज स्वरूप है। वह कभी नष्ट नही होता। पुद्गल परमाणुमे जो मेरा स्वरूप है वह भी अमृत है। वह भी मरता नही है। धर्म आदिक समस्त पदार्थोंमे जो स्वरूप बसा है वह भी अमृत है, वह भी नष्ट नही होता, लेकिन उसका मिलना बडा कठिन है, किसी दूसरे पदार्थका स्वरूप हमे मिल कैसे जायगा पान करनेके लिये? तो छोडो, वह अमृत नही मिलता न मिलने दो और उनकी चाह भी न करो, पर अपने आपमे जो अमृत तत्त्व है वह तो खुदको मिला हुआ है। उसको तो खोज भी नही करता, वह तो सब अपने आपमे है। वह क्या ? अपने आत्माका सहज स्वरूप, ज्ञानस्वरूप। जो अपने आपके सत्त्वके कारण अपने आपमे धर्म है वह अमृत है ना खुदके पास। हाँ हाँ है तो सही। हमारे पास भी यह अमृत तत्त्व है। अच्छा अमृत तो मिल गया, अब जरा पान करनेकी तरकीब बतावो। वह तो मुहसे पिया भी नही जाता। पान क्या करें। उसके पानकी तरकीब व्यवहारमे तो यह है कि अजुली से पी ले। देखो बर्तनमे पानी पीने की अपेक्षा यदि अजुलिमे पानी पिया जाता तो उसका स्वाद कुछ विशेष होता है। बर्तनमे तो कुछ खराब भी हो सकता है, अजुली मे नही खराब होता है। तो अमृत पीनेके लिये भी अजुली चाहिए मगर हाथकी अजली न चाहिए। कान अजुलीमे फिर ज्ञान अञ्जुलीसे उस अमृत तत्त्वको पी ले।

अमृतका स्थान और पान—वह अमृत तत्त्व है ज्ञानस्वरूप, जिसकी चर्चा इस प्रकरणमे चल रही है। जो स्वपरप्रकाशक है उस स्वपरप्रकाशक ज्ञानतत्त्वको वाणीरूपी अञ्जुलीसे पी लीजिये। लो यह तो पहिली विधि बतायी व्यवहारकी। अब उस अमृत ज्ञानतत्त्वको कहाँ ले जायें, किस कोठेमे रखे ? तो अभी तो अञ्जुलीका ही काम किया है, उसे अब उपयोगकी गलीसे ले जाइये और रखिये कहाँ ? बस जहाँ यह अमृत तत्त्व है वहीसे पीनेके लिए उठायें और उसीमे रख लें। इतना सीधा सरल काम है अमृत तत्त्व पीनेका और अमर होनेका। अच्छा लो उस ज्ञानस्वरूपको हम ज्ञानोपयोगमे ले जाये, उसे पी लें, अब हम अमर हो गए ? हाँ हो गए। क्या यह शरीर मिटेगा नही ? अरे शरीरकी अभी कहाँ बात कर रहे। अरे देख लो, उस अमृत ज्ञानतत्त्वको पीनेसे अर्थात् अनुभव करनेसे खुदने जो दिखा, स्वयमे जो अनुभव जगा उससे यह विदित होगा ना, कि यह मैं जो आत्मा हूँ सो अमर हूँ, कभी नष्ट होने वाला नही हूँ। तो पूछने वाला पूछ सकता है कि अमर कहाँ बनाया ? अमर था उसे बता दिया, अमर बनाया नही। बनाना उसे कहते हैं कि पहले अमर न हो और पीछे अमर बना हो। वह आत्मपदार्थ तो अमर था, अब उसे बना दिया गया कि यह अमर है। अमरके भूलसे हम मरे मरे चिल्ला रहे थे, मरे मरे समझ रहे थे लेकिन ज्ञान ज्योतिमे अपने आपको अमृत मानना होगा। तो यह है अमृत तत्त्व, जिसका पान करनेसे अमर हो जाता है।

ज्ञानकी जाननक्रिया और उसका ज्ञानमे अविरोध वह अमृत तत्त्व, वह ज्ञानस्वरूप स्वका भी और परका भी प्रकाशक है। ज्ञानकी क्रिया जाननेकी है। उस जाननका इस ज्ञानस्वरूपमे भी विरोध नही है। यदि ज्ञानकी क्रियाका विरोध बताते हो तो यह बताओ कि उस क्रियाका अर्थ क्या है ? जिसके ज्ञानमे विरोध बताते। क्या वह क्रिया तपनरूप है ? कुछ उत्पन्न हुआ इसे भी क्रिया कहते। क्या वह क्रिया परिस्पदरूप है ? क्या वह क्रिया धातुके अर्थरूप है ? गमली धातुका अर्थ है जाना। क्या करना धातुके अर्थरूप है अथवा जाननरूप है ? यदि क्रियारूप मानते हो तो रहो विरोध उसका। पर यहाँ उत्पन्न क्रिया तो नही है ज्ञानमे। ज्ञान अपने आत्माको उत्पन्न नहीं करता किन्तु ज्ञान छद्मस्थ अवस्थामे उत्पन्न होता है। तो अपनी सामग्री विशेपके वशमे हुआ खुदकी खुदमें उत्पत्तिकी क्रिया नही की जाती है।

परिस्पदका ज्ञानस्वरूपसे पार्थक्य यदि कहो कि हलन चलन रूप क्रिया मानते हैं हम तो उसका विरोध क्या ? वह तो द्रव्यकी परिणति है। ज्ञानमे उसका सत्त्व नहीं है। ज्ञानमे हलन चलन होता है तो आत्मामे हलन चलन हो जायगा पर ज्ञानमे हलन चलन नहीं होता। ज्ञान तो एक भाव है; आत्मतत्त्व है। जैसे इस चौकी को चार हाथ दूर सरका दिया। तो बतावो कि चौकी हिली या चौकीका रूप हिला? दो बातें पूछी जा रही हैं। चौकीको उठाकर यदि फेंक दिया तो उसमे जो हलन चलन

हुआ वह चौकीमे हुआ या चौकीके रूपमे हुआ । चौकीमे और रूपमे गुण गुणीका अन्तर है । हलन चलन चौकीमे हुआ, रूपमे नही हुआ । अरे हरे ढङ्गसे हलन चलन क्रिया तो हरा अपनेमे हल रहा क्या ? प्रदेशमे हलन चलन है तो उसमे वह हलन चलन प्रदेशमे बाहर गया क्या ? यहाँ पीठ हिल गयी पर आत्माका जो ज्ञानभाव है उस ज्ञानभावमे हलन चलन नही होता ।

धातुरूप क्रियाका भी स्वमे अविरोध—यदि कहो कि धातुके अर्थरूप क्रिया है तो भी वहाँ विरोध नही । भवति मायने होता है तो होता है का खुदमे विरोध है क्या ? तिष्ठति मायने बैठता है तो उसका खुदमे विरोध है क्या ? यदि कहो कि जाननरूप क्रिया हम मानेंगे तो उसका विरोध तो है ही नही कि जानन क्रियाका जाननसे विरोध हो जाय । स्वरूपसे विरोध किसीका भी नही होता अन्यथा दीपकका भी अपने आपके स्वरूपके प्रकाश करनेसे विरोध हो जायगा । तब फिर दीपकको ढूढनेके लिये और दीपक तलासें । व्यवस्था ही कुछ न बनेगी । अपने कारण कलापसे वह दीपक स्वय ही है और परका प्रकाश करे इस रूपमे उत्पन्न होता है ऐसी ही ज्ञानकी बात है । ज्ञान भी अपने कारण कलापोसे क्षयोपशमसे, उपयोगसे स्वय ही स्वयका प्रकाश करता हुआ प्रकट होता है । ज्ञान स्वपरव्यवसायी है और वह ज्ञान सत्य है, अमर किया करता है, यह ज्ञानमात्र परका प्रकाश करे और खुदको कुछ न समझे तो वह ज्ञान कुछ जान ही नही सकता । अब इस प्रसङ्ग शङ्काकार यह बात रख रहा है कि ज्ञान क्रियाका तो साक्षात्मे कर्मरूपसे विरोध है । कैसे ? जैसे यह जाना कि मैं ज्ञानके द्वारा घडेको जानता हूँ । तो इसका कर्म क्या है बतलावो । घडेको । कर्ता कम क्रिया आदिक जानते तो होगे ? मैं कर्ता हूँ, घडेको जानता हूँ इसमे घडको "यह कर्म है ज्ञानके द्वारा यह करण है, जानता हूँ यह क्रिया है । तो जाननेका कर्मरूपसे विरोध है इस कारण ज्ञान नही बनता यह कहना भी ठीक है । यो तो दीपकका भी अपने आपमे प्रकाशका विरोध हो जायगा । समस्त पदार्थ अपना अपना स्वरूप रख रहे हैं । जिसका जो स्वरूप है वह उसमे पाया जाता है । ज्ञानका स्वरूप है कि स्वपरको प्रकाशित करता रहे, जानता रहे । किसी भी प्रकारका विरोध नही है । ज्ञान स्वय एक जाननरूप है, और जाननरूप जो गुण है वह जानेगा । जो कुछ भी जानन स्वरूपको जानता हो सबको जानेगा । जो खुदको नही जान सकता वह परको भी नही जान कर सकता । जो स्वय ज्योति स्वरूप है वह दूसरेका भी प्रकाश कर सकेगा ।

ज्ञानकी स्वव्यवसायिताका सतोष—ज्ञान स्वपरव्यवसायी है उसमे किसी भी एकका निराकरण नही किया जा सकता । यह बात जरा अपने अनुभवसे विचार लें । हम जितना जो कुछ भी जाना करते हैं, जानते जाते हैं और अन्तरमे भीतरमे सतोप होता जाता है वह सतोप अपने आपके जाननका पता है इसलिए हो रहा है ।

चौकी आदिक पदार्थोंका तो पता रहता है, और जो जानन बन रहा है भीतरमे उसका पता न हो तो सतोष कहांसे आयगा ? खुदमे उस प्रकारका जानन चलता रहे उसका सतोष है, अनुग्रह है। देखो कोई पदार्थ घातक है, सांप प्राणघातका कारण है और जरा सांपका हो गया हमे ज्ञान तो देखिये सांपसे तो हम हट गए। देखो कैसी कैसी बातें बन रही हैं। इष्ट पदार्थका ज्ञान होगा तो उससे भीतरमे सतोष झरेगा और अनिष्ट पदार्थका ज्ञान होगा तो उसमे भी भीतरमे सतोष जगेगा। यदि अनिष्ट पदार्थके ज्ञानमे भीतरमे अनुग्रह न बने तो जो काम अपने भलेके लिए करना चाहिए था अर्थात् उस अनिष्टमे हटना चाहिए था उससे नहीं हट सकेंगे। तो ज्ञान जीवका स्वरूप है और जैसा जो कुछ है वैसा ज्ञान होता है तो चूंकि यह ज्ञान खुदको भी समझता है अतएव बराबर सतोष चलता जाता है। बाह्य वैभवके विकल्पमें इस जीव को कल्याण न मिलेगा और अपने आपके विशुद्ध ज्ञानस्वरूपकी महिमा जाननेमे कल्याण मिलेगा। अपने आपको जान लो जिस विधिसे भी बने, चाहे तन, मन, धन वचन सर्वस्व समर्पित हो जाय फिर भी यदि एक अपने स्वात्मस्वरूपका दर्शन पा लिया तो समझिये कि अब मैंने पाया जो कुछ समृद्धि थी। इसमे पहिले लौकिक वैभव कितना भी मिला हो लेकिन पाया कुछ नही। यह मेरा स्वरूपज्ञान स्वको भी प्रकाशित करता और परको भी प्रकाशित करता ऐसे ज्ञानका ज्ञान करें यह सच्ची अनुभूति है और इसीमे ही सम्यक्त्व बसा हुआ रहता है।

ज्ञानके स्वपरव्यवसायित्वकी अप्रतिषेध्यता ज्ञानको प्रत्यक्ष न मानने वाले दार्शनिक अपना यह पक्ष रख रहे है कि ज्ञान ज्ञानको स्वय नही जानता, क्योंकि ज्ञानकी क्रिया है जानन क्रिया और क्रियाका करणपर प्रभाव नही हुआ करता। क्रिया का प्रयोग परपदार्थपर होता है जैसे कुल्हाडीका प्रयोग काठपर हुआ काठ छिद गया तो छेदन क्रियाका जो करण है उस करणका प्रयोग न होगा अर्थात् कुल्हाडी न कट जायगी परपदार्थ कटेगा, इसी प्रकार ज्ञानकी क्रिया है जानन क्रिया, उसका कारण है ज्ञान तो जानन क्रियाका प्रयोग, करण हम अपने ज्ञानपर न होगा उसका प्रभाव सब परपदार्थोंपर होगा। इस पक्षपर बहुत कुछ तो उत्तर दिये जा चुके। अब यह बतला रहे हैं कि भाई यदि एक जगह कोई बात देखी गयी तो उस ही प्रकार सबको मान लिये जायेंगे इसमे विडम्बना बनेगी। जैसे छेदन क्रियाका प्रयोग, छेदन क्रियाका कारण जो कुल्हाडी है उसपर नही होता ऐसे ही जानन क्रियाका करण जो ज्ञान है उसपर नही होता यो माना जाय तो घडेमे न प्रभा है न चमक है तो प्रदीपमे भी कह लो कि न प्रभा है न चमक है। अथवा किसी रास्तागीरमे सर्वज्ञता नही है तो यह भी कह लो कि प्रभुके भी सर्वज्ञता नही है। शायद यह कहो कि वस्तुकी विचित्रता ऐसी है कि रास्तागीर पुरुषके तो सवज्ञता नही है पर प्रभुमे सर्वज्ञपना है। तो यह बात ज्ञानके साथ जोड लो। छेदन क्रियामे तो उसका करण स्वय नही छिदता लेकिन जानन क्रियामे तो उसका ज्ञान स्वय जान लिया जाता है। ज्ञान स्वपरव्य-

गयी है। उसका स्वपरव्यवसायी होनेसे निषेध नही किया जा सकता।

ज्ञानमे जानन क्रियाके अविरोधकी पुन साधना– अच्छा जानन क्रिया का कर्मसे विरोध है तो क्या अन्य ज्ञानकी अपेक्षा विरोध है या स्वरूपकी अपेक्षा। यदि अन्य ज्ञानकी अपेक्षा विरोध कहो तो महेश्वरके ज्ञानसे हमारा ज्ञान नही जाना जा रहा तो वह सर्वज्ञ नही रहे। अनेकान्त हो गया और स्वरूपकी अपेक्षा कहा तो स्वरूपमे तो विरोध है नही। ज्ञान एक ऐसा ही विलक्षण भाव है कि वह स्वयको जानता रहता है। कोई भी बात आप सुनते है, समझते है, जानते है तो बात भी जानते हैं और जाननेकी जो प्रक्रिया है, पद्धति है, जानन है वह भी सब समझमे आ रहा है। ज्ञान स्वयको समझता हुआ पर पदार्थोंको समझा करता है। ज्ञान स्व और परका दोनोका व्यवसायक है। ज्ञानमे यह भी खूबी है कि समस्त पदार्थोंको एक साथ जान ले, आवरण होनेसे समस्त पदार्थोंको एक साथ जान ले। आवरण होनेसे हम ज्ञानके द्वारा वहुतमे पदार्थोको एक साथ नही जान पाते। लेकिन सामर्थ्य हममे सब पदार्थोंको एक साथ जाननेकी है। इतना भी क्रमका नियम नही है स्वभावमे कि जैसे सुईसे ५० पान बडी तेजीमे छेद देनेमे होता। ज्ञानके द्वारा हम एक साथ स्पष्ट अनेक पदार्थोंको जान लेते है। हा जब तक आवरण है तब तक उसमे क्रम बना है लेकिन उस क्रमके अन्दर भी जितनी हमारी योग्यता है उसके माफिक तो हम सब को एक साथ जान लेते है। गेहूँका ढेर लगा है तो उसमे अरबोकी सख्यामे गेहूँके दाने होगे तो हम उन समस्त गेहूँवोको एक साथ जान रहे कि नही जान रहे ? ऐसा तो नही है कि अब एक दानेको जाना अब दूसरेको अब तीसरे आदिको। एक जगह देखी गई बात सब जगह नही थोपी जा सकती। ज्ञान एक साथ जानता है, वहुतसे पदार्थोका जानता है, अपने आपके स्वरूपको जानता है, ऐसा ज्ञानस्वरूप वाला मै आत्मा हूँ ऐसा निर्णय रखिये।

आत्माकी ज्ञानप्रमाणताका प्रतिपादन– ससारके सकटोसे छूटनेका उपाय आत्मानुभव है। अपने आत्माका जो विशुद्ध सत्य स्वरूप है वही अनुभवमे रहे तो कर्मवन्धन टूट सकता है और आत्मानुभव होता है ज्ञानानुभूतिसे। अपने आपके ज्ञानको यो तकिये कि यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञानसे अधिक मैं नही, मुझसे अधिक ज्ञान नही क्योकि यदि ज्ञानसे वडा मैं आत्मा हो गया और ज्ञान रह गया छोटा तो उस ज्ञानमे वाहर जो मैं आत्मा हूँ उतना तो ज्ञानरहित हुआ ना ? तो ज्ञानरहित आत्माका स्वरूप क्या ? यदि आत्मासे वडा ज्ञान है तो जितना बडा ज्ञान हो गया वह आत्माके विना हुआ, तो उस ज्ञानका स्वरूप क्या है ? मैं ज्ञानमात्र हूँ। जो ज्ञान है सो मैं हूँ।

ज्ञानकी अवद्धस्पृष्टता– यह ज्ञान क्या किसीसे छुवा जा सकता है ? यद्यपि यह आत्मा इस समयमे शरीरके वन्धनमे पडा हुआ है फिर भी शरीरको छुवे हुए नही है। जैसे कोई पुरुष अपने किसी मित्रके स्नेहमे वध जाय,

ो इतना भी वध गया कि जहाँ मित्र जाय वही वह जाय, मित्रके विना रह न •के खा न सके इतना स्नेहमे बध गया इतनेपर भी यह वन्धन एक दूसरेमे प्रवेश -राने वाला व धन नही है, किन्तु वह अपने आपमे ही रहता हुआ वन्धन समझ -ा है। ऐसे ही यद्यपि हमारा आत्मा शरीरके वन्धनमे है, कर्मवन्धनमे है फिर भी '(कि आत्मा है अमूर्त और कर्म व शरीर हैं मूर्त, अत आत्माका शरीर और कर्म साथ स्पर्श नही है, इतना विकट वधन होकर भी आत्मा कर्म और शरीरसे रस्सी ी गांठकी तरह वधा नही है। जैसे रस्सीका एक छोर दूसरे छोरसे गायके गलेमें ारेट कर वाध दिया तो वतावो रस्सीसे रस्सी बँधी है या गायके गलेसे रस्सी वधी है ? कोई पुरुष रस्सीकी •ाते गायका गला पकडकर एक हाथमे रस्सी पकडकर ाव दे ऐसा तो कोई नही करता। अरे वहा तो रस्सीमे रस्सी वधी है लेकिन उस 'नङ्गमे गाय परतन्त्र हो गयी, कही गाय जा नही सकती। ऐसे ही समझिये कि वन्धन ह होता है पुद्‌गल पुद्‌गलमे ही, पर उसके विपाककालमे कल्पनासे अथवा इसमे स्वय ा परिणाम उठते हैं उनसे यह ऐसा वध गया कि शरीरसे वाहर कही जा भी नहीं सकता जीव। इतना शरीरसे आत्माका दृढ वन्धन है फिर भी शरीरको आत्माने ना नही है। शरीरसे आत्माका वन्धन नही है। केवल यह एक लगाव भरकी वात है। आप किसी मित्रके स्नेहमे बध जाते तो वधे कहा हैं ? आप ही स्वय अपने आप र स्नेह भाव उठाकर अपने स्नेहसे वधे हैं, दूसरेसे नही। दूसरेसे अगर आप वधे होते ा आप अपने आपको निकाल भी नही सकते थे, इस समय स्नेहसे वधे हैं और दो ो मिनटमे हम वदल भी सकते। स्नेहको ऐसा त्याग सके कि जिसका निशान भी न -। यदि हम दूसरे जीवसे वधे होते तो वधे हुएमे हमारी कला काम न कर सकती ो। यह जीव स्वय अपने ही भावोसे वधता है। अपने ही भावोके कारणसे छूटता । इसको बाधने और छुटाने वाला अन्य कोई नहीं।

वन्धनके आधारकी मीमासा - भैया ! वन्धन कहाँ है ? यह आत्मा है ानस्वरूप और ज्ञान है अमूर्त स्वतन्त्र स्वपरप्रकाशक। यही उसका काम है कि निरन्तर जानता रहे। इस ज्ञानमे अथवा आत्मामे अन्य कुछ नही है, लेकिन ऐसा न मान र अपने आपकी सुध भूलकर केवल बाहरी पदार्थोंके प्रसङ्गमे अपना ग्रहण वनाये ना यह तो है ससारमें वँधनेका उपाय, और जैसा यह मैं ज्ञानरूप हूँ, स्वपरप्रकाशक अमूर्त हूँ, शाश्वत हूँ वहाँ अपने आपको जान ले और उसमे ही मग्न होनेका यत्न ा तो यही है ससारके सकटोंमे छूटनेका उपाय। देखिये ससारके वन्धनमे महती ापदा और विडम्बना है। ससारसे छूटनेमे आत्माकी समृद्धि है। तो वडी विडम्बना ौर वडी समृद्धि ये दोनो वातें केवल ज्ञानभावसे की जारही हैं। जव केवल भावमात्र इतनी वडी भारी विपत्ति आ सकती है और केवल भावमात्रसे आत्माकी अतन्त ृद्धि प्राप्त हो सकती है तो अब उस भावको समृद्धि पानेके योग्य न वनायें और ु सहने के लायक ही वनायें रह तो इसमे वडी खेदकी वात और क्या होगी ?

ये समस्त वैभव समागम ठाठ बाट जितनी देर रहते है उतनी देर भी दु खी करते हैं। जब ये ठाठ-बाट न मिले थे तब भी इनके ख्यालमे इसे दु खी होना पडा था और जब इसका वियोग होगा तो वियोगके समयमे भी इसे दु खी होना पडेगा, और समस्त समागम परभाव है, परचीज है, भिन्न है, असार है, जिससे अपना कुछ वास्ता नही है, उसकी धुनमे पहिले भी कष्ट, मिलते समय भी कष्ट, बिछुडते समय भी कष्ट।

तत्त्वज्ञानधन बिना जीवकी भटकना – तत्त्वज्ञानके बलके समस्त बाहरी पदार्थोंसे अपनेको न्यारा अनुभवम लिया जाय तो उस समय भी प्रसन्नता है। देखिये, जब भाव करने भरसे ही सारी चीजे प्राप्त कर सकते है तो उस भावको न करे इसमे कौनसा विवेक है ? सदा अपनेको तत्त्वज्ञानके उजेलेमे रखना, समग्र परवस्तुवोमे न्यारा अपने आपकी प्रतीति बनाये रहना और ऐसा ही सचेत रहना, प्रसन्नताका अनुभव करना यही है वास्तविक अमीरी। और अपने स्वरूपको भूलकर बाहरी पदार्थोमे बडप्पन मानना यही है वास्तविक गरीबी। लेकिन जैसे जुवारियोके बीच बैठा हुआ जुवारी अपने हित अहितको भूल जाता है ऐसे ही मोही मायामयी, कुटुम्बी मित्र जनोंके बीच जब पडे हुए हैं, तो उनकी ही करतूत, परिग्रहके सचय, विषय-साधन आदिक प्रवृत्तियोमे बडप्पन माना जा रहा है लेकिन वास्तविकता क्या है कि ये कुछ अपने है नही, ये सब न्यारे हैं, अब भी न्यारे हैं और मरण होगा तो यह न्यारा ही आत्मा यहाँका स्थल छोडकर चल देगा। यहा सारभूत बात कुछ नही है। गिनते जावो हजार करोड, बस कल्पना भर आपका साथ दे रही, किन्तु वैभव कुछ भी साथ नही दे रहा है। समग्र पर पदार्थ एक दूसरेसे हटनेका स्वभाव रखे रहते हैं। यह आत्मा पर वस्तुवोका सचय कर रहा है। कहाँ तो इसका काम था केवल अपने ज्ञान-स्वरूपको देखे, इसमे जो कुछ आनन्द है, विलास है वह ही मेरा वैभव है, अन्यकी तो कहानी क्या कहे यह देह तक भी अपना नही है। ऐसा असहाय यह आत्मा अपनी शरण नही ढूढना चाहता। फुटबालकी तरह ठोकरे खा खाकर यहाँ वहाँ भागता फिरता है।

तत्त्वज्ञान विना यत्र तत्र शरणकी गवेषणा – चित्तमे आया कि मुझे पुत्र से शान्ति मिलेगी मगर पुत्रकी कषाय न्यारी, पुत्रका भाग्य जुदा, सो उस अन्य पदार्थ मे अनुकूल परिणमन मिल नही सकता। पुत्र अपनी गर्जके कारण पिताके अनुकूल बोल बोलता है और इस ही स्नेहमे बसकर अनेक बातें ऐसी उपस्थित होती हैं कि दिल मसोसकर रह जाना पडता है। जब कभी इस पुत्रसे ठोकर लगी तो ख्याल आया कि ओह ! यह लडका मेरा शरण नही है। शरण तो मेरा वैभव होगा। अब धन वैभवकी शरणमे पहुचा। उन वैभवोके सचयमे भी ऐसी ऐसी घटनाएँ आती हैं ऐसे ऐसे धोखे बाजीके, छलकपटके प्रसङ्ग आते है कि निरन्तर दु ख सहता रहता है। देखिये तो मोहकी लीला कि जडके निकट जाकर, चेतनोके निकट जाकर अनेक पर

पदार्थोंके निकट जाकर अपनेको सुखी बनानेकी कोशिश की, वहां दुःख ही दुःख मिला लेकिन, दुःखी होनेपर भी उनके छोड़नेकी मनमें भावना तक नहीं जमती। जगतके सर्व पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हैं। मैं उनका ख्याल रखता हूँ इस कारण वे पर बने हुए हैं, यह बात नहीं है, उनका स्वरूप उनमें है। वे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यको सदा रख रहे हैं पुत्रादिकके आत्माके साथ उनका उनमें भाग्य लगा है। उनके अनुकूल उनकी सेवा खुशामद हो रही है।

ज्ञानस्वरूपके ज्ञानका महान पुरुषार्थ—यह कल्पना त्यागो कि मैं बाहर में कुछ कर रहा हूँ मैं जो कुछ कर पाता हूँ केवल अपने अन्दरमें ही कर पाता हूँ। अपने प्रदेशोंमे बाहर एक प्रदेश भी बाहर अणुमात्र भी मैं कुछ क्रिया नहीं कर सकता। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान ही आत्मा है। ज्ञानका जो स्वरूप है, प्रतिभास झलक जानन और वह जानन है स्व और पर के प्रकाशरूप, ऐसे स्वपरप्रकाशक केवल जानन मात्र अपने आपको बराबर निरखते रहना, यह उपाय है ज्ञानानुभूतिका। यह ज्ञान ही मैं हूँ, यह जानन ही मैं हूँ इतना भी विकल्प तोड़कर केवल उस रूप अनुभव करलें तो वहाँ होती है ज्ञानकी अनुभूति। और ज्ञानानुभूतिसे ही मिलता है आत्माका अनुभव जिसे अपने आपका परिचय करना हो कि मैं क्या हूँ तो वह सर्व बाह्य विकल्प छोड़कर अपने आपको सिर्फ ज्ञानरूप हूँ, ज्ञान हूँ, ऐसा जानन बनावे। ज्ञान शब्द कह कर जो प्रतिभास प्रकाश जाना गया उस रूप अपनेको स्वीकार कर लेना यही है ज्ञानानुभूति अथवा आत्मानुभवका उपाय। यही भाव तो वास्तविकता शरण है और इसी भावसे संकडो भवोंके भी कर्म टूट जाते हैं। वर्तमानमे भी विकल्पोका बोझ नहीं रहता है। तब मैं अपनेको निर्विकल्प अनुभवू और ससारके समस्त सकटोंसे मुक्ति पाऊ।

ज्ञानस्वरूपके विनिश्चयकी अत्यावश्यकतापर प्रकाश—ज्ञानके स्वरूप का निर्णय करना कितना आवश्यक है सो आप सोच लीजिए। सम्यग्ज्ञान ज्ञानके स्वरूपके निश्चयपर निर्भर है। सम्यक् चारित्र ज्ञान स्वरूपकी अनुभूति ही निरन्तर किए जावो, इस पुरुषार्थपर निर्भर है यो कह लीजिए कि ससारके समस्त सकटोंसे छूट जाना, मुक्तिका प्राप्त कर लेना सब कुछ ज्ञानस्वरूपकी अनुभूतिपर निर्भर है। तो उस ज्ञानकी चर्चामे यदि बहुत कठिनाई दीख रही है तो भी सुनना चाहिए, करना चाहिए। कभी कुछ कठिन भी लगे तो भी जो हमारे सकट मोचनका असली उपाय है, अनेक यत्न करके बहुत विशेप दिमाग लगाकर भी उसे जानना चाहिए कि मैं यह ज्ञान किस स्वरूप हू। दर्शन शास्त्रके इस प्रसगमे यह कहा जा रहा है कि यह ज्ञान स्व और परके प्रकाशरूप वर्त रहा है, तन्मात्र मैं हूँ ज्ञानस्वरूप, ऐसा अनुभव करिये, इससे आत्म कल्याणका पथ, सुगमतासे प्राप्त होगा।

प्रासङ्गिक प्रकरण और ज्ञानमे ज्ञानकी क्रियाके विरोधकी आशका—इस ग्रन्थमे प्रमाणका स्वरूप साङ्गोपाङ्ग सविस्तर कहा गया है। सर्व प्रथम ही प्रमा-

णका स्वरूप कहा गया कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निर्णय करे वह ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान स्वपरप्रकाशक होता है, स्वके भान विना परका प्रकाशन बन नही सकता है यह प्रकरण चल रहा है अभी। इस सिद्धान्तके विरोधमे यहाँ यह अभिप्राय शङ्काकारका चल रहा है कि ज्ञान ज्ञानको नही जानता, ज्ञान तो जैसा है वैसा ही है। ज्ञान पर लड़ाई यह नही है। ज्ञानके स्वरूपके बारेमे यह दार्शनिक क्या सोच रहा है उस के आशयका खण्डन है। शङ्काकारका आशय यह है कि कोई भी पदार्थ अपनी क्रिया का प्रयोग अपने आपपर नही कर सकता। यह शङ्काकारका उसूल है कि चाकूकी क्रिया है काटना तो चाकू अपने आपको नहीं काट सकता। कुल्हाडीकी क्रिया है काटना, पर कुल्हाडी अपने आपको नही काट सकती। लाठीकी क्रिया है मारना, तो लाठी अपने आपको नही मार सकती। यह उसूल पेश करके शङ्काकार यह कह रहा कि ज्ञानकी क्रिया है जानना तो ज्ञान अपने आपको नही जान सकता। ज्ञानकी क्रिया का ज्ञान कर्म नहीं बन सकता।

ज्ञानमे ज्ञानक्रिया (जाननक्रिया) के विरोधकी आशङ्काका निराकरण उक्त आशङ्कापर उनसे पूछा जा रहा है कि ज्ञानकी क्रियाके ज्ञानमे जो कर्मत्वका विरोध किया वह अन्य ज्ञानकी अपेक्षासे कर्म नही है या स्वरूपकी अपेक्षा से कर्म नही है, इन दोनो विकल्पोमेसे क्या स्वीकार करते हो? यदि यह कहो कि अन्य ज्ञानका कर्म नही है तो ईश्वरके ज्ञानके कर्म हम नही बने। हमारा ज्ञान नही बना क्योकि वह भिन्न ज्ञान है, तो कोई सर्वज्ञ नही रहा। दूसरी बात यह है कि अपने आत्मामे ही जो पहिले ज्ञान बना जैसे कि यह घडा है अब इस ज्ञानके अनन्तर ही जो दूसरा ज्ञान बना जो कि यह जान रहा है कि मेरा यह घटज्ञान सही है तो अपने आपमे ही उत्पन्न होने वाले प्रथम ज्ञानके बाद जो सामान्य ज्ञान उत्पन्न हो वह भी तो ज्ञानान्तर है। क्या उस ज्ञानके द्वारा भी यह प्रत्यक्ष ज्ञान नही जाना जाता? यदि ऐसा है तो इन्हीं शङ्काकारके सिद्धान्तमे यह बताया कि अपने आपमे जो ज्ञान है उसके अनन्तर होने वाले ज्ञानसे यह प्रथम अर्थज्ञान जाना जाता है उसका विरोध हो जायगा। यदि ज्ञानान्तरकी अपेक्षासे कार्यका विरोध नही है तो स्वरूपकी अपेक्षासे भी विरोध न रहे तो ज्ञान स्वय अपने आपको जान जाय उस प्रकारसे मैं जान रहा हूँ। जैसे ज्ञानक्रियासे भिन्न कर्म है—ज्ञानक्रिया मायने जानना। तो जैसे जाननक्रियासे विकल्प भिन्न है ऐसे ही जाननकी क्रियासे ज्ञानको भिन्न मान लिया जाय तो दोनोंको जानते जावो— ज्ञान भी, पदार्थ भी। और, न जाना जाय तो न जाने जायें तो दोनो भिन्न हैं।

ज्ञान और ज्ञानके कर्मसे विशेषण विशेष्यत्व दिखाकर जाननक्रियाका ज्ञानमे भेद दिखानेके लिये भेदकी आशङ्का और उसका समाधान—यदि यह कहो कि नही, करणभूत ज्ञान और बात है, कर्मभूत पदार्थ और बात है। ज्ञान तो विशेषण है मैं ज्ञानसे द्वारा जानता हूँ पदार्थ विशेष्य है जिसको जाना गया तो विशेषण ज्ञान करण होगा और विशेष्य ज्ञान कर्म होता। उनमे फर्क है। यह भी केवल

कहनेकी बात है। कोई ऐसा नही जानते कि मैं विशेषणसे विशेष्यमे विशेष्यको जानता हूँ या विशेषणको ? जैसे कहा नील कमल, इसमे नील है विशेषण कमल है विशेष्य। जैसे अच्छा पुरुष,अच्छा तो विशेषण है पुरुष विशेष्य है। तो नीलकमलमे नीलके ज्ञान से क्या कमल जाना गया है या नील रङ्ग। नीलके ज्ञानसे नील ही जाना गया और फिर यह बतलावो कि नील ज्ञान और कमल ज्ञान विशेष्य और विशेषण ज्ञान इन का विषय एक है या न्यारा न्यारा न्यारा ? अगर कहा कि एक है तो विशेष्य विशेषण कोई न रहे। यदि नील व कमल एक बन गया तो कुछ एक ही रहा, या तो नीला रहा या कमल ही रहा। यदि कहो कि इन दोनोके विषयमे भेद है तो विशेषण ज्ञानसे अमुक विशेष्य जाना जाय यह नियम न बनेगा। कर रहे घटका ज्ञान और फल मिल जाय कपडेके ज्ञानका, किन्तु ऐसा होता ही नही। कोई चीडकी लकडीपर कुल्हाडी मार रहा हो और कट जाय सागौनकी लकडी ऐसा भी कही होता है क्या ? यदि कहो कि धुवा उठ रहा और जाना आग तो भिन्न भिन्न चीज है ना और वहाँ नियम बन गया, धुवाके ज्ञान करनेसे अग्निका ज्ञान कर लिया। तो कहते हैं कि दृष्टान्त ठीक नही है क्योकि यहाँ तो क्रमसे ज्ञान हो रहा है। पहिले धुवाका ज्ञान हुआ फिर अनुमान किया अग्निका, पर नील कमलमे तो ऐसा नही है कि पहिले नीलको जाना फिर कमलको। दोनो एक साथ जाने जा रहे हैं। विशेषण और विशेष्य दोनो एक साथ जाने जाते हैं तब उसकी तारीफ मालूम होती है। पहिले विशेषण जाना पीछे विशेष्य जाना तो कुछ अर्थ न निकलेगा।

ज्ञानके अक्रमज्ञातृत्वकी अबाधता यदि ऐसा कहो कि विशेषण विशेष्य दोनोका ज्ञान क्रमसे होता, मगर शीघ्रताके कारण यह विदित हो गया कि एक साथ जान लिया। जैसे १०० पान एक सुईमे बडी तेजीसे छिद जाये तो छिदे क्रमसे हैं पर लगता है कि वे एक साथ छिद गए हैं। यो दृष्टान्त देकर प्रत्यक्षसिद्ध बातका अपलाप करोगे तो किसीको भी एक रूपमे नही देख सकते। वहाँ भी कह दो कि यह भी क्रमसे है और जो बात प्रत्यक्षसे जच रही उसको दृष्टान्त देकर क्या निषेध करते, वहा दृष्टान्त नही लागू होता – अन्यथा सफेद शङ्ख पीलिया रोग वालेको पीला दिखता है तो सानेका क्या फल होगा ? जो बात प्रत्यक्ष है वह सही है उसमे युक्तिया नही चलती है। अग्नि गर्म लगती है तो सब चीजोको गर्म मान लो। जलको भी गर्म मान लो। सो मूर्त चीजमे तो यह सम्भव हो सकता कि उनमे क्रमसे कार्य हो रहा, पर अमूर्त जो ज्ञान है, जो अप्राप्त अर्थको ग्रहण करता है वहा क्रमका क्या कारण ? ऐसा भी नही कि ज्ञान पदार्थमे जा जा कर छुये फिर ज्ञान हो। सो यदि एक ज्ञानमे वे सब चीजें एक साथ आ जायें तो उसमे कौनसा विरोध। ज्ञानकी प्रकृति है जानना किसे जानना ? जो हो उसे जानना। तो चाहे १० वस्तु हो चाहे एक हो चाहे अनगिनते हो, जो हैं उनको ज्ञान जान गया। हम आप ससारी जीव जो नही जान पाते हैं समग्र वस्तुवोको तो यह ज्ञानके स्वभावका अपराध नही है किन्तु उपाधि और

आवरण इन प्रकार है कि उनके कारण ज्ञान अपने पूरे काम नही कर पाता। पर ज्ञानमे जो स्वभाव है वह स्वभाव तो सदैव रहता है। ज्ञानका स्वभाव है जानना। यदि अपने जाननेको नही जान रहा कि यह है जानना, उसका भान नही है तो पदार्थ का भी भान नही हो सकता। ज्ञान स्व और परका निर्णय करने वाला होता है ऐसा माननेपर ही प्रमाणकी व्यवस्था बन सकती है।

ज्ञानकी अवाध गतिमे मन द्वारा प्रतिरोधकी आशङ्का और उसका समाधान—यदि यह कहो कि मन इन्द्रियोको अथवा इन्द्रियोसे एक साथ ग्रहण नही कर सकता इसलिए क्रमसे ज्ञान होता है, क्योकि इन्द्रिय एक दूसरेसे जुदी जुदी जगहमे है। जैसे ये सब पान भी अपनी अपनी जगहमे हैं, सूईसे छेदनेपर क्रम क्रमसे छिदते है ऐसे ही यह मन इन इन्द्रियोको ग्रहण करता है तो क्रमसे ही करता है। तो वात यो ठीक नही बैठ सकती कि पहिले मनकी सिद्धि करलो कि तुम्हारे यहाँ मन कुछ चीज है या नही ? मन सिद्ध हो तो एक साथ ज्ञान होनेका क्रम सिद्ध कर लो। तुम्हारे मन है कि नही ? यदि कहो कि मन है तो ये चक्षु आदिक इन्द्रिय अन्य कारणोके मिल जानेपर भी जव मनके विना काम नही करता है तो क्रम वाला मन अवश्य है अनुमानसे सिद्ध हो जायगा। जैसे बसूलेसे कोई बढई काठ छेदता है तो क्रमसे क्यो छेदता है ? वह वसूलेका करण जो हाथ है वह क्रमसे चलता है। ऐसे ही ये इन्द्रियाँ क्रमसे क्यो जाना करती हैं ? ये इन्द्रियाँ मनके आधीन हैं और मनमे क्रम पडा है अतएव यह सब क्रमसे कार्य करता है। यह वात यो असिद्ध है कि एक साथ ज्ञान हो रहा। कोई चावलोका ढेर रखा है, उन सबको एक साथ जान लिया, वहा ऐसा तो नही है कि क्रम क्रमसे एक एक चावलको जाना। अब उसमे क्रम सिद्ध करना और उससे मनकी सिद्धि करना यह वात असङ्गत है।

प्रत्यक्षसिद्ध स्वसंविदित ज्ञानके अपलापका अनौचित्य—कोई यो अनुमान बनाले कि अग्नि ठढी होती है, क्योकि पदार्थ होनेसे। जो जो पदार्थ होते हैं वे ठडे होते हैं, जैसे पानी। तो यह अनुमान सही है क्या ? न माने कोई तो चिमटेसे आग पकडकर धर दे तो पता पडेगा ओह ! यह तो गर्म है। तो प्रत्यक्षसे जाने हुए पदार्थोमे युक्तिया लगाना यह तो असङ्गत बात है। सबसे प्रबल प्रत्यक्ष होता है। जानते जारहे हैं हम और उस ही जाननेमे सन्देह बनाते जा रहे, सन्देह बनानेपर जिस जिस रूपसे हम जान रहे हैं उसका प्रयोग खुदमे होता रहता है चुपचाप बिना विषय मुद्राके क्या अपने आपमें सोच लिया जाय ? जो आप सोचेंगे वह तो आपको विदित है दूसरेको नही मालूम पड़ा। तो जानना प्रत्येक ज्ञाता पुरुषको विदित रहता है। ज्ञानका काम जानना है, सो वह अपनेको भी जानता और परपदार्थको भी जानता। वह तो एक चैतन्य प्रकाश है।

सर्व पदार्थोमे आत्माकी सारभतता—जगतमे जितने भी पदार्थ है उन

समस्त पदार्थोंमे सारभूत पदार्थ तो है आत्मा । ६ प्रकारके पदार्थ है जीव,पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इन ६ प्रकारके पदार्थोंमे सारभूत पदार्थ जीव है क्योकि इसके ज्ञान है । जीवके प्रयोजन हैं और जीव ही व्यवस्था करता है । यह कल्पना कर लो कि जगतके सब पदार्थ तो होते, पर एक जीव द्रव्य न होता तो पदाथ है यह पता कौन करता । और उनकी फिर तत्त्वचर्चा तीर्थ प्रवृत्ति धर्म कहा होते ? फिर तो शून्य ही था । प्रथम तो कुछ हो नही सकता कि जितने पुद्गल आप को नजर आ रहे हैं खम्भा चौकी चटाई इत्यादि ये सब पहिले जीवसे सम्बद्ध थे तब इनका यह रूप बना । यह काठ बन कैसे गया ? कभी यह बहुत छोटा अकुर था फिर उसका विशाल रूप हुआ, पक गया । अब आज यह रूप है तो इस प्रकार काठ रूप बननेका साधन क्या रहा ? जीवका समागम । पेडमे जीव आया अथवा जीवने उन अणुवोको ग्रहण किया जिससे यह पेड पर्याय बनी । यह पेड पर्याय बनी तो ये काठ मिल गए । कपडा भी कपाससे मिला वह भी जीव है । चटाई घाससे बनी वह भी जीव है । ये खम्भे पत्थरके बने वे भी एक जीव थे । जीवके सम्बन्धके विना किसी भी पदाथका विस्तार बन सकता है क्या ? जीव न होता तो ये पदार्थ भी कहाँसे होते ? न जीव रहा न पुद्गल रहा, फिर धर्म अधर्म क्या चीज रहे । धर्मद्रव्य उसे कहते हैं कि जो जीव पुद्गलके चलनेमे सहायक है । लेकिन जीव पुद्गल तो है ही नही, धम क्या चीज रही ? ठहरनेका कारण क्या रहा ? अधर्म कुछ नही । जब ये कुछ पदाथ न रहे तो काल द्रव्यका क्या प्रयोजन ? कालका प्रयोजन ? कालका प्रयोजन था जीव पुद्गल आदिक पदार्थोंमे परिणमन होना । है ही नही परिणमनका प्रयोजन क्या ? जब ये सब न रहे फिर किस किसके लिए किसको बसाये ? लो आकाश भी न रहा । समस्त पदार्थोंमे सारभूत जीव पदार्थ है । और जीवमे भी सार भूत ज्ञानस्वरूप है । जिसकी दृष्टिसे भव्यजन कम कलङ्कका उच्छेद कर रहे हैं वह है ज्ञानस्वरूप, सारभूत । जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब एक इस ज्ञान स्वरूपकी भावनासे हुए हैं ।

धर्मपालनके आधारभूत ज्ञानस्वभावका निर्णय लोग कहते हैं धर्म करो । हाथ पैर चलानेमे धर्म नही होता, यद्यपि निम्न परिस्थिति मे हाथ पैर चलाना, तीर्थपर जाना, पूजन करना, वदन करना, सत्सग करना गुरुसेवा करना ये सब साधन भूत हैं परिणामोको विशुद्ध बनानेके लिए, लेकिन ये स्वय धर्म नही हैं । धर्म तो धर्म की दृष्टि है, धर्म है वस्तु स्वभाव । आत्माका स्वभाव धर्म है । आत्माका स्वभाव क्या है । आत्माका वह स्वभाव होगा जो आत्मामे अनादि अनन्त अहेतुक रहा करता है । अब इस युक्तिसे परख कर लीजिए । यह आत्मा क्रोध करता है क्या, क्रोध करना स्वभाव हैं क्या ?स्वभाव नही है, क्योकि यह क्रोध अनादि अनन्त नही है, आध मिनटको हुआ, खतम हो गया, इसी प्रकार ,मान 'माया लाभ ये भी आत्माके स्वभाव नही हैं । विषय कषाय भोग उपभोग वितर्क विचार ये सब आत्माके स्वभाव नही है, किन्तु आत्माका

स्वभाव है ज्ञान। ज्ञान गुण नष्ट नही होता, इसको दो दृष्टियोसे विचारे, एक तो ज्ञान का परिणमन सदैव कुछ न कुछ रहेगा। जैसे जब क्रोध है तो मान माया, लोभ आदिक नही हैं, वे सब एक साथ निरन्तर नही रहते, पर ज्ञान जानन निरन्तर बना रहता है। क्रोध करो वहाँ भी जानन चलता रहता है। यदि जानन न चलता होता तो क्रोध बने कैसे ? अजान चीजमे क्रोध तो बनता नही, इस चौकीको कोई छेदे काटे तो बताओ वह क्रोध कर सकती है क्या ? नही कर सकती। जहाँ जाननका प्रवाह चलता हो वहाँ ही क्रोधादिक हो सकते हैं। तो जब कोई क्रोध करता हो,न माया, लोभ करता हो तो भी वहाँ ज्ञान निरन्तर चल रहा है यह तो बतायी परिणतिकी बात। और जिसका परिणमन निरन्तर चला ही करे चाहे ससारी हो चाहे सिद्ध बन जाय तो समझिये कि परिणमनका स्वभाव उसमे शाश्वत है।

धर्मपालनका अर्थ—आत्माका शाश्वत स्वभाव, स्वरूप है ज्ञान। ज्ञान सारभूत है। धर्मपालन करो ! ऐसा कहनेपर क्या करना चाहिये ? इसकी समझ बनाये। मेरा धर्म है ज्ञानस्वभाव। उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि कर लेना कि मैं ज्ञानस्वभावरूप हूँ, यह मैं हू, इस प्रकारकी प्रतीति करना, ऐसा ही उपयोग बनाना और एसा ही ज्ञान बनानेमे लीन रहना यह सब है धर्मपालन। जैसे कोई कहे ऊपर जावो। उसका अर्थ क्या है ? उसका अर्थ है ऊपर जाकर देखो ! इसी प्रकार कोई कहे कि कि धर्मपालन करो ! तो इसका अर्थ है कि अपने आत्माका स्वभाव जो ज्ञान है वह धर्म है, उस धर्ममात्र अपनेको मान लो। मैं ज्ञानस्वरूप हू, ऐसा अपने उपयोगमे केवल ज्ञानमात्र अपनेको परखलें, मानलें, यही है धर्मपालन।

ज्ञानस्वरूपके निर्णयपर धर्मपालनकी निर्भरता - कोई पुरुष छोटी परिस्थितिमे धर्मपालन करे कोई योगीश्वर ऊँची परिस्थितिमे धर्मपालन करे, सबमे धर्मपालन एक ढङ्गसे ही होता है। ऐसा नही है कि गृहस्थ लोग तो हाथ पैर चलाकर धर्मपालन कर लेते और योगीश्वर विविक्त तत्त्वका चिन्तन करके धर्मपालन करते हैं। सबके धर्मपालनकी विधि एक है, जिसको धर्म मिलता है उसको एक ही प्रकारसे मिलता है, ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे धर्म मिलता है। गृहस्थने इस धर्मकी प्राप्ति के लिये पूजा, वदना, सामायिक, यात्रा, सत्सङ्ग, गुरुसेवा, दान आदिक बहुत बहुत यत्न किए और और उन यत्नोके बीचमे विविक्त ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि बनी तो जो ज्ञान स्वरूपमे यह मैं हूँ, ऐसा प्रत्यय हुआ उतना ही धर्मपालन है और बाकी सब है बाहरी साधन। एक झलक मात्रमे योगीश्वर अपने आपमे उस धर्मकी दृष्टि कर लेते हैं और उनके होता है बहुत बहुत धर्मपालन। ऐसे ज्ञानस्वरूपका यथार्थ निर्णय कर लेना आवश्यक है धर्मपालन ज्ञानस्वरूपके आधारपर ही हुआ करता है इस कारणसे ज्ञानस्वरूपके निर्णयमे हम अधिकसे अधिक अपना उपयोग लगाये और उसका निर्णय करे, जब निर्णय होगा तब एक दम हाथपर रखे हुए आँवलेकी तरह जैसा कि वह स्पष्ट

विदित होता है ऐसे ही यह ज्ञानस्वरूप यह है, यह मैं हूँ यह है प्रकाश, यह है ज्योति, इस ज्ञाताको यह सब स्पष्ट हो जाता है, वह ज्ञान है स्वपरप्रकाशक, केवल परप्रकाशक हो और अपने आपको न जाने तो वह ज्ञान परको भी नही जान सकता।

ज्ञानको अन्यज्ञानवेद्य माननेपर आत्मा और मनकी असिद्धि—जो लोग ज्ञानको अन्य ज्ञानके द्वारा वेद्य समझते हैं अर्थात् किसी पदार्थकी जानकारी की तो उस जानकारीकी जानकारी अन्य ज्ञानके द्वारा होती है ऐसा जो पक्ष करते हैं उनके यहाँ न तो आत्माकी सिद्धि हो सकती है और न मनकी सिद्धि हो सकती है। कदाचित् सिद्धि भी मानलें तो आत्मा और मनका सयोग सिद्ध नही हो सकता क्योकि सयोग हुआ करता है दो पदार्थोंका सो या तो सर्वात्मक रूपसे होता है या एक देश रूपसे होता है, तो आत्मा और मनका सम्बध यदि एक देशसे हो तो निरश हैं ना दोनो, तब वह साश बन जायगा। यह सिद्धान्त मनको निरश मानता है अर्थात् मन इतना छोटा कि जिसमे दो प्रदेश भी नहीं हो सकते। तो जब एक देश रूपसे सयोग माना तो अश सिद्ध हो जायगा और सर्वरूपसे आत्मा और मनका सयोग माना जाय कि पूरा आत्मा पूरे मनको पूर्ण सयोग होता है तो इसके मायने यह हुआ कि न आत्मा रहा न मन। यदि ऐसा कहो कि जिस आत्मामे मन सयुक्त है उस ही आत्मामे ज्ञान पैदा करता है तो आत्मा सर्वव्यापक है तो मन सब जगह सब दिशावोमे सुख आदिकको पैदा करदे फिर प्रत्येक प्राणीमे जुदा जुदा मन मानने की क्या जरूरत।

ज्ञानव्यवस्थामे मनकी प्रतिनियतताकी असिद्धि—यदि यह कहो कि जो मन जिस समवाय ज्ञानका कारण बने वह मन उसमे सयुक्त होता है तो यह सिद्ध करलो कि मन अलग अलग अलग आत्मावोमे सम्बन्धित है। इस आत्माका यह मन है, इस आत्माका यह मन है, यह क्या इस कारण सिद्ध करोगे कि जीवोमे आत्माके द्वारा उपयोग किया गया है या उसमे सयाग है या आत्माके भाग्यसे प्रेरित है या उस आत्मा से प्रेरित है। किस कारणसे तुम मनको आत्माका सिद्ध करते हो ? कार्य तो है नही, क्योकि आत्मा नित्य है। नित्यका कोई कार्य नही होता। जिसका कार्य हो वह अनित्य है। वस्तु नित्यानित्यात्मक होते हैं। जो अनित्य अश है वह कार्य है, जो नित्य अश है वह स्थायी उपादान कारण है लेकिन स्याद्वादके सिवाय अन्य किसीने पदार्थको नित्यानित्यात्मक नही माना। चू कि ये सर्वथा नित्य मानते हैं तो कार्यका योग नही बन सकता और उपयोग नही बन सकता और उपयोग भी कुछ नही। जो अनाधेय है, जिसको प्रकट नही किया जा सकता उसमे उपयोग क्या है ? यदि कहो कि अदृष्ट से ही सिद्ध कर लो कि यह मन इस आत्माका है क्योंकि आत्मासे प्रेरित हुआ है। तो यह भी ठीक नही है क्योंकि आत्मा तो नित्य है सो न यह सिद्ध होता कि यह मन इस आत्माका है और फिर यह सिद्ध न हो सकेगा कि मन जाना करता है जिससे तुम ज्ञानके स्वव्यवसायीपनेका निषेध कर सको।

ज्ञानको स्वसंविदित न माननेपर स्वाभिमतव्याघात और भी देखिये ज्ञान है तो अपने आपका निश्चय करने वाला भी है। यदि इसे स्वव्यवसायी न मानोगे केवल ऐसे ही ज्ञानका स्वरूप समझो कि ज्ञान मात्र परपदार्थका ही प्रकाश करता है तो ईश्वरका भी ज्ञान क्या अपने आपको नही जानता ? यदि वह स्वसम्विदित नही है, तो ऐसा जो तुमने माना है— जगतमे जितने भी सत् और असत् पदार्थ हैं वे सब किसीके एक ज्ञानके सहारे हैं और दृष्टान्त भी तुमने दिया है कि जैसे ५ अगुली हैं तो ये सब अगुली किसी आधारभूत मुट्ठीके सहारे है ऐसे ही विश्वमे अनेक पदार्थ हैं, सत् हैं और प्रागभाव आदिक असत् हैं ये सब किसी ईश्वरके ज्ञानके सहारे है। सो जब ईश्वरके ज्ञानको स्वसम्विदित नही माना तो सहारा क्या रहा ? उसमे तो दोष आता है और स्वसंविदित ईश्वरके ज्ञानको मान लोगे तो तुमने जो यह हेतु दिया है कि ज्ञान अन्य ज्ञानके द्वारा जाना जाता है क्योकि प्रमेय होनेसे यह हेतु दूषित हो जायगा इस कारण सीधा सही मान लो प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका ऐसा ही प्रकाश है कि वह अपने आपको भी जानता है। यदि ऐसा कहोगे कि नही,हमारे ज्ञान की अपेक्षा हम कह रहे हैं कि ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाता है तो इस सम्बन्धमे पहिले बहुत निराकरण किया गया है। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि अपने आपको झलकमे ले उस ही के साथ साथ परपदार्थकी भी झलक करे। जैसे दीपक, सूर्य अपने आपको भी प्रकाशमान निरन्तर किए रहता है और उसके कारण परपदार्थ भी प्रकाशमे आते रहते हैं।

अस्वसंविदित ज्ञानवादमे प्रथम ज्ञानका सद्भाव होते सते या सद्भाव न होते सते दोनो पक्षोमे द्वितीय ज्ञानकी असिद्धि —अच्छा, यह तो बतलाओ कि तुम्हारा जो यह मतव्य है कि पदार्थको जानने वाला ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाता है तो क्या प्रथम ज्ञानके होते सते दूसरे ज्ञानसे जाना जाता है या प्रथम ज्ञान नही रहा तब द्वितीय ज्ञानसे जाना जाता। यदि प्रथम ज्ञानके होनेपर भी द्वितीय ज्ञानसे जाना जाय तो एक साथ दोनो ज्ञान बन गए हममे। एक साथ ज्ञान हुआ नही करता, यदि प्रथम ज्ञान मिट गया तब द्वितीय ज्ञानसे जाना कि वह ज्ञान ठीक है तो असत्का ग्रहण करनेपर फिर जिस चाहे असत् पदार्थको जान जाय. इस कारण यह मानना ठीक नही है कि हम अपने ज्ञानको समझनेके लिये एक नया ज्ञान उत्पन्न करें, किन्तु पदार्थको जाननेके साथ ही साथ पदार्थ भी जाना जाता है और वह ज्ञान भी जान लिया जाता है। और फिर यह बतलावो कि दूसरा ज्ञान पैदा हो गया पहिले ज्ञानको जाननेके लिये फिर दूसरा ज्ञान भी हमारा प्रत्यक्ष है या नही ? यदि द्वितीय ज्ञान हमारा प्रत्यक्ष है तो प्रथम ज्ञानको ही प्रत्यक्ष क्यो नही मान लते ? सीधी बात जान लो कि ज्ञान भी प्रकाशात्मक है कि पदार्थको जाननेके ही साथ अपने आपको भी जान लेता है। यदि वह प्रत्यक्ष है तो अपने आपको प्रत्यक्ष है द्वितीय ज्ञान या अन्य ज्ञानसे ?

है तो उस ज्ञानको जाननेके लिए तीसरा ज्ञान चाहिए। तीसरेको जाननेके लिए चौथा चाहिए। यो ज्ञान ही पैदा करता रहा, पदार्थका ज्ञान स्पष्ट हो ही नही सका। यदि कहोगे कि नही, द्वितीय ज्ञान अप्रत्यक्ष है, तो भाई! जो ज्ञान स्वयके भानमे नही है वह द्वितीय ज्ञान प्रथम ज्ञानको कैसे जान सकता है? स्वय अप्रत्यक्ष हो, उस ज्ञानान्तरके द्वारा, दूसरे आत्माके ज्ञानके द्वारा हमारा ज्ञान नहीं जाना जा सकता। इसी तरह हमारे दूसरे ज्ञानके द्वारा प्रथम ज्ञान नहीं जाना जा सकेगा। इस कारण ऐसा ही ठीक है कि ज्ञान खुदको प्रकाशित करता हुआ अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करता रहता है।

ज्ञानकी भावस्वरूपता—ज्ञान एक भावस्वरूप चीज है। अपने अपने ज्ञान की ओर दृष्टि देकर निरखो कि ज्ञानका स्वरूप क्या है? क्या ज्ञानमे रूप, रस, गध, स्पर्श है? किसी रसीले पदार्थको खाकर कुछ रसीले पदार्थोंका ज्ञान तो हो जायगा, रसका ज्ञान तो हो जायगा पर ज्ञानमें रस न कहेंगे। जैसे हम बाहरी खम्भा चौकी आदिक पदार्थोंको देखकर जान तो जाते हैं पर हमारे अमूर्त ज्ञानमें कही ये खम्भा चौकी वगैरह अड तो नही जाते। ज्ञान तो ज्ञानकी जगह रहकर भी अपने ही प्रकाश से पदार्थोंको जानता रहता है। ज्ञानमे रूप नही, रस नही, गध नही, स्पर्श नहीं। ज्ञान तो एक भावात्मक तत्त्व है। जान गए। देखिये कितना सूक्ष्म है यह ज्ञान। जिससे सूक्ष्म और कुछ नहीं बताया जा सकता।

ज्ञानकी सूक्ष्मताका कथन—एक आम सिद्धान्त यह है कि मोटी चीज सूक्ष्म चीजमें समाती है यह सुननेमे कुछ उल्टा सा लग रहा होगा। लोग तो यो कहेंगे कि बडी चीजमे हल्की चीज समा जायगी। घडा बडा है उसमे चने समा जायेंगे। पर यहाँ यह दिखाया जा रहा है कि हल्केमे बडी चीज समाती है। सूक्ष्ममे स्थूल चीज समाया करती है। जैसे यह पृथ्वी है। इससे मोटी चीज कुछ और तो नही है पर यह पृथ्वी पानीमे समायी हुई है। पृथ्वीको घेरकर पानी रहता है। आज कलके वैज्ञानिक भी मानते हैं कि पृथ्वीके चारो ओर पानी है और जैन सिद्धान्त भी कहता है कि जम्बूद्वीपके चारो ओर भले ही उसके आगे द्वीप है पर उसके आगे फिर समुद्र है। यो असख्याते द्वीप समुद्रोके बाद आते रहते हैं पर अन्तमे समुद्र ही है जिस का नाम है स्वयभूरमण समुद्र। जितना बडा स्वयभूरमण समुद्र है उससे भी कमे असख्याते द्वीप और समुद्र हैं अर्थात् पानीका अश बहुत ज्यादा है। पृथ्वीसे पानी सूक्ष्म है सभी जानते हैं और पानीसे सूक्ष्म है हवा। तो पानी जहा तक है उससे भी आगे हवा चली गई। पानीसे आगे हवा है। तब तो पानी सधा रहता है। तीन लोक के भी अन्तमे चारों ओर वातवलय है। तो हवामे पानी पृथ्वी आदि समाए हुए हैं। हवासे सूक्ष्म है आकाश, सब जानते हैं, हवाको ट्यूबमे भरकर चाहे जहाँ ले जावो। क्या रबडमे भरकर आकाशको भी ले जा सकते हैं? नही। तो हवासे भी सूक्ष्म है

आकाश, और, आकाशसे भी सूक्ष्म है ज्ञान, ज्ञानमे सारा आकाश समाया है। पृथ्वी जल, वायु, आकाश हैं नही बल्कि भूतकालकी समस्त पर्यायें और भविष्यकालकी समस्त पर्यायें समाई हुई हैं। यो आकाशसे भी सूक्ष्म ज्ञान है। तो इस ज्ञानसे सूक्ष्म जगतमे और कुछ नहीं है।

सूक्ष्म और सारभूत ज्ञानस्वभावकी महिमा शालिता – रूपादिकसे रहित, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म ज्ञानका स्वरूप प्रत्येक आत्मावोमे पाया जाता है। वह यद्यपि उपाधिके सम्बन्धसे क्षीण शक्ति वाला है, अधिक जान नही सकता, लेकिन ज्ञानमे स्वभाव तो ऐसा पडा हुआ है कि वह समस्त विश्वको जान जाय। स्वभावका अपहरण नही होता और फिर आत्माके ज्ञान स्वभावका जो कुछ दवाव है, आवरण है, शक्तिकी हीनता है वह निश्चयसे अपने आपके विकल्पोके कारण है। भला बुद्धिमान पुरुष भी जब भी रागद्वेषसे ग्रस्त हो जाता है तो उसकी बुद्धि काम नही करती। हुआ क्या ? ज्ञान हर लिया गया। किसने हरा ? किसी पर पदार्थने नही, किन्तु एक अपने आपके विकारने रागद्वेष मोह भावने। तो अपने ही विकारोसे यह ज्ञान अविकसित है। इसपर आवरण पडा हुआ है, सबको जान नही सकता, लेकिन ज्ञानस्वभाव तो जानन स्वभावकी महिमाको नही छोडता।

अस्वसंविदित ज्ञानवादमे धर्मपालनकी असाधना—जितने भी धर्मपालन के लिये उपाय किए जाते है उन समस्त उपायोका प्रयोजन अपने स्वभावका विशुद्ध विकाश करना है। किस लिये धर्म पालन किया जा रहा है ? मेरा धन बढ जाय ऐसा आशय लेकर कोई धर्म पाले, व्रत, सयम, तपश्चरण करे व बडे ऊँचे साधन भी बनाये लेकिन यह तो बतावो कि उसके पाप लग रहा है या धर्म हो रहा है। जिसका आशय ही अपवित्र है, सासारिक समागम पानेके लिये जो धर्मकी प्रवृत्ति कर रहा है उसके पाप हो रहा है धर्म नही, क्योकि आशयके आधारपर सब व्यवस्था चला करती है। व्यवहारमे भी न्यायालयोमे भी जज लोग आशय देखकर दण्ड दिया करते है। किसी मुकद्दमेमे यह सावित हो जाय कि यह पुरुष अमुकको मारना चाहता था और मारनेके लिये इसने यत्न किया लेकिन यत्न चल न सका, विफल हो गया। दूसरा न मर सका तिसपर भी जज एक वही दण्ड देता है जैसा करीब करीब दण्ड मारनेपर दिया जाता अथवा चाहे कुछ कम करले क्योकि अनर्थ नही बन सका, चाहे आजीवन कारागार दे दे, पर अपराधी माना जाता है, जिसका अभिप्राय खोटा है वह पुरुष अपराधी है। तो विकार भावसे अपराध होता है और ज्ञानका आवरण होता है तो ये समस्त ज्ञान जो हम आपके प्रकट नही हो पाते हैं उसका कारण है विकार, रागद्वेष मोह, ये ही दु खकी खान है। जब तक अपना शुद्ध विकाश नही है तब तक क्लेश ही है। देखिये तो सर्व पदार्थ भिन्न हैं हमारे स्वरूपसे अत्यन्त जुदे है। चाहे वह कोई जीव पदार्थ हो चाहे अजीव हो, सब मेरे स्वरूपसे जुदे हैं। लेकिन स्वरूपसे

जुदे परपदार्थोंसे, स्वरूपसे जुदे आत्मामें उठने वाली तरङ्गोंको यदि कोई आत्मीय मान ले तो अदाज लगावो कि कितना अधिक उस व्यक्तिमें मोह है। जो अनहोनी बातका होनी करनेका विकल्प कर रहा है।

स्वतन्त्र ज्ञानको अस्वसंविदित माननेपर आत्मा और मनकी सिद्धिकी अशक्यता—ज्ञान स्वतन्त्र है, किसीके दबाये नहीं दबाया जा सकता। कोई पुरुष क्रुद्ध होकर इस शरीरको पकड़ ले, बाँध ले, पर ज्ञानको कोई बाँध नहीं सकता। शरीर जकड़ा रहेगा, पर किसीकी यह कानून है क्या कि किसी भी पुरुषके ज्ञानको कोई दण्ड दे दे। अच्छा, वैसा ज्ञान चले और प्रकार न चले इस प्रकारका नियन्त्रण कोई पुरुष नहीं कर सकता। ज्ञानभाव स्वतन्त्र भाव है। जैसे गणतन्त्रके जमानेमें वोट देनेमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है, किसीपर कोई कितना ही दबाव दे, तुम्हे हमारा ही वोट देना होगा। और वह कहे जी हां, हम तुम्हारा ही वोट देंगे। इतनेपर भी वोट देते समय वह स्वतन्त्र है, वह चाहे जिसे वोट दे। तो यहाँ फिर भी दबाव है और परतन्त्रता है लेकिन ज्ञानभावमें तो किसी भी प्रकारकी परतन्त्रता नहीं है। हम ही स्वय रागद्वेष मोह भावसे पीडित होकर अपनेको परतन्त्र बना डालते हैं। आत्मा है, ज्ञानरूप है, उपाधिका सम्बन्ध है। यह ज्ञान कितना विषय इच्छाको सहयोग दे रहा है जब उपाधि टूट जायगी तो यह ज्ञान सीधे विषयका प्रकाश करने लगेगा। जो लोग ज्ञानको दूसरे ज्ञानके द्वारा जाने गए मानते हैं उनके न आत्माकी सिद्धि है न मनकी। न यह सिद्ध हो सकता कि यह मन इस आत्माका है और न भाग्य सिद्ध हो सकता कि यह भाग्य आत्माका है।

सर्व ज्ञानोंमें स्वपरप्रकाशकताका स्वरूप—ज्ञानके भेद अथवा परिणमन जैन सिद्धान्तमें ५ माने गए हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। तो कोई लोग केवलज्ञानके बारेमें तो झट कह देंगे कि वह ज्ञान प्रभुका है, सर्वज्ञदेवका है, उसमें तो स्वपरप्रकाशक शक्ति होगी लेकिन जो ज्ञान हमपर बीत रहा है जिसे हम अनुभव करते हैं उस ज्ञानको कह देंगे कि मेरा ज्ञान उस ही ज्ञानके द्वारा नहीं जाना गया, अन्य ज्ञानके द्वारा जाना गया, लेकिन ज्ञानमें जो स्वभाव है वह सर्वत्र एक रहेगा। चाहे सिद्ध भगवानका ज्ञान हो, चाहे संसारी प्राणियोंका ज्ञान हो, ज्ञानमें प्रकृति है स्वपरप्रकाशकताकी। वह प्रकृति, वह स्वभाव समस्त ज्ञानोंमें रहेगा। यद्यपि मतिज्ञान उत्पन्न होनेमें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखते हैं इन्द्रिय और मनकी सहायतासे मतिज्ञान प्रकट होता है तो भी जो कुछ हम आप जानते हैं, विकल्प न रखकर जानते हैं, जितने क्षणको विकल्प नहीं होते उतने क्षणको कुछ इन्द्रिय मनके निमित्तसे जाना गया है वह सब मतिज्ञान है, जहां उसमें विकल्प हुआ कि श्रुतज्ञान बन जाता है। खम्भेको देखते ही जो कुछ ज्ञान हुआ, यह खम्भा है यह हरा है पर जो यह हरा है, ऐसा नाम लेकर ज्ञानमें आया तो वह मतिज्ञान नहीं है। उससे पहिले

मतिज्ञान हो चुका था। अब यह श्रुतज्ञान हो रहा है। अवधिज्ञान आदिमे भी स्वपर-प्रकाशकता है और मति श्रुतज्ञानमे भी स्वपरप्रकाशकता है। तो ज्ञान सूक्ष्म स्वपर-प्रकाशक हुआ करता है। अपने आपमे ऐसी प्रतीति करिये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। *केवल ज्ञानस्वरूप ध्यानमें रहेगा तो वहाँ आत्माका अनुभव जगेगा।* आत्मानुभव हुआ कि ससारसे वह अवश्य छूटेगा यह उसका नियम बन जाता है। अपने आपको मात्र ज्ञानस्वरूप निहारते रहो। जो ज्ञानमे है वह तो मेरा ज्ञान है, जो ज्ञानमे आता है वह है हमारे ज्ञानकी ज्ञेयाकार पर्याय। जो स्वपरप्रकाशक ज्ञानमात्र अपनेको निहारे, बराबर भावना करे, देहसे भी न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा ज्योतिस्वरूप हूँ, यो केवल ज्ञानात्मक अपने आपको अनुभवनेमे ससारके सकट दूर होने लगते है।

ज्ञानको अस्वसवेदी माननेपर पदार्थज्ञप्तिकी असिद्धि – सिद्धान्त तो यह है कि जिस किसी भी जीवको जिस किसी भी पदार्थके सम्बन्धसे ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान खुदको जानता हुआ पर पदार्थको जाना करता है। किन्तु, वहाँ शङ्काकार यह सिद्धान्त रख रहा है कि पदार्थका जो ज्ञान होता है वह ज्ञान खुदको नही जानता किन्तु उस ज्ञानको जाननेके लिए एक दूसरा ज्ञान उत्पन्न करना होता है। खुदको जानने का नाम है प्रत्यक्ष, न जाननेका नाम है परोक्ष तो उनसे पूछा जारहा है कि हम लोगो को जो पदार्थका ज्ञान होता है उस ज्ञानको जाननेके लिए जो दूसरा ज्ञान बनाना पडता है वह प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष ? यदि प्रत्यक्ष है तो वह अपने आप है या नये ज्ञानसे है। यदि दूसरा ज्ञान अपने आप ही प्रत्यक्ष बन गया, ग्रहणमे आ गया, जान लिया गया तो प्रथम ही अर्थज्ञान क्यो न स्वय प्रत्यक्ष मान लिया जाय ? यदि कहो कि यह दूसरा ज्ञान भी तृतीय ज्ञानमे जाना जाता है तो तृतीय ज्ञान फिर चतुर्थ ज्ञानसे जाना जाय। यो अनवस्था दोष होगा। यदि कहो कि द्वितीय ज्ञान ग्रहणमे न आकर भी प्रथम ज्ञान को जाना करता है तो जो स्वय अप्रत्यक्ष है ऐसे द्वितीय ज्ञानसे अथवा किसी अन्य आत्माके ज्ञानसे अन्य आत्माका ज्ञान क्यो नही जान लिया जाता क्योंकि वह तो बिना ग्रहण किए ही जानने लगा। यदि कहो कि अपने ही ज्ञानके स्व विषयमे जो ग्रहण है उसका नाम ग्राहकपना है, यो अर्थज्ञान भी अन्य ज्ञानसे न ग्रहणमे आये और अपने विषयमे ग्राहक बन जाय। प्रयोजन यह कि जो भी ज्ञान बनता है किसी पदार्थ को जानने वाला वह ज्ञान खुदको जानता हुआ जाना करता है। एक ही रीति है ज्ञान के परिणमनकी। अधेरेमे रहकर कोई ज्ञान पदार्थोंको नही जाना करता है। उसका तो स्वयको प्रतीति होती है।

अग्रहीत ज्ञानसे पदार्थज्ञान माननेपर अनुमानकी असिद्धि—*यहाँ यह* बात सिद्ध की गई है कि ग्रहणमे न आये ज्ञान तो वह पदार्थको नही जान सकता इसपर शङ्काकार यह कह रहा था कि नही, जिस ज्ञानसे पदार्थको जान रहे है व

हमारे ज्ञानमे न आये तो भी पदार्थको जानते हैं, यदि ऐसा कह गे तो फिर हेतु, शब्द, सदृशता ये कुछ भी ग्रहणमे न आये फिर भी सब अनुमान आदिकसे जान लो। जब ज्ञान हमारे ग्रहणमे नही आये और पदार्थोंको जानते रहे हैं तो धुवां जाननेमें न आये फिर भी अग्निको जान लिया जाय, क्योकि अब तो अज्ञान ज्ञान भी पदार्थको जानने लगे। यदि यह कहो कि दोनो वातें पाई जाती हैं कोई चीज ग्रहणमे न आकर जान नही सकते। जैसे साधन धुवा आदिक ग्रहणमे न आये तो अग्नि आदिकका ज्ञान नहीं किया जा सकता, पर पदार्थको जानने वाला ज्ञान ग्रहणमे न आये तब भी पदार्थको जानता है। तो समाधानमे कहते हैं कि यदि हम ऐसा कहने लगे अर्थात् ये धुवां आदिक ग्रहणमे न आये तब भी जाना और अर्थ ज्ञान किया तब भी जाना तो इसमे क्या आपत्ति। आ गया ज्ञान ग्रहणमे आकर ही पदार्थको जानता है। जैसे धूम आदिक जानकर ही अग्नि जानी जा सकती है। देखा चक्षु आदिक तो अज्ञात होकर भी पदार्थको जानते हैं वहां ऐसी ही विधि है पर ज्ञान अज्ञात होकर पदार्थको नही जान सकता। ज्ञानका ज्ञान ज्ञात होकर ही अर्थात् जानकर ही अपने विषयको जान सकता है क्योकि वह ज्ञान है। यदि अप्रत्यक्ष भी विधि ज्ञानसे अर्थज्ञानकी प्रत्यक्षता हो जाय तो जो नही जाना गया ईश्वर ज्ञान उसका भी कुछ प्रत्यक्ष करले अथवा उस के द्वारा कोई अप्रत्यक्ष हो जाय तो यह सब अव्यवस्थित हो जायगा। प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका प्रकाश इस ही तरह फैलता है कि वह ज्ञान खुदको जानता हुआ अन्य समस्त पदार्थोंको जाना करे।

अस्वसंविदित ज्ञानवादमे तृतीय ज्ञानकी अनावश्यकताका शङ्काकार द्वारा प्रस्ताव — यदि प्रथम ज्ञान तो जाने चौकी आदिको और चौकी आदिका जानने वाला ज्ञान जाना जाय दूसरे ज्ञानमे तो वह दूसरा ज्ञान जाना जाय तीसरे ज्ञानसे कि यह ज्ञान सही है तीसरा ज्ञान भी सही है यह जान जाय चतुर्थ ज्ञानको यों अनवस्था दोषका वहुत बड़ा प्रसङ्ग होता है। अब इस सम्बन्धमे शङ्काकार यह कहता है कि अनवस्थाकी क्या बात इसमे? सिर्फ दो ज्ञानोकी जरूरत है। पहिले ज्ञानसे जाना पदार्थको और दूसरे ज्ञानसे जाना पदार्थके ज्ञानको कि यह ज्ञान सही है, तीसरेकी आवश्यकता ही नहीं, फिर अनवस्था दोष क्या आयगा? जब पदार्थके जाननेकी इच्छा हुई लो पदार्थका ज्ञान हो गया और उस ज्ञानके जाननेकी इच्छा हुई कि यह जो पदार्थ का ज्ञान किया गया यह ठीक है या नही? तो उसको समझनेके लिए दूसरा ज्ञान बना। अब उसके आगे कोई जरूरत है ही नही। काम सारा बन गया। पदार्थको जान लिया और पदार्थके जानने वाले ज्ञानको भी ठीक कर लिया। अब अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नही तो अनवस्था दोष कैसे आयगा? यह कहना ठीक नही क्योंकि तृतीय ज्ञान न बने तो द्वितीय ज्ञानका ग्रहण न हो तो वह प्रथम ज्ञानको कैसे जानेगा? अनवस्था दोष मिटाया नही जा सकता और ज्ञानको ही मान लीजिए दीपककी तरह कि अपनेको भी प्रकाश करदे और परको भी प्रकाश करदे। तब वहा कोई आपत्ति

नही रहती । ज्ञान स्वपरव्यवसायी होकर ही प्रमाण बन सकता है अन्यथा प्रमाण नही हो सकता ।

अस्वसंविदित ज्ञानवादमे तृतीय ज्ञानकी अनावश्यकताके कारणके सम्बन्धमे चार विकल्प—अच्छा यह बतलावो कि तुमने दो ज्ञान भर माने, पहिला ज्ञान । दूसरा ज्ञान । पहिले ज्ञानसे जाना पदार्थको और दूसरे ज्ञानसे जाना इस ज्ञान की सचाईको कि यह मेरा ज्ञान ठीक है । इसके आगे फिर दूसरे ज्ञानको जाननेके लिये तृतीय आदिक ज्ञानकी जरूरत नही है, अनवस्था नही होती । तो यह बतलावो कि तृतीय ज्ञानकी जरूरत नही रही या उत्पन्न नही हुआ तो क्यो नही हुआ । क्या पहिले ज्ञानसे जाना पदार्थको फिर दूसरे ज्ञानसे जाना इस ज्ञानको । बहुत शक्ति लगानी पडी सो इतनेसे ही थक गया । अब तृतीय ज्ञान लगानेकी जरूरत नही रही । पदार्थको जाननेके लिये एक ज्ञान और बना लो, बस इसके आगे अन्य ज्ञान मत पैदा करो । फिर किसी दूसरे तत्त्वको जानने चलें वहाँ भी ज्ञान बना लो । दो ज्ञानोका हुक्म है ऐसी ईश्वरने कोई रोक लगायी है क्या अथवा पदार्थको जान लिया और पदार्थको जानने वाले ज्ञानको भी दूसरे ज्ञानसे जान लिया अब इतनेमे किसी अन्य विषयपर ज्ञान पहुच गया तो अन्य विषयोमे ज्ञान ले जानेसे अब तृतीय ज्ञानकी जरूरत नही रही । क्या इस तरह विषयान्तरके संचारसे अनवस्था मिट जायगी अथवा भाग्य ही ऐसा है जिसके कारण दो ज्ञान तो पैदा होने लगते हैं फिर और ज्ञान नही बनता । किस तरहसे अनवस्था दोष मिटावोगे ? इसमे ये चार विकल्प रखे । बात सीधी और स्पष्ट है । थोडा ध्यान देनेसे सुगम हो जायगी । बात वहाँ यह रखी है कि पहिले तो हमने जाना कि यह चौकी है फिर एक ज्ञानसे जाना कि हमने चौकीका ज्ञान किया तो कि वह ज्ञान सही है ? यो दो ज्ञान प्रत्येक जीवके होने ही पडते हैं तब पदार्थका निर्णय होता है, यह शङ्काकारका कथन है और सभी जन यह कह रहे है कि जिस ही पहिले ज्ञानसे हमने चौकीको जान लिया वही पहिला ज्ञान चौकीको भी जान लेगा और खुदको भी जान लेगा । उसके लिये अन्य ज्ञानकी जरूरत नही होती । यदि अन्य ज्ञानकी जरूरत रहे तो फिर उसे जाननेके लिए भी अन्य ज्ञानकी जरूरत रही, तो यो अनवस्था होगा । उस अनवस्था दोषको दूर करनेके लिए शङ्काकारके ४ विकल्प हैं ।

जिज्ञासाक्षयसे व ईश्वर द्वारा निवारणसे भी अस्वसंविदित ज्ञानमे तीसरे ज्ञानकी अनावश्यकताकी असिद्धि अब अस्वसंविदित ज्ञानकी अनवस्था दूर करनेके लिये दिये हुए विकल्पोका निराकरण सुनो । जिज्ञासाका क्षय होनेसे अनावश्यक होनेसे तृतीय आदिक ज्ञान नही बनते है यह कहना यो युक्त नही है कि यदि तृतीय आदिक ज्ञान न बने तो पहिला ज्ञान तो सिद्ध नही हो सका, तो वह अपने विषयोको कैसे जाने ? तब पदार्थका ज्ञान ही नही हो सकता और फिर आत्मा तो

नित्य है। नित्य पदार्थमे शक्ति कैसे मिट जायगी। शक्तिम सदैव रहता है तो पैदा करते रहो ज्ञान। एक पदार्थको जाननेके लिये सारी जिन्दगी भर नये नये ज्ञान पैदा करते रहो। फिर तो यही व्यापार बन गया। यदि यह कहो कि ईश्वर रोक लगा देता है कि हे जगतके प्राणियो ! तुम लोगोको दो ज्ञानोका हुक्म है पहिले ज्ञानमे पदार्थको जान लो, दूसरे ज्ञानसे उस ज्ञानको ठीक करला ? अरे वह ईश्वर तो कृत-कृत्य है। वीतराग है, उसको किन्हीकी व्यवस्थाकी किन्हीके ज्ञानोके निवारणकी क्या जरूरत पडी है ? यदि कहा कि ईश्वरको परोपकारसे प्रयोजन है तो यह भी असगत वात है। रोक लगा दिया कि मत करो तीसरा ज्ञान, मगर द्वितीय ज्ञानके न जाने जानेसे प्रथम ज्ञान अज्ञात रहा, उससे फिर जीवोका उपकार तो नही हो सकता, इस कारण ईश्वर द्वारा निवारणमे अनवस्था नही मिटती।

विषयान्तर सञ्चार और भाग्यसे भी अस्वसविदित ज्ञानमे तृतीय ज्ञानकी अनावश्यकताकी असिद्धि यदि कहो कि किसी विषयमे ज्ञान लग गया अब वह परम्परा मिट गई, उसके लिये अन्य ज्ञानकी जरूरत नहीं रही तो सुनो— विषयान्तर सचारका अर्थ यह है कि जिसका ज्ञान हम कर रहे थे उसको छोडकर दूसरे ज्ञानमे लग जाये ता यह बतावो कि द्वितीय ज्ञानके होनेपर तृतीय ज्ञानका सन्नि-धान होना चाहिए ना। वह बना नहो, तो भले ही विषयान्तरमे ज्ञान चला जाय पर पहिला ज्ञान तो ठीक नही हो पाया। अनवस्था नही मिटती। यह म नना पडगा कि पदार्थको जानने वाला ज्ञान खुदको जानता हुआ पदार्थको जानता है। यदि कहो कि प्राणीका भाग्य ही ऐसा है जिससे दो ज्ञान हो पाते, फिर अन्य ज्ञान नही बन पाते। अरे भाई इससे भी अच्छा तो यह है कि तुम प्रत्येक ज्ञानको स्वसम्वेदी मान लो। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि वह खुदको जानते हुए पदार्थोंको जनाया करता है। मिथ्या अन्य अन्य कल्पनाऐं करनेसे क्या लाभ है ? यो अप्रत्यक्ष ज्ञानसे पदार्थकी सिद्धि न बन सकेगी। यदि ज्ञानको स्वसम्वेदी नही मानते, ज्ञान अपने आप ही अपने आपके स्वरूपका ग्रहण कर लिया करता है यो यदि ज्ञानको स्वपर प्रकाशक न मानोगे तो वह परपदार्थोका भी प्रकाश नहीं कर सकता। प्रत्यक्षसे तो तुमने सिद्धि मानी नही अप्रत्यक्षसे भी न होगी, क्योकि इसमे कोई हेतु नही है। इस कारण इन सब दोषोको दूर करनेकी इच्छासे तुमको यह मानना चाहिए कि दीपक की तरह ज्ञानमे स्वपरप्रकाशन करनेकी दो शक्तिया पायी जाती हैं अन्यथा वस्तुकी कोई व्यवस्था न बन सकेगी।

आत्माका ज्ञानस्वरूप माने विना आत्मा, मन और भाग्यकी भी असिद्धि—पदार्थ अपने स्वभावरूप होता है। आत्माका स्वभाव है ज्ञान। आत्मा ज्ञानरूप होता है और ज्ञानमे स्वपरप्रकाशनकी कला पडी है। अब जो लोग आत्माका स्वभाव ज्ञान नही मानते किन्तु ज्ञानको एक उपाधिकी चीज मानते, वे प्रकृतिसे

उत्पन्न हुआ ऐसा मानते। ज्ञान आत्मामे न्यारा है। ज्ञानका जब आत्मासे सम्बन्ध होता है तब आत्मा जाननहार बनता है। इसी प्रकार जो ज्ञानको और आत्माको जुदा जुदा माना करते है उनका न मन सिद्ध है न आत्मा सिद्ध है, न भाग्य सिद्ध है न व्यवस्था।

प्रतीतिसिद्ध ज्ञानतत्त्वको विपरीत स्वरूपमे रखनेके प्रयासकी निष्फलता – मूलभूत घटनामे एक झूठ बात रखदी, उसकी सिद्धि करनेके लिये सब झूठ बाते गढ़नी पडती है। वह झूठ फिर कसौटीपर खरी नही उतरती है। प्रथम झूठ यह मान लिया गया कि ज्ञान जुदी चीज है आत्मा जुदी चीज है और वह ज्ञान आत्माको जब मिलता है तब आत्मा जानने वाला बनता है। पहिली झूठ तो यह कही गई, दूसरी झूठ यह उडायी गयी कि वह ज्ञान जो पदार्थको जानता है वह स्वय अपने आपके ज्ञानस्वरूपको नही जान सकता। मैं यह ज्ञान सही हूँ ऐसा समझनेके लिये नया ज्ञान बनाना पडता है। दूसरी झूठ यह रखी गई, अब इस झूठका समर्थन किस प्रकार किया जा सकता ? जितनी भी युक्तिया दी जायेंगी वे सब सारहीन निकलेंगी। यो कुछसे कुछ कल्पनायें करके तो व्यवहार न बन सकेगा। सीधा सीधा काम चल रहा और अनुचित बात बनाकर व्यवस्था मिटाई जा रही है। कोई किसी बातकी कल्पनायें गढ ले और कुछसे कुछ कहे तो यह तो उसके मनकी बात है। जो ठीक सही व्यवस्था चल रही है उसके खिलाफ व्यर्थमे क्यो कल्पनायें उठाई जाये ? सब लोग जानते हैं, अनुभव करते है कि हम ज्ञानसे जानते है। बस एक ही ज्ञानसे काम बन जाता है। ज्ञानमे सशय आदिक कमी हो तो उसे दूर करनेके लिये अन्य ज्ञान बनाने पडते हैं, किन्तु प्राय जो जानते हैं ठीक जानते है तो उस हीके ज्ञानसे पदार्थ भी ज्ञान लिया जाता और वह ज्ञान भी जान लिया जाता कि यह ठीक ज्ञान है। ज्ञानका स्वभाव है खुदको प्रकाशित करे और परको भी प्रकाशित करे। केवल परप्रकाशक ज्ञान हो यह बात नही है। केवल परप्रकाशक प्रदीप कही देखा गया ? जो खुद प्रकाशमान न हो वह दूसरेको क्या प्रकाशित करेगा ? तो सीधा सही जो रूप है ज्ञानका वही मान लेना चाहिये।

प्रमाणस्वरूपका प्रतिपादन—इस ग्रन्थमे सर्वप्रथम सूत्रमे प्रमाणका स्वरूप कहा गया है। जो स्व और परका निश्चय करने वाला ज्ञान हो वह ज्ञान प्रमाण है। उस प्रमाणके स्वरूपको ठीक करनेके लिये अब तक प्रतिपादन चल रहा है। प्रत्येक विशेषणका समर्थन किया गया है। प्रमाण ज्ञान ही क्यो होता, अज्ञान प्रमाण क्यो नही होता ? यो नही होता कि ज्ञान ही हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमे समर्थ है। अच्छे काममे लगा दे बुरे कामसे हटा दे ऐसी कला है ज्ञानमे। और, यह ज्ञान इष्ट और अनिष्ट पदार्थका ज्ञान कर लेता है। अतएव पदार्थका व्यवसाय करने वाला और वह ज्ञान स्वका भी निर्णय रखता है। तो उन सब विशेषणोमे इस समय

स्वसम्वेद्यका विश्लेषण किया जा रहा है। ज्ञान स्वका निश्चय रखता है, इसके विरोध मे एक सिद्धान्त ज्ञानको सर्वथा परोक्ष मानता है और एक सिद्धान्त यह मानता है कि वह ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। लेकिन दोनो ही बातें सही नहीं हैं। सही यह तत्त्व है कि ज्ञान स्वको समझता हुआ पर पदार्थोंको जाना करता है। अपने आपका भी अनुभव करके देख लो – यदि ऐसा न होता तो पदार्थको जाननेके ही साथ सन्तोष क्यो हो जाता कि मैंने ठीक जाना। पदार्थोंको जाननेके सम्बन्धमें ऐसा अपने आपमे सन्तोष रहता है कि मैं ठीक रास्तेपर हूँ मैंने सही सही सब जाना है। यह अन्दरमे अनुग्रह रहता है। यह भी यहाँ सिद्ध करता है कि पदार्थका ज्ञान करते समय ही हम उस ज्ञानसे उस ही ज्ञानको जान जाया करते हैं कि यह ज्ञान सही है। इस तरह ज्ञान अपना स्वरूप समझता है और यह भी निर्णय रखता है कि ज्ञान स्वयको भी जानता है और पर पदार्थोंको भी जानता है।

प्रकाशके स्वरूपके विकल्प उठाकर ज्ञानस्वरूपकी असिद्धिका प्रयास– ज्ञानका स्वरूप इस प्रसङ्गमे दृष्टान्तपूर्वक यो रखा गया था कि ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, जैसे प्रदीप स्वपरप्रकाशक है। इसके विरोधमे शङ्काकार यह शङ्का रख रहा है कि वह स्वपरप्रकाशकपना क्या बोधरूप है या भासुररूप अर्थात् चमकरूप। यदि स्वपर प्रकाशकका अर्थ बोधरूप अर्थ करते हो तो यह बात दृष्टान्तमे नही पायी जाती अर्थात् प्रदीप बोधरूप स्वपरप्रकाशक नही है। जब दृष्टान्तमे साध्य नही रहा तब दृष्टान्त सही नही। और, यदि स्वपरप्रकाशकका भासुर रूप करने हो प्रकाशरूप, यहाँ भी चमक दमक होना यह अर्थ करते हो तो यह भासुररूपता ज्ञानमे सम्भव नही है तब साध्य कैसे बनेगा? शङ्काकारने यह बात रखी कि स्वपरप्रकाशकका अर्थ तुम क्या करते हो स्व और परका प्रकाश करने वाला? तो क्या स्व और परका प्रकाश ज्ञानरूपसे अर्थ लेते हो या जैसे प्रदीप उजेला करता है इस उजेला करने रूप अर्थ लगाते हो? यदि ज्ञानरूप अर्थ लेते हो तो यह अर्थ दीपकमे घटित नही होता। दीपकमे ज्ञान कहाँ? यदि उजेला ही अर्थ करने हो स्वपरप्रकाशकका तो उजेला ज्ञानमे नही पाया जाता। तब न समझना ठीक बैठा और न सिद्धान्त।

प्रकाशका सर्वसाधारण अर्थ—अब उक्त शकाका उत्तर देते हैं कि प्रकाश का अर्थ है स्व और परको प्रकाशित कर दे, इतना ही अर्थ प्रकाशका है। अब यह प्रकटपना कही ज्ञानरूपसे है कही उजेलारूपसे है, पर मूल अर्थ तो स्वपरका प्रकट कर देना है। वह प्रकटन दोनों जगह पाया जाता है। भले ही ज्ञानमें बोधरूपसे है और प्रदीपमें उजेलाके रूपमे अतएव इसमे कोई विरोध नही आता। ज्ञान अपने द्वारा ही जाना जाता है। ज्ञानको जाननेके लिए नये ज्ञानके करनेकी जरूरत नही होती। इस प्रकरणका आज यह अन्तिम प्रसङ्ग है।

स्वसंविदित ज्ञानकी स्वप्रकाशक शक्तियोको ज्ञानसे भिन्न और अभिन्न

विकल्पितकर शकाकार द्वारा ज्ञानकी स्वसवेदिताके निराकरणका प्रयास—अब शकाकार एक शका रख रहा है कि यह बतावो कि ज्ञान स्व और परका प्रकाशक है तो क्या जिस स्वभावसे ज्ञान स्वका प्रकाश करता है और जिस स्वभावसे पदार्थका प्रकाश करता है ये जो ज्ञानमे दो स्वभाव हैं वे दोनो स्वभाव ज्ञानसे भिन्न हैं या अभिन्न? ज्ञान जिस शक्तिसे स्वको जाने और जिस शक्तिसे परको जाने ये दोनो शक्तिया क्या ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि कहो कि अभिन्न है तो अभिन्न होनेपर या तो स्वभाव ही रहेगा या ज्ञान ही रहेगा क्योकि एक होनेसे, एक का दूसरेमे प्रवेश है । जिस किसी भी वस्तुका स्वरूप उस वस्तुसे अभिन्न है तो वस्तु और स्वरूप क्या जुदी चीज नही हैं ? किन्तु वस्तुमे स्वरूपमात्र है, क्योकि अभिन्नमे एक दूसरेमे प्रविष्ट है । अलगसे किसी की सत्ता नही है । तो वे दोनो स्वभाव ज्ञानके अतिरिक्त जिस स्वभावसे स्वको जाने और जिस स्वभावसे परको जाने वे दोनो स्वभाव ज्ञानसे अगर अभिन्न है तो या तो ज्ञान ही ज्ञान मानो या वे दोनो स्वभाव ही मानो । फिर ज्ञानमे स्वपर प्रकाशक शक्ति है यह तो सिद्ध नही हो सका । यदि यह कहो कि ज्ञान जिस शक्तिसे खुदको जानता है और जिस शक्तिसे पर अर्थको जानता है वे दोनो शक्तिया ज्ञानसे भिन्न है तो प्रथम तो भिन्न होने पर यह इसकी शक्ति है यह ही कैसे बनेगा, और खैर मान लो तो यह बतावो कि वे दोनो शक्तिया स्वसम्विदित हैं या अपने आधारभूत ज्ञानसे विदित है ? ये दो प्रश्न शङ्काकारने किये हैं । यदि कहो कि वह शक्ति खुद अपने आपको जान लेती है तो वहाँ अब तीन स्वसम्वेदी ज्ञान हो गए । एक वह ज्ञान जो पदार्थको और अपने आपको जानता है और वे दोनो शक्तिया उस ज्ञानकी प्रकाशक हैं । जब तीनो ने अपने आपको स्वत जान लिया फिर वहाँ कुछ भी यह प्रश्न करे कि दोनोमे भी दो दो शक्तिया होगी, जिस शक्तिसे परको जाना तो उसमे भी प्रश्न बढा लीजिए । यो कही ठहर न सका, सर्वथा दोष आयगा । यदि कहो कि वे शक्तिया आश्रयभूत ज्ञानको जान जाती हैं तो उन शक्तियोके विषयमे भी फिर दो शक्तियोकी कल्पना होगी । यो यहाँ कुछ भी व्यवस्था नही बन सकती । ऐसा शङ्काकार कह रहा है ।

अनेकान्तवादमे भिन्नता और अभिन्नताके दोषका अनवकाश—अब उक्त शकाका उत्तर देते हैं कि ये सब शकाएँ तो तुम्हारे एकान्तमे सम्भव हैं, यहाँ अनेकान्तमे ये शकायें स्थान नही पाती हैं । ज्ञानकी वे शक्तियां जिस शक्तिसे ज्ञानने स्वपरको जाना यह शक्ति ज्ञानमे कथचित भिन्न और अभिन्न है अभिन्न तो प्रकट है वह शक्ति ज्ञानसे जुदी कुछ नही है, ज्ञानरूप ही है और चूँकि नाम दूसरा है प्रयोजन दूसरा है, स्वभाव स्वभाववानका व्यवहार है इस दृष्टिसे शक्तिया ज्ञानसे भिन्न हैं । और फिर यो अनर्गल प्रश्न करके कुछ भी तत्त्व नही बनाया जा सकता । जैसे तुम हाथसे कुछ काम करते हो तो वह हाथ तुमसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उसमे काम नही कर सकते और यदि अभिन्न है तो हाथ रहेगा या तुम । यो भिन्न अभिन्न का प्रश्न बनाकर जिस चाहेका बिगाड कर लेनेसे व्यवस्था नही बन सकती । बतावो

तुम्हारी जिह्वा तुमसे भिन्न है या अभिन्न ? अगर भिन्न है तो तुम स्वा ही कैसे सकते। जीभ जुदा है तुम जुदा हो और यदि अभिन्न है तो जीभ रहे या तुम, फिर तुम खावोगे क्या ? भिन्न अभिन्नका प्रश्न करके तुम जिस चाहे कामको बिगाड दो पर यहाँ बिगाड उनका ही हो सकता है जो एकान्तवादी है, अनेकान्तमें तो सबके उत्तर मिलते हैं यह जिह्वा तुमसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। भिन्न तो यो है कि हम तो हैं अङ्गी समस्त शरीर वाले और जिह्वा है एक अङ्ग। और, अभिन्न यो हैं कि हमारे शरीरसे अतिरिक्त कही जिह्वा नही पडा है।

ज्ञानकी स्वप्रकाशकताकी सिद्धि— भैया ! अनेकान्तमें तो सब समाधान मिल जायगा। भिन्नता व अभिन्नताका दोप तो एकान्तमे ही सम्भव है। स्वपरप्रकाश करनेका स्वभाव और स्वपरप्रकाश करने वाला ज्ञान इन दोनोमें अभेद है क्योंकि स्व-परप्रकाशमय ही ज्ञान है और भेद भी है, क्योंकि यह तो स्वभाव बताया और वह है ज्ञानस्वभाववान। तो संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिसे भेद बनता है और स्वरूप चूकि वही है इससे अभेद बनता है। अभेद यो है कि अपनेको और परको जाननेका जो स्वभाव है वह तो ज्ञानका सामर्थ्य है और सामर्थ्य परोक्ष हुआ करता है। शक्तिका किसे पता प्रत्यक्षरूपसे ? जैसे मान लीजिये किसी पुरुषमे दो हाथ पत्थरकी शक्ति है तो उसका प्रत्यक्षमे किसे पता ? वह शक्ति, वह सामर्थ्य तो परोक्ष है और उस शक्ति का जो विकास होता है वह प्रत्यक्ष होता है। समस्त भावोकी सामर्थ्य क्रियाके द्वारा अनुमानमें आती है। लो इस मोटरमे २५ घोडोकी शक्ति है। अरे, दिखावो तो नही कि कहाँ वह शक्ति है ? तो वह शक्ति प्रत्यक्ष नही है, उसे तो क्रियारूपसे दिखाकर बताया जा सकता है। और, फिर यह तो ज्ञानका स्वरूप बताया है कि ज्ञान स्वपर-प्रकाशक है, किन्तु जो मोही जीव है, छद्मस्थ ज्ञानी जीव हैं उनके अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग अर्थ एकान्तसे प्रत्यक्ष नही है पर स्वरूपसे वे भी प्रत्यक्ष हैं। अतएव प्रमाणको, ज्ञानको स्वपरप्रकाशक ही मानना चाहिए। ज्ञान परका ही प्रकाश करता है स्वयका नही, यह बात युक्त नही बैठती। इस तरह प्रमाणके स्वरूपमे प्रतिलोप क्रिया से अर्थात् प्रमाणके स्वरूपका जो वाक्य बनाया उसमे जो अन्तिम शब्द है पहिले उसका विवेचन, फिर उसके पीछेका जो शब्द है उसका विवेचन, इस तरह सबका विवेचन किया और अन्तमे आदि अक्षर जो स्व है उसका विवेचन चला कि ज्ञान स्वका प्रकाशक है, इसी अर्थका समर्थन करते हुए आचार्यदेव दो सूत्रोंने करते हैं —

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥ ११ ॥

प्रदीपवत् ॥ १२ ॥

ज्ञानस्वरूपके स्वसंवेदनका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन— कौन ऐसा पुरुष है— लौकिक हो, परीक्षक हो, ऐकान्तिक हो, दार्शनिक हो, कौन ऐसा पुरुष है जो ज्ञानके

द्वारा प्रतिभासमे आने वाले पदार्थोंको तो प्रत्यक्ष स्पष्ट माने और उस ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानें जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थ प्रत्यक्षमे आने, अर्थात् ऐसा कोई बुद्धिमान पुरुष न होगा। जैसे प्रदीप को कोई यो मान लेगा कि भाई प्रदीपके द्वारा ये पदार्थ तो प्रकाश मे आ गये पर दीपक प्रकाशमे नही आया खुद प्रकाशमे न आये हुए अर्थात् खुद प्रकाश रूप जो नही है ऐसा किसी पदार्थके द्वारा क्या पर पदार्थ प्रकाशमे आ सकते हैं ? नही आ सकते। तो ऐसा क ई पुरुष नही है जो यह मान सके कि जिसके द्वारा प्रतिभास हो रहा पदार्थका, सो पदार्थ तो प्रकट है, स्पष्ट है, समझमे है और जिसके द्वारा समझ बनी है वह अत्यन्त परोक्ष है, उसका ज्ञान होता ही नहीं । यह बात कोई नही मान सकता प्र ये क विवेकी जीव जैसे प्रदीप को स्वपर प्रकाशक मानते हैं इसी प्रकार अपने आपका जाननहार पोकर हो पर पदार्थोंको जानता है।

ज्ञानमय निजतत्त्वके ज्ञानकी स्वत सिद्धता—देखिये, अपनी बात अपने मे अपनेपर गुजरती है। और, वह अपनेको भली तरह विदित होती है। जैसे सुखका भान तो न हो और हम सुखी हो जाये ऐसा कही हो सकता है, अथवा दु खका अनुभव तो न हो और दु खी कहलायें तो यह कैसे हो सकता है। ज्ञानका जानन अनुभवन हमपर हो नही और जान जाये कि हमे पर पदार्थोंका ज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसा कोई नही मान सकता। तो चूँकि जो स्वप्रकाशी है वही परप्रकाशक होता है इस कारण इस अर्थमे, इस प्रसङ्गमे प्रदीपको दृष्टान्तरूपमे रखा है। इस प्रदीपकी बातको लौकिक जन भी मान लेगे और परीक्षक भी। किसी भी घटनाको सिद्ध करनेके लिये दृष्टान्त वह दिया जाता है जिसको समझाना है वह भी विवादरहित मान ले और जो समझा रहा है वह तो मानता ही है। हा जिस बातको सिद्ध करनेके लिये दृष्टान्त दिया जाता उसको प्रतिवादी नही मान रहा है पर जो दृष्टान्त देकर मनाया जाय, दृष्टान्त दोनोको सम्मत होना चाहिए। प्रदीपमे अथवा समस्त पदार्थोंमे यह खासियत है कि अपने आप का प्रकाश करते हुए ही परका प्रकाशक होता है। जैसे प्रदीपके निकट प्रकाशता हुए बिना प्रदीपके द्वारा प्रतिभासित बाहरी पदार्थ न बन सकेगे इसी प्रकार प्रमाणभूत ज्ञानकी प्रत्यक्षता आये बिना ज्ञानके द्वारा प्रतिभासित पदार्थकी प्रत्यक्षता, स्पष्टता नही बन सकती।

ज्ञानमे ही प्रमाणत्वकी सिद्धि—इस परिच्छेदमे अब तक यह सिद्ध किया गया है कि प्रमाण क्या होता है, कैसा होता है ? उसका लक्षण बताया है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है। वाक्य कितना छोटा है। स्व अपूर्व अर्थका प्रकाश करे—वह ज्ञान प्रमाण है ये ५ शब्द हैं प्रमाणके स्वरूप मे। उन ५ विशेषणोको सिद्ध करनेके लिये अब तक इसका कथन हुआ है। प्रतिलोम पद्धतिसे विचार करो, ये ५ शब्द मान लीजिए, जिसका स्वरूप कहा जा रहा है उस को भी मान लीजिए प्रमाण ज्ञान ही होता है अज्ञान नही। आप सोचते होंगे कि

क्या कोई लोग अज्ञानको भी प्रमाण कहते हैं जिससे यह जोर दिया जा रहा है कि प्रमाण ज्ञान ही होता अज्ञान नहीं होता, हाँ मानते है बहुतसे लोग । व्यवहारीजन भी इतना तो मानते हैं । कोई जज पूछता है कि यह मकान तुम्हारा है इसका प्रमाण क्या है ? तो झट रजिस्ट्री किया हुआ कागज आगे रख देते हैं और कहते हैं कि यह प्रमाण है अथवा द्वारसे जाकर कोई गवाह बुला लाते हैं और कहते हैं कि यह गवाह प्रमाण है । अरे ये कागज और गवाह दोनो अप्रमाण हैं । हाँ कागज और गवाहको देखकर जजमें जो ज्ञान बना वह प्रमाण है । गवाहके द्वारा कहे हुए वे वचन भी प्रमाण नही है, वे वचन भी अज्ञान हैं । प्रमाणके लिये अनेक अजीव सामने रख देते हैं और कहते हैं कि यह प्रमाण है । अरे वह प्रमाण नहीं है ।

स्वपरव्यवसायी ज्ञानमे प्रमाणत्वकी सिद्धि – प्रमाण तो ज्ञान ही होता है । और, वह ज्ञान निश्चयात्मक होता है । संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ये प्रमाण नही हैं और वह प्रमाण पदार्थका निश्चयात्मक होता है । अरे, तो क्या कोई लोग ऐसा भी मानते हैं कि जो पदार्थका निश्चय वाला ज्ञान न मानें ? हाँ, हैं कुछ सिद्धान्त, वे मानते हैं कि पदार्थका तो निश्चय होता ही नही, विश्वमे पदार्थ है ही नहीं । जो कुछ है वह ज्ञान ही ज्ञान है । ज्ञान ज्ञानका ही निश्चय करता है । इस समस्याको सुलझाने के लिए पदार्थका निश्चय बताया है और वह पदार्थ अपूर्व होता है । एक चौकीको हम ५० बार रटते हैं—चौकी, चौकी तो यह ज्ञान प्रमाण नही बताया । तुमने जो जान लिया पहिले वह प्रमाण है । अब उसका ही प्रलाप करते रहना तो तुम्हारी उद्दण्डता है । धारावाही ज्ञान प्रमाण नही है । और, फिर वह ज्ञान स्वका निश्चय करे सो प्रमाण है । अनेक लोग ज्ञान ज्ञानका निश्चय नही रखता ऐसा मानते हैं । किन्तु जो ज्ञान खुदका भान रखता है उसी ज्ञानके द्वारा परपदार्थोका भान हुआ करता है । इस प्रकार यहाँ तक प्रमाणके स्वरूपका वर्णन किया गया है जिस प्रमाणके द्वारा प्रतिवादीके अपसिद्धान्तकी खोटी मान्यताओंका निराकरण किया जायगा । यहाँ तक प्रमाणके स्वरूपका वर्णन हुआ, अब आगे प्रमाणकी प्रमाणता कैसी होती है ? इसका वर्णन किया जायगा ।

परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

[सप्तम भाग]

[प्रवक्ता— अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
"सहजानन्द" महाराज]



प्रामाण्यकी उत्पत्तिविधिकी जिज्ञासा— प्रमाणके स्वरूपका निर्णय तो किया जा चुका है, जो स्वयका और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये ऐसा ज्ञान प्रमाण होता है, अब उस प्रमाणकी प्रमाणताके सम्बन्धमे निर्णय किया जा रहा है कि प्रमाण की प्रमाणता स्वय अपने आप हो जाती है या परसे हुआ करती है अर्थात् यह ज्ञान बिल्कुल ठीक है जिसे जाना है, जो पदार्थ है उस पदार्थके अनुरूप ही यह ज्ञान है इस प्रकार ज्ञानकी प्रमाणता करना, यह स्वत होता है अर्थात वही ज्ञान निर्णय बना लेता है या अन्य ज्ञानसे प्रमाणता होती है, इस सम्बन्धमे आचार्यदेव सिद्धान्त रख रहे हैं—

तत्प्रामाण्य स्वत परतश्च ॥ १३ ॥

प्रामाण्यकी उत्पत्तिविधिका निर्णय— जो पहिले प्रमाणका लक्षण कहा गया, स्वपर व्यवसायी ज्ञानप्रमाण है उस ज्ञानरूप प्रमाणकी प्रमाणता स्वत भी होती है और परसे भी होती है, इस प्रसगमे दो बातें समझना है एक तो प्रमाणमे प्रमाणताकी उत्पत्ति होना और एक प्रमाणमे सही जानकारी होना और ऐसी जानकारी बनना जिस जानकारीके कारण यदि पदार्थोंमे लगता है तो लग सकें और हटना है तो हट सकें। इनमेसे प्रमाण की उत्पत्ति तो परत होती है, पर प्रमाणमे ऐसी जानकारी जो प्रवृत्ति और निवृत्तिका कारण बने वह कही स्वत होती है और कही परसे होती है।

अभ्यास दशामे प्रामाण्यकी उत्पत्तिविधि— देखो भैया ! जिस गलीमे से रोज गुजरते हैं दूसरे गाँवको जानेके लिए उस रास्तेमे लगी प्यास तो चलते चलते जो पानीका ठिकाना है, जहा कुवा है, नदी है तालाब है अथवा हैण्डपाइप है उसके निकट पहुँचकर झट जान लेते हैं कि यह है जलाशय। यह है पानी। ऐसा जो ज्ञान बना उस ज्ञानमे किसी पर युक्तिकी प्रमाणकी जरूरत नही पडी। क्योकि रोज वहाँसे निकलते थे, अभ्यास था, जानकारी पक्की हो गयी कि यह है पानी अथवा न भी रोज निकलते थे किसी अनजान रास्तेसे जा रहे हो और सडकके निकट ही पानी भरा दीखा तालाब दीखा तो झट जान गए कि यह पानी है। तो यह जो पानीका

ज्ञान हुआ यह स्वत हुआ और जानकर झट उस ओर चल दिया, प्रवृत्ति भी हो गयी, तो वह प्रमाणता स्वत हुई है। अथवा रास्ता चलते एक बिच्छू नजर आया, बिच्छू नजर आते ही जान गए कि यह बिच्छू है, तो इस प्रकारके ज्ञानमे जो प्रमाणता आयी, पक्कायत आयी हाँ है, मेरा ज्ञान ठीक है, इस प्रकार ज्ञानमे जो पक्कायत हुई है वह स्वत हुई है ये अभ्यास-दशाकी नजीरें हैं। अभ्यास-दशामे प्रमाणकी यह प्रमाणता स्वत हुआ करती है।

अनभ्यास दशामे प्रामाण्यकी उत्पत्तिविधि अब अनभ्यास दशाकी बात देखो—किसी मार्गसे चले जा रहे हैं, प्यास लगी है, पानीकी खोज कर रहे हैं, किस जगह पानी है ? कही थोडी सी एक ओरसे मेढकोको आवाज आयी तो हम सोचते हैं अनुमान लगाते हैं कि पानी इस ओर होगा क्योंकि मेढकोकी आवाज आ रही है। जरा उस ओर दृष्टि दिया थोडा चले कि रास्तेमे दो एक जगह टूटी फूटी खपरिया पडी थीं। उनसे कुछ निर्णय हुआ कि यहा पानी होना चाहिए। फिर थोडा चले कि कुछ लोग पानी भरकर आते हुए दिखे अब यह निर्णय हो गया कि यहाँ पानी जरूर होना चाहिए। बादमे पानी भी दिख गया। तो यह पानीमे ज्ञान हुआ और उसमे प्रमाणता आयी कि हाँ यह पानी है। यह प्रमाणता कितनी देर बाद आयी ? और, अन्य अन्य साधनोको निरखकर आयी क्योंकि यह अनभ्यास दशा थी, परिचय न था, अपरिचित जगह थी अपरिचित अवस्थामे प्रमाणकी प्रमाणता परसे उत्पन्न होती है।

प्रामाण्यकी उत्पत्ति और ज्ञप्तिका विश्लेषण—प्रामाण्यके सम्बन्धमे यह सिद्धान्त बना कि ज्ञानसे जो कुछ जाना उसकी प्रमाणता पक्कायत, हाँ यही ठीक है, मेरा ज्ञान सही है, इस प्रकारकी प्रमाणता होना अभ्यास दशामे तो खुद-बखुद है और अनभ्यास दशामे, अपरिचयकी जगहमे परसे हुआ करती है। लेकिन, भीतर जो किसी ज्ञानको, यह प्रमाण है, क्या ऐसी उसकी प्रमाणता ठीक करनेके लिए जो वृत्ति जगती है वह एक भिन्न ज्ञान है याने अन्य ज्ञानसे प्रमाणता बनी अथवा चक्षु आदिक इन्द्रिय निर्दोष हैं उन परसे उत्पन्न हुई है। इस प्रसङ्गमे यह बताया जा रहा कि ज्ञान जानता है, पर ज्ञान ठीक जान रहा है उसकी प्रमाणता जिस निमित्तसे ज्ञान होता है उस पर से उत्पन्न होती है, मगर ज्ञप्तिकी क्रियामे जाननकार्यमे और जाननका फल है अनिष्टसे हट जाना, इष्ट पदार्थमे लग जाना, इस प्रकारकी प्रवृत्ति और इन्द्रियके अर्थ होने वाला ज्ञान ये परिचयकी स्थितिमे स्वत होते हैं और अपरिचयकी स्थितिमे परत होते हैं।

सर्वथा स्वत प्रामाण्य मानने वालोके प्रति विकल्प—कुछ लोग सभी प्रमाणोका प्रामाण्य स्वत मानते हैं याने प्रमाणमे प्रमाणता स्वय अपने आप बन जाती है। उनसे यह पूछना चाहिए कि प्रमाणकी प्रमाणता स्वत होती है। इसका तात्पर्य है क्या ? क्या प्रामाण्यकी उत्पत्ति स्वत होती है अथवा प्रमाणकी ज्ञप्तिमे प्रमाणता स्वत होती है अथवा प्रमाणका जो स्व कार्य है प्रवृत्ति रूप क्या उसमे

प्रमाणता स्वत होती है ? ये तीन विकल्प किए गए। देखिये यह विषय किसी जमानेमे बहुत चर्चाका था व एक दार्शनिक युग था। जिस समय दर्शनके सिद्धान्तके मत-मतान्तरकी चर्चा आपसमे बहुत की जाती थी। उस जमानेके एक कवि द्वारा बताई गई घटना सुनिये—एक बार कोई पुरुष बडा विद्वान मण्डन मिश्र नामका किसी विद्वानसे शास्त्रार्थ करनेके लिये चला। मण्डन मिश्रके गावमे पहुचा। उस जमानेमे शास्त्रार्थका बडा जोर था, वस्तु स्वरूपके सम्बन्धमे धर्म, चर्चाके प्रसङ्गमे जगह जगह चर्चायें चलती थी। विद्वानोका बडा प्रचार था और विद्वानोमे यह उत्सुकता रहती थी कि मैं किसी विषयपर चर्चा करूँ और उस विद्वानकी बातका खण्डन करूँ, अपनी बातका समर्थन करूँ, ऐसे युगकी बात कह रहे हैं। वह विद्वान मण्डन मिश्रके ग्राममे तो पहुँच गया पर मण्डन मिश्रका घर कौन है यह न जान सका। तो रास्तेमे एक कुएपर कुछ महिलायें पानी भर रही थी। उस पुरुषके प्यास लगी थी सो उस कुवेपर पहुँचा, महिलावोमे कहा कि हमे पानी पिला दो। महिलावोने पानी पिला दिया। अब वह पुरुष उन महिलावोंसे पूछता है कि मण्डन मिश्रका घर कौन सा है ? तो एक महिला जवाब देती है —

> स्वत प्रमाण परत प्रमाण कीराङ्गना यत्र गिरो गिरन्ति।
> शिष्योपशिष्यैरुपगीयमानमवेहि तन्मण्डनमिश्रधाम ।

उस जमानेमे स्त्रिया भी संस्कृतकी बडी विदुषी होती थी। स्त्री जवाब देती है कि जिस दरवाजेपर तोतोकी स्त्रिया यह बोल रही हो कि स्वत प्रामाण्य होता है परतः प्रामाण्य होता है, और जिस दरवाजेपर शिष्य और उपशिष्य सिद्धान्तकी चर्चा कर रहे हो वह है मण्डन मिश्रका घर। यह बता दिया स्त्रीने। इस प्रसङ्गमे जानने योग्य बात क्या कही कि इतनी चर्चा थी इस विषयकी कि प्रमाणकी प्रमाणता स्वत होती है या परसे होती है इस चर्चाको सुन सुनकर तोतिया भी यह गाना गाने लगी थी। तोते तो दोहा तक भी बोल लेते है एक तोता है 'चित्रकूटके घाटपर, भई सननकी भीर। तुलसिदास चन्दन घिसैं, तिलक देत रघुवीर' यह दोहा तोता भी बोल लेता है और बल्कि इसी तरह जैसे मनुष्य बोल लेते हैं - और बाते भी बोल लेते हैं। तो उस समय स्वत प्रमाण है, परत प्रमाण है इसकी इतनी अधिक चर्चा चलती थी कि तोतोकी तो बात क्या तोतिया भी यही बोलने लगी थी। वही विषय चल रहा है। जो चाहे आज सुननेमे नवीनसा लगता है, कठिनसा लगता है पर यह कितनी चर्चाका विषय था यह बतानेके लिये घटना सुनायी है।

स्वत. प्रामाण्यके पक्षमे प्रश्न ज्ञान प्रमाण होता है सभी लोग कहते है और अप्रमाण भी होता है। जिसे एक अपनी भाषामे यो कह देते कि तुम्हारा ज्ञान ठीक है और सैद्धान्तिक भाषामे यो कहते है कि आपका ज्ञान प्रमाणभूत है। कभी कहते हैं कि आपका ज्ञान ठीक नही है। उसे कहना चाहिए सैद्धान्तिक भाषामे कि आपका

ज्ञान अप्रमाण है। ज्ञानकी यह प्रमाणता, उसे सही करार करना यह स्वत होता है या परसे उत्पन्न होता है यह पूछा जा रहा है। सिद्धान्त यह है कि प्रमाणताकी उत्पत्ति तो परसे होती है, मगर उस प्रमाणमे जो जानकारी होती है, स्वसे सम्बन्धित जो प्रकाश होता है जिससे यह मनुष्य इष्टमे लग जाता है, अनिष्टसे हट जाता है वह प्रमाणता अभ्यास दशामे तो स्वत होती है और अनभ्यास दशामे परत होती है। इसके विरोधमे जो लोग प्रमाणकी प्रमाणताको स्वत मानते हैं उनसे पूछा जा रहा है क्या प्रमाणकी प्रमाणता उत्पत्तिमे स्वत है या जानकारीमे स्वत है या प्रवृत्ति निवृत्ति कर सके ऐसे विवेकमे स्वत है।

स्वत प्रामाण्यके पक्षका प्रतिविधान—यदि कहो कि प्रामाण्य उत्पत्तिमे स्वत होता है तो स्वत प्रामाण्य उत्पन्न होता है इसका अर्थ क्या है? क्या अन्य कारणोके बिना आत्मासे ही स्वत हो जाती है वह प्रामाण्यकी उत्पत्ति अथवा अपने आपके उसी ज्ञानसे जिस ज्ञानसे ज्ञान हुआ है उस हीसे प्रामाण्यकी उत्पत्ति हो जाती है अथवा केवल ज्ञानमात्रमे अपनी ही सामग्रीसे स्वरूपसे उसकी उत्पत्ति हो जाती है। यदि कहो कि आत्मा हीमे प्रमाणकी प्रमाणता उत्पन्न हो जाती है तो फिर उसमे देश कालका नियम नही बना। मैंने चौकीका ज्ञान किया और यह ज्ञान प्रमाण है, यह अलग-अलग नही कह सकते। क्योकि प्रमाणता तो आत्मासे मानने लगे, वहीसे उत्पन्न होता और आत्मा है नित्य सर्वव्यापक तो सर्व ज्ञान प्रमाण हो जाना चाहिए। फिर यह नही कह सकते कि यह ज्ञान तो प्रमाण है और यह ज्ञान अप्रमाण है। देखिये! हम किसी चीजको जानते है, जानते ही हमे ज्ञान हुआ है। यह ज्ञान है उससे जान रहे हैं, यह बात तो तुरन्त भानमें आती है, चाहे हम इन शब्दोमें बोलें या न बोलें इस विधिका नाम तो है प्रत्यक्ष। ज्ञान प्रत्यक्ष हो गया। ज्ञान मुझमे ही हुआ ना, तो मेरेसे गुजरा ज्ञान। मेरेसे हटकर अलग होकर मेरे अनुभव बिना मेरी गैर जानकारीमे कोई सा ज्ञान उत्पन्न नही होता। यह तो सिद्धान्त इससे पहिले सूत्रमे आया था। अब यहाँ इस बातको कह रहे हैं कि यह ज्ञान मेरा सही है। इस प्रकार प्रामाण्य निर्णयका निर्णय करना, इस प्रमाणताकी उत्पत्ति निर्दोष गुणवान साधनरूप इन्द्रियादिक परसे होती है।

स्वत व परत प्रामाण्यका विवेक—पहिले एक दार्शनिकने यह सिद्धान्त रखा था कि ज्ञान ज्ञानान्तरके द्वारा जाना जाता है। उसका तो निराकरण किया था कि नही, ज्ञान स्वयको जानता है, पर यहाँ उस प्रमाणताकी उत्पत्तिकी बात कह रहे हैं। यद्यपि केवल जाननरूपमे स्वत प्रमाणता बन जाती है किन्तु जब उसे समझाने बैठें अथवा अपने आपमे उसका विश्लेषण करने बैठें तो उस ज्ञानकी प्रमाणता अन्यसे करणसे होती है उत्पत्तिकी अपेक्षा। लौकिक जनोमे प्रमाणता कभी अभ्यास दशामे स्वत होती है और अनभ्यास दशामे परत होती है। जो ग्रन्थ आप कई बार पढ चुके

हैं और विधि सहित पढ चुके हैं उस ग्रन्थके बाँचनेमे, पढनेमे, समझनेमे आपको कठिनाई तो नही पडती। वह अभ्यासकी चीज बनी है, वह परिचयकी बात हो गयी है और जो परिचित ग्रन्थ नही है, बिल्कुल नवीन आया है उसके बाँचनेमे, समझनेमे कुछ थोडा चित्त ज्यादा लगाना पडता है, समझबुद्धि अधिक लगानी पडती है और अन्य अन्य चिन्तनसे स्मरणसे उसका अर्थ और मर्म जाना जाता है। तो जो अभ्यास वाली चीज है उसमे ज्ञप्ति स्वत होती है और ऐसी जानकारी होती कि लगना हो तो झट लग जाय, न लगना हो तो झट हट जाय।

स्वत परत प्रामाण्यका एक लौकिक उदाहरण—अभ्यास व अनभ्यास की वृत्ति देखिये! अब प्रवचनका समय पूरा हो जायगा, उसके बाद उठकर महिलाये रसोई करने जायेंगी, तो घर जाकर चूल्हा कहाँ रखा है? यह समझनेके लिए क्या पूछताछ करनी पडती है अथवा कुछ अनुग्रह लगाना पडता है या किन्ही चिन्होको समझना पडता है कि चूल्हा कहाँ रहा? अरे खूब मालूम होता है और बिना ही पाँव धोये झट घुस गए। वहाँ जो कुछ जानना है उसकी प्रमाणता स्वत है। और, कोई महिला चाहे कि आज हम इनके घरमे खाना बनाकर खायें तो वहाँ कई चीजोकी प्रमाणता स्वत नही बन पाती, परत बनती है। रसोईघरमे चूल्हेके पीछे अलमारीमे कई डिब्बे रखे हैं—धना, जीरा, नमक, मिर्च आदिके। उस घरकी महिला तो झट उन डिब्बोसे बिना देखे जो चाहे निकाल लेगी, किन्तु दूसरे घरकी महिला उन डिब्बो को खोल खोलकर देखेगी, परखेगी, तो वहाँ कुछ परसे प्रमाणता आयी कि नही आयी कुछ अन्य अन्य ज्ञान बनाने पडे ना। पर प्रमाणोकी प्रमाणताकी हम कुछ जानकारी करें तो उसका जो विश्लेषण ज्ञान बना वह ज्ञान उनसे अलग है, उससे प्रमाणताकी उत्पत्ति हुई, मगर जाननरूप प्रमाणता, जो पदार्थमे प्रवृत्ति और निवृत्ति करादे ऐसी प्रमाणता अभ्यास-दशामे स्वत होती है और अनभ्यास दशामे परत होती है।

ज्ञानमात्रसे प्रामाण्यकी असिद्धि—पूर्वप्रतिवादित उन तीन विकल्पोमे से यदि प्रथम विकल्प माना जाय सर्वत्र प्रमाणकी प्रमाणता उत्पत्तिमे स्वत का अर्थ क्या कि अन्य कारणके बिना केवल आत्मा से ही प्रमाणता हुई है। तो प्रथम तो सर्वत्र यह नित्य है सो सभी ज्ञान प्रमाण हो जायें, फिर प्रतिनियत प्रमाण कुछ नही रहा और फिर प्रवृत्ति निवृत्ति भी कुछ नही रहे। यदि कहो कि आत्मीय सामग्रीसे प्रामाण्यकी उत्पत्ति होती है तो यह बात तो सही है। अपनी सामग्रीसे ही सकल भावोकी उत्पत्ति मानी गई है। और यदि कहो कि केवल ज्ञानमात्रसे बनता तो यह भी यो ठीक नही कि जो विशिष्ट कार्य है वह विशिष्ट कारणसे ही होगा यो न होगा। यो समझना कि ज्ञान जानकारी तो परिचयमे स्वत करले और अपरिचयमे परसे किया करती है। जितने भी जीव हैं चाहे वे ससारी हो या मुक्त, किसी अवस्थामे हो उनके द्रव्यस्वरूपको देखा जाय तो सब ज्ञान स्वरूप हैं और ज्ञान नाम

है एक जानकारीका व्यवसाय निश्चय निर्णय, और ज्ञान होता है प्रमाणभूत पक्काई करने वाली कि वस्तु इस ही प्रकार है तो किसी भी पदार्थका जब हम जानते हैं तो जाननेके साथ ही उसमे पक्काई कुछ न कुछ होती है। प्रामाण्य तो जाननेके साथ ही पडा हुआ है किन्तु जब उस प्रमाणपनेको निरखकर बैठें तो प्रमाणका निर्णय कैसे ज्ञानसे होगा। प्रमाण तो बन गया उस ही ज्ञानसे क्योंकि यदि जाननेके साथ ही ज्ञानमे प्रामाण्य न हो तो हम उस पदार्थको उठानेके लिए उद्यम कैसे करेंगे ? तो जाननेके ही साथ प्रमाणमे प्रमाणता आ जाती है पर उस प्रमाणताका हम निर्णय करे, उस प्रमाणताका उत्पादन करें तो वह परसे होगा और जानकारीमे तो वह प्रमाण अभ्यास दशामे स्वत बनता है और अनभ्यास दशामे परसे बनता है।

विज्ञानमात्रसे प्रामाण्यका अनिर्णय—जो लोग ज्ञानकी प्रमाणता स्वत मानते हैं एक एकान्त करके और उसके लिये युक्ति देते हैं कि ज्ञानमात्र सामग्रीमे ही वह प्रमाणता बन जाती है, जाना बस इस हीसे प्रमाणता आ गयी, यह कहना उन का ठीक नही है। जो विधिवत कार्य होता है वह विधिवत करणसे उत्पन्न होता। जैसे गेहूँ उत्पन्न होगा तो गेहूँके ही बीजसे होगा चनेसे न होगा ऐसे ही चौकीका ज्ञान किया और इस ज्ञानमे प्रमाणता आयी तो चौकी सम्बन्धी जानकारीके साधनसे प्रमाणता आयी। और अन्य पदार्थको जानेंगे उसमे जो प्रमाणता आयगी वह उसके साधनसे आयगी। प्रमाणता किसी खास कारणसे उत्पन्न होती है क्योंकि प्रामाण्य विशिष्ट कार्य है। ज्ञानकी मजबूती करना और भिन्न भिन्न पदार्थोंकी प्रमाणता जानना ये भिन्न भिन्न कारणोसे होते हैं। जैसे अप्रमाण याने ज्ञानमे कच्चापन, सदोष ज्ञान किसी कारणसे उत्पन्न होता है—एक चन्द्रके बजाय कई चन्द्र दिखने लगे, इसमे आँखो का दोष है। अप्रमाण दोष सदोष कारणोसे उत्पन्न होता है। तो फिर जो प्रमाण ज्ञान है, सही ज्ञान है वह निर्दोष और गुणवान कारणोंसे उत्पन्न होता है। तो जैसे अप्रमाणरूप विशिष्ट कार्य काँच कामल आदिक दोषोसे सहित नेत्र आदिक इन्द्रियोंसे उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार प्रमाणका प्रामाण्य भी गुण सहित चक्षु आदिक इन्द्रियसे उत्पन्न होता है।

स्वत व परत प्रामायण्का अनुविधान जानकारीमे अभ्यास दशा व अनभ्यास दशाका भेद है। अपरिचयकी जगह है, वहाँ प्रामाण्य स्वत नही उत्पन्न होता है, क्योंकि अपरिचित जगहमे सन्देह हुआ करता है, विपर्यय हुआ करता है। चले जा रहे हैं रास्तेमे कुछ प्यास लगी कुछ पानीके चिन्ह भी समझमें आये, कुछ सन्देह भी होने लगा कि पानी यहाँ है कि नही ? कुछ कभी विपर्यय भी हो जाता, पानी तो है नही, और समझमे आता कि है पानी ! तो जो अनभ्यासकी स्थिति है वहाँ ज्ञानमे प्रमाणता आती है तो पर पदार्थोंमे, साधनसे युक्तिसे, अन्य ज्ञानसे आती है। अभ्यास दशामे प्रमाण और अप्रमाण दोनो ही स्वत होते हैं और प्रवृत्तिरूप

क्रियामे भी अनभ्यास दशामे स्वत नही होती प्रमाणता । जैसे कि अप्रमाणता स्वत नही होती । कोई पदार्थ जब ज्ञानमे आये तब ही तो उससे हटना होगा हटेगा लगना होगा लगेगा, बिना ज्ञानके बिना प्रमाणके तो नही होता । रसोई बना रहे यह अग्नि ही है ऐसा पूरा ज्ञान बैठा है ना, तभी तो झट रोटी बेली और आगमे सेक लिया । कभी यह सन्देह तो नही होता कि कल तो रोटी सिक गयी थी आज सिकेगी या नही ? अरे, वह तो अभ्यास दशा है, नि शङ्कतासे स्वयमेव सारी प्रवृत्ति हो रही हैं । तो ज्ञानमे जो प्रमाणता आती है वह अभ्यासकी स्थितिमे स्वय आती है, अनभ्यासकी स्थितिमे परसे आती है और प्रमाणमे जो प्रमाणताकी उत्पत्ति है,निर्णय है, प्रतिबन्धन है, विश्लेषण है वह अन्य ज्ञानसे, अन्य साधनोसे होता है ।

गुणका अभाव होनेसे प्रामाण्यका परत सिद्ध न होनेका पक्ष—यहाँ शङ्काकार कहता है कि तुमने जो यह कहा कि इन्द्रिय आदिक सदोष हैं तो जैसे अप्रमाणता उत्पन्न होती है ऐसे ही इन्द्रियादिक गुण सहित हैं तो गुण सहित इन्द्रियसे अप्रमाणता उत्पन्न होती है । शकाकार इस सम्बन्धमे यह कह रहा है कि गुण तो कोई चीज ही नही है । अब शङ्काकारकी बात सुनो ! दुनियामे गुण हुआ ही नही करते । हुआ तो करते है दोष । दोष न रहे उसीको लोग गुण कहा करते है । गुण कोई चीज नही है । इस सम्बन्धमे यदि शङ्काकारकी बातका समर्थन करना हो तो यो निरखिये ! जैसे प्रतिजीवी गुण हैं ना, सूक्ष्म, अव्याबाध, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व ये प्रतिजीवी गुण क्यो कहलाते ? ये अभावरूप गुण हैं, इनमे डिग्रियां नही हैं, हानि-वृद्धि नही है, तो प्रतिजीवी गुण मानें । देखिये ! गुण कुछ नही है और इसके विपरीत जो दोष हैं वे हैं अच्छी तरहसे । सूक्ष्मका प्रतिपक्ष है बन्धनमे आना, अगुरुलगुत्वका प्रतिपक्ष है बडा—छोटा होना । तो ये दोषवाली चीजें है गुण वाली नही हैं । दोष न रहे, दोषोका अभाव हो गया उसीको तुम सूक्ष्मत्व कहते हो ! जैसे जैन लोग भी अभावरूप प्रतिजीवी मानते ऐसे ही दुनियामे सर्वत्र गुण हैं नही कुछ, किन्तु दोष नही रहे, इसीको लोग गुण कहने लगते है ऐसा शङ्काकार कह रहा है । क्योकि गुण किसी भी प्रमाणसे समझे नही जा सकते, असत् हैं । गुण कोई चीज ही नही है । दोष न रहे उसीका नाम गुण है ।

पूर्वपक्षकार द्वारा गुणोकी प्रत्यक्षसे असिद्धिका कथन—गुणोको हम प्रत्यक्षसे तो जान नही सकते । जैसे कोई कहे कि हमारी आंख साफ है पर वह जो साफ गुण है वह किसीको दिखाया जा सकता है क्या ? शङ्काकार कह रहा है कि गुण प्रत्यक्षसे तो नजरमे आता नही क्योकि इन्द्रिय अतीन्द्रिय हैं । इन्द्रियमे जो गुण है वह अतीन्द्रिय है इन्द्रिय द्वारा नहीं जाना जाता इसलिये इन्द्रियके गुण प्रतीतिमे नही आते अतएव गुण कुछ नही है । गुणकी सिद्धि प्रत्यक्षसे नही ।

पूर्वपक्षकार द्वारा गुणोकी अनुमानसे असिद्धिका कथन—अनमानसे भी

गुणकी सिद्धि नही, क्योकि अनुमान तब बनता जब अविनाभाव सम्बन्ध हो। इन्द्रिय के गुणोके साथ जिसका अविनाभाव हो ऐसा कोई साधन हो तो बतावो वह साधन प्रत्यक्षसे जाना जाता या अनुमानसे। जैसे किसी पर्वतमे हम अग्निका अनुमान करेंगे तो अग्निको सिद्ध करने वाला हेतु है धुवा। तो धुवा प्रत्यक्षसे जाना जा रहा है तब अग्निका हम अनुमान करते हैं तो इन्द्रियमे गुण हैं उन गुणोको सिद्ध करने वाले जो साधन है क्या वे प्रत्यक्षसे जाने जाते या अनुमानसे ? प्रत्यक्षसे तो जाना नही जा रहा। अनुमानसे भी नही जाना जा रहा, क्योकि जब तक उसका अविनाभाव सम्बन्ध नही सिद्ध होता तब तक साधन साध्यको सिद्ध नही कर सकते। धुवाका और अग्निका अविनाभाव सम्बन्ध है। अग्नि न हो तो धुवा नही हो सकता। उससे अग्नि सिद्ध है। आप कहेंगे कि रेल चलती है और धुवा छोड दिया वह और तेजीसे चलदी। अब वह चार मील दूर पहुच गयी, धुवा यहा उड रहा कि अग्निके बिना धुवा नही रहा। अरे सम्बन्ध रहा चाहे रेल कितनी ही दूर चली गई हो। अग्निके बिना धुवा हो ही नही सकता। तो अविनाभाव सम्बन्ध है ऐसे ही इन्द्रियोमे भी गुण है यह सिद्ध करनेके लिए उन गुणोका साधने वाला जो हेतु हो उसका अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध होना चाहिए। यदि उसको अन्य अनुमानसे सिद्ध करोगे तो अनवस्था दोष है। वहा भी अविनाभाव चाहिए उसे करेंगे अन्य अनुमानसे सिद्ध करोगे तो अन्योन्याश्रय दोष है। मतलब यह है कि जहापर अविनाभाव सम्बन्ध सिद्ध नही है वहाँ अनुमान नही बनता। यह सब शङ्काकार कह रहा है और बहुत लम्बी शङ्का रख रहा है कि गुण दुनियामे कोई होता ही नही। दोष जरूर होते हैं। जब दोष नही रहे तो उसीका नाम लोग गुण कहने लगते।

गुणके अभावकी मान्यताके आधारकी कल्पना—शङ्काकारकी यह दृष्टि कैसे बनी ? कुछ थोडी बहुत ऐसी बात न हो तो कैसे कोई गढ ले। कुछ बात तो होगी इस तरहकी। कुछ लगता तो होगा। हा तो देखिये लगता कैसे नही। रागद्वेष विकल्प विचार अनुग्रह विग्रह ये सब दोष रूप अच्छी तरह जच रहे कि नही ? अरे ये विकार एक भी न रहे तब जो आत्माकी स्थिति हो ज्ञानकी स्थिति हो तो कहने तो जरूर ऐसा लगते कि वह सर्वज्ञ हो जाय पर वह सर्वज्ञ क्या इस तरह जान लेते कि यह चौकी है, यह चटाई है आदिक ? उसका ज्ञान ऐसा साधारण होता कि जिस का स्वरूप समझने बैठे सो यो लगे कि न कुछ। विकारमे तो लग रहा कि सब कुछ है और विकार न रहे तो एसा लगेगा न कुछ। गुण तो यहाँ है नही यह ही गुण हैं, जैसे कोई लडका उद्दण्ड हो तो उसपर झल्लाकर कहते कि इसमे ऐसे ऐसे गुण हैं अवगुणके लिये, दोषके लिये गुण कहा। तो दोष है दुनियामे, पर गुण नामकी कोई चीज नहीं है।

प्रत्यक्ष और अनुमान दोनो प्रमाणोसे गुणोके अभावके समर्थनका पक्ष

यहाँ शङ्काकार कह रहा है । गुण किसमे सिद्ध करोगे ?प्रत्यक्षसे सो नजर नही आता और अनुमानसे जब उसका कोई साधन हुआ, तो साधन क्या ?क्या स्वभाव हेतु है या कर्मरूप हेतु है या अनुपलब्धि हेतु है कोई चीज हम अनुपलब्धि हेतुसे पैदा करें तो उसमे मुख्यतया तीन प्रकारके कारण होते हैं । मूलमे तो दो साधन हैं । किसी चीजके सद्भाव को साध्य सिद्ध करना किसी चीजके अभावको साध्य सिद्ध करना । जैसे ऊपर पानी बहुत बरषा है नदीका पूर आनेसे । यह सद्भावको सिद्ध किया । ऊपर सूखा पड रहा है नदीमे पानी न रहनेसे, तो यह अभावसे कोई बात सिद्ध की । साध्यकी सिद्धि सद्भावसे भी होती और अभावसे भी । अनुमानमे कितने ही प्रकारके हेतु होते ? तो जो सद्भाव वाले हेतु है वे दो प्रकारके हैं—एक स्वभावरूप और एक कार्यरूप । जैसे धुवा देखकर आगका ज्ञान करना यह कार्यरूप हेतु है और यह पेड है क्योंकि सीसम है यह व्याप्यरूप स्वभाव हेतु है । तो यो अनेक प्रकारके हेतु होते है उनमे । इन इन्द्रियोमे गुण है इसको सिद्ध किस हेतु से करोगे यह पूछ रहा है शङ्काकार । शङ्काकारका पयोजन यह है कि इन्द्रियमे गुण नही होते दोष हुआ करते । अतएव ज्ञानमे अप्रामाण्यकी उत्पत्ति तो दोषसे हो जाती है, पर ज्ञानमे प्रमाणताकी उत्पत्ति परसे नही होती, गुण है ही नही, अत प्रामाण्यकी उत्पत्ति स्वत होती रहती है । यो ज्ञानकी प्रमाणताके निर्णयके प्रसगमे शङ्काकार इन्द्रियके गुणोका अभाव प्रकट कर रहा है ।

गुणके अभावके पक्षका विश्लेपण देखिये जब आँखमे कोई फुली सी हो जाय तो दूसरेसे कहते है देखना जी हमारी आँखमे फुल्ली हो गयी । वह देखकर कहेगा कि हाँ हो तो गयी । देखना जी आखमे कुछ ललाई आ गयी । हां आ तो गई, और देखिये कुछ टेटवा सा हो गया । हाँ हो तो गया । और—देखना जी कुछ मोतिया बिन्दुसा हो गया, हाँ हो तो गया । मोतिया बिन्दु कुछ कम समझमे आये, तो यन्त्र लगाकर देखो – हाँ है तो कोई दोष । आखके दोष यत्रमे देख लिये जाते है । और, देखना जी हमारी आख पूर्ण निर्मल है साफ है ? हा आख साफ तो दिखती है । अरे जो साफ दिखता है वह साफ कोई चीज है क्या ? जैसे मोतिया बिन्दु चिमटे मे पकडकर दुनियाको दिखा देते हैं—लो यह है पर्दा जिससे आख दबी हुई थी । या हाथमे छूकर देख लेते है कि हा लगा है टेट । इस प्रकार क्या इन्द्रियके गुण भी देखनेमे आ गए ? बस इसी आधारपर शङ्काकार यह कह रहा है कि इन्द्रियमे गुण नही होते दोष होते–और दोष न रहनेका नाम गुण है । वीतरागका अर्थ है क्या ? वीतरागनामे मिला क्या ? कोई चीज है वहा क्या ? अरे वहा रागका अभाव है । है वहा कुछ चीज नही । जैसे कमरा साफ है तो वहा मिलेगा कुछ नही । कूडा, कचरा, सीक आदि वहा कुछ न मिलेगा । तो जैसे साफमे कुछ नही है ऐसे ही गुणमे कुछ नही रखा दोष न रहना है यहाँ शङ्काकार कह रहा है कि इन्द्रियमे दोष तो हुआ करता है पर गुण नही हुआ करता ।

गुण और दोषोकी वस्तुगतता— आचार्यदेव कह रहे है कि गुण ही कुछ

नही हो ऐमा नही है गुणसे होती है प्रमाणताकी उत्पत्ति । एक आदमी चन्द्रमाको देखकर कहता है कि यह कितना बढिया चन्द्रमा है और एक पुरुष कहता है कि हम तो २ चन्द्रमा दिख रहे हैं, तो सही एक चन्द्रमा दिखनेका कारण क्या है कि उसकी इन्द्रिया गुण सहित हैं और जिसे दो चन्द्र दिखते हैं उसकी इन्द्रियोमे दोष है। तो जैसे दोषसे ज्ञानके अप्रमाणताकी उत्पत्ति है। ऐसे ही गुणोसे ज्ञानके प्रमाणताकी उत्पत्ति है। सिद्धान्त तो यह है पर यहाँ ये भाट लोग ज्ञानकी अप्रमाणताकी उत्पत्ति को दोषसे मानते है, पर ज्ञानकी प्रमाणताकी उत्पत्ति गुणोसे नही मानते। प्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे हुई। दोष नही है इसलिये प्रमाण बन गया, गुण तो कोई चीज ही नहीं है। यो गुणोका अभाव सिद्ध करके शङ्काकार प्रमाणकी उत्पत्ति स्वत ही मान रहा है। सभी प्रमाण चाहे अनभ्यास दशामे हो जब भी जो प्रमाण बनता है उसकी प्रमाणता स्वत हुआ करती है। किसी परके कारणसे नही। यह शङ्काकारने पक्ष किया है। कुछ और चलकर जब शङ्काकारका मन खूब भर जायगा अपनी शङ्काके समर्थनमे तब इसका निराकरण किया जायगा।

पूर्वपक्षमे दोषके अभावको गुण कहनेकी परम्परा– प्रमाणमे प्रमाणता की उत्पत्ति अभ्यास दशामे तो स्वत बनती है और अपरिचयकी दशामे परसे बनती है। यह तो है जानकारोके सम्बन्धकी बात। किन्तु, प्रमाणमे प्रमाणताकी उत्पत्ति इन्द्रिय निर्मल हो तब होती है ना, इस कारण परसे होती है। इसके विरुद्ध भाट्ट दार्शनिक यहा कह रहे हैं कि कुछ भी स्थिति हो उत्पत्ति हो, जानकारी हो, प्रत्येक परिस्थितिमेंमे प्रमाणकी प्रमाणता स्वत हुआ करती है और अप्रमाणता परसे हुआ करती हैं। उनका तात्पर्य यह है कि चक्षु आदिक जो इन्द्रिया हैं इनमे यदि दोष हो कुछ तो अप्रमाणता बनती है। कोई आखोमे कमला काच आदिक दोष है जिससे अनेक चन्द्र, दिखें, सब पीला दिखे तो जो कुछ अप्रमाणता बनती है वह दोषके कारण बनती है इसलिये अप्रमाणताकी उत्पत्ति परसे होती है, पर दोष न रहे ऐसी इन्द्रियसे जो उत्पन्न हुई प्रमाणता हैं उसमे पर क्या हुआ जिससे प्रमाणकी उत्पत्ति मानी जाय, गुण तो इन्द्रियका स्वरूप है कोई पर वस्तु नही है दोष परवस्तु है। और दोषसे जो ज्ञान बनता है वह परसे उत्पन्न कहलाया और निर्मल इन्द्रियसे जो ज्ञान बना वह स्वत बना। शङ्काकार यह माननेको तैयार नही है कि इन्द्रियमे दोष आया। तो जैसे वह दोष विशिष्ट इन्द्रिय बनी ऐसे ही दो बन रहे तो वह गुण विशिष्ट इन्द्रिय हैं।

गुणके अभावकी सिद्धिका प्रयास— गुणका सद्भाव शङ्काकार नही मानता गुण किसी चीजमे होता ही नही ? वह तो मात्र मूल चीज है। दोष हुआ करते हैं। सत्ता दोषकी है, गुणकी सत्ता नही होती। बतावो अच्छा यह गुण क्या प्रत्यक्षसे दिखता है ? प्रत्यक्ष तो गुणोके देखनेमे समर्थ नही क्योकि इन्द्रिय तो अतीन्द्रिय हैं

अर्थात् इन्द्रियको इन्द्रियसे जाना नही जा सकता। जो लोग जानते है देख करके वे इन्द्रिया कहा है ? कान दिख गए पर जो दिख रहे ये सुनने वाले नही हैं। यह तो एक चमडा है, भार है। जो असली कर्ण इन्द्रिय है उसे किस इन्द्रियमे जानते है ? छूकर कर्ण इन्द्रिय नही जानी जाती। और कर्ण इन्द्रिय जो स्वय है, कर्णसे भी नही जाना जाता। इस कर्ण विवरमे जो अन्तर हुआ उसमे जो श्रवण शक्ति है वह कर्ण इन्द्रिय है। शेष तो सब चर्म है, इसी प्रकार सब इन्द्रियोकी बात है। यहाँ तक कि स्पर्शन इन्द्रियको भी कोई नही जानता। जो यह सारा शरीर है और कह देते है कि सारा शरीर स्पर्शन इन्द्रिय ही तो है। इसको छूकर जाना जाता है भले ही छूकर जाना जाय, ठीक है पर जिस शक्तिसे जिस गुणसे जिस अन्तर विधिसे जाना जाता है स्पर्शन उसे जानता है। तो इन्द्रिय तो अतीन्द्रिय है, जब इन्द्रियका ही हमे ज्ञान नही है तो हम गुणोका क्या ज्ञान करे ? जहाँ भीट ही नही है वहा चित्रोका क्या बखान करें ?

गुणके प्रतिषेधसे दोषका भी प्रतिषेध यहा शङ्काकार कह रहा है कि गुणोकी प्रतीति युक्त नही है। गुण है ही नही, हा दोषोकी प्रतीति होती है। दोष दिखते हैं पर गुण तो कुछ अलग चीज नही है, वह तो इन्द्रियका स्वरूप है जो कि अतीन्द्रिय है। अब उन इन्द्रियोसे जो ज्ञान बना, प्रमाण बना उसकी प्रमाणतासे पर से नही होती। हा अप्रमाणकी उत्पत्ति परसे होती है। इसपर आचार्यदेव उत्तर देते है कि तुम जो यह कहते हो कि प्रत्यक्ष गुणोको जाननेमे समर्थ नही है, इन्द्रियको जाननेमे समर्थ नही है तो यह बतलावो—क्या शक्तिरूप इन्द्रियमे गुणोकी प्राप्ति न होनेसे अभाव कहते हो या यह व्यक्तरूप प्रकट रूप इन्द्रियमे गुणोका अभाव सिद्ध करते हो तो दोषोका भी अभाव सिद्ध हो गया। शक्तिरूप इन्द्रिय प्रत्यक्षसे ज्ञात नही तो उसमे जैसे न गुण जान सकते वैसे दोष भी नही जान सकते। तो दोषको भी प्रत्यक्ष करने वाला ज्ञान नही रहा। गुणोका भी अभाव हो तो दोषोका भी अभाव हो। फिर अप्रमाणको पर से मानना यह बात न बनेगी।

इन्द्रियमे गुणके अभावकी मान्यतापर प्रश्न— सिद्धान्त तो यह है कि चाहे प्रमाणता बने चाहे अप्रमाणता बने, परिचयकी दशामे तो वह स्वत बनती है। और अपरिचयकी स्थितिमे परत बनती है। तो शक्तिरूप इन्द्रियमे गुणोका अभाव सिद्ध किया जा सकता क्योकि जब इन्द्रिय ही ज्ञात नही है, जब गुणोका अभाव मानते हो तो दोषका भी अभाव हुआ। यदि कहो कि ये जो प्रकटरूप इन्द्रिया हैं— शरीरके बाहर जो प्रकट है उन इन्द्रियोमे गुणोका अभाव सिद्ध करते है। तो यह बतलावो कि इन इन्द्रियोमे गुणोका अभाव तुम अपने प्रत्यक्षसे सिद्ध करोगे या दूसरे के प्रत्यक्षसे सिद्ध करोगे ? यहा यह सिद्ध किया जा रहा है शङ्काकारकी ओरसे कि इन्द्रियमे गुण नही हुआ करते, दोष हुआ करते हैं। दोष न रहे ऐसी स्थितिमे प्रमाण

बनना है, दोष रह एसी स्थितिमे अप्रमाण बनता है। तो उनमे पूछा गया कि किस इन्द्रियमे तुम गुणोका अभाव मानते हो शक्तिरूप इन्द्रियमे या व्यक्तिरूप इन्द्रियमे ?

इन्द्रियमे गुण और दोषकी सिद्धि यदि शक्तिरूप इन्द्रियमें गुण हमें प्रत्यक्षसे नजर नहीं आता ऐसा कहते हो तो यह बतलावो कि हमारी इन्द्रियमे गुण हमारे प्रत्यक्षमे नजर नही आता या दूसरेके प्रत्यक्षमे दृष्टिमे नही आता। यदि कहो कि हमारे प्रत्यक्षसे हमारे व्यक्तिरूप इन्द्रियमे गुण नजर नही आते तो यों तो दोष भी नजर न आयेगे। अपनी आखमे टेट हो, फूली हो, मोतिया बिन्दु हो, काच कामल आदिक दोष हो तो अपनी इन्द्रियमे खुदकी इन्द्रियका दोष कौन जान लेता, यो दोषों का भी अभाव हो जायगा। यदि यह कहो कि आखके द्वारा नही जान सकते किन्तु स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा तो जान लेगे ? तो भाई स्पर्शनसे तो केवल चक्षुका सद्भाव मात्र जान लोगे। चक्षुमे कोई दोष है यह आखका स्पर्शनसे कैसे जानोगे तो अपने ही प्रत्यक्षमे हमारी इन्द्रियमे गुण नजर नही आता इस कारण गुण कुछ नहीं है ऐसा माननेपर दोष भी कुछ नही रहे। हमारे प्रत्यक्षसे हमारी इन्द्रियोमे दोष भी नजर नही आता यदि यह कहो कि दूसरेके प्रत्यक्षसे हमारे इन्द्रियके गुण नजर नही होते इस कारण गुणोका अभाव है। तो यह बात तो असिद्ध है। क्योकि जैसे दूसरे लोग हमारे नेत्रमे यह देख सकते हैं कि इसके नेत्रमे काँच कामला आदिक दोष हैं इसी प्रकार यह भी तो दिखता है कि इसकी इन्द्रियमे पूरी निर्मलता है। जैसे दूसरेकी आखमे काच कामल आदिक दोष प्रत्यक्षसे देखे जा सकते इसी तरह दूसरे लोग प्रत्यक्ष से चक्षु आदिक इन्द्रियमे निर्मलता आदिक गुण भी देख सकते हैं। इस कारण प्रत्यक्ष से जैसे दोष प्रतीतिमे आता है ऐसे ही गुण भी प्रतीतिमे आते हैं।

गुण सिद्धिके प्रसङ्गमे विविध प्रश्नोत्तर—यदि ऐसा कहो कि बालक उत्पन्न हो तो आख आदिक इन्द्रियमें निर्मलता उसकी उत्पत्तिके साथ होती है, इसलिये गुण क्या रहा ? बादमे यदि कोई काच कामल आदिक दोष बने तो चीज तो वह है जो शुरूमे ही है, उत्पन्न होती ही है, वह क्या चीज है, वह तो इन्द्रिय है, गुण कहा निर्मलता आदिकसे सहित इन्द्रिया प्रतीतिमे आती हैं इस कारण इन्द्रियमें गुण रूपता नहीं रही। तो भाई कोई जन्मसे अधा होता है तो उसमे भी इन्द्रिया स्वरूपसे अतिरिक्त कोई तिमिर आदिक दोष न माने जाये। जिसके उत्पन्न होते ही इन्द्रियमे निर्मलता प्रतीत है इस कारण इन्द्रियसे अलग कोई गुणरूपता कुछ नही है तो जन्मान्ध पुरुषमे इन्द्रियके स्वरूपके अतिरिक्त दोष कुछ नही रहे। और, यदि यो ही गुणोका अभाव मानोगे कि इन्द्रियके स्वरूपसे अतिरिक्त गुण कुछ नही है। तो अच्छा यह बता दो कि इस चौकीमे जो रूप आदिक हैं ये चौकीके गुण नहीं है क्या ? चौकी से अतिरिक्त रूप आदिक कुछ नही होते इसलिये रूप आदिक कुछ नहीं है यो कह बैठोगे क्या जैसे इन्द्रियमे इन्द्रियके स्वरूपसे जुदा गुण कुछ नही है। जैसे टेट वह

इन्द्रियने जुदी चीज हो गयी ना, कोई चीज ऊँची उठ गई उसे तो दोष मानते है और साफ नजर हो उसे गुण नही मानता यह शङ्काकार। उसको कहता है कि वह तो इन्द्रियका स्वरूप है गुणका होना। तो वाह ! स्वरूप ही तो गुण है। यदि स्वरूपको गुण नही मानते तो फिर यह बतलाओ कि इस चौकीमे रूप आदिक कुछ है नहीं क्या ? उन्हे भी असत् मान लो। यदि स्वरूपको गुण न मानोगे तो रूप आदिकमे घट पट आदिकका गुण स्वभाव है, यह कैसे मान सकोगे ? क्योकि जबसे यह काठ है, मिट्टी है, तबसे इसमे रूप नजर आता। जैसे जबसे इन्द्रिय हो तबसे निर्मलता है इसलिए गुण कोई चीज नही है, निर्मलता कोई वस्तु नही है। तो यो ही सारे पदार्थ जबसे है तबसे इस रूप है तो फिर रूप कुछ चीज नही रहा। यो तो पदार्थका अभाव बन जायगा। स्वरूपको गुण नही मानते तो वस्तु फिर क्या रही ? तो प्रमाण जब गुणी इन्द्रियने जाना जाता है तब वह परसे उत्पन्न हुआ कहलाता है। ऐसे ही अप्रमाण जब दोषीक इन्द्रियसे प्रतीत होता तो वह परसे प्रतीत होता तो वह परसे उत्पन्न हुआ समझिये।

ज्ञानविलासका प्रथम रहस्य—यहाँ ज्ञानके सम्बन्धमे इस प्रसङ्गकी जानकारी करनेकी कई पर्ते है। प्रथम तो ज्ञान किसे भी जाने, जाननेके साथ ही ज्ञानवृत्ति खुदपर गुजरती है। इस दृष्टि से सभी ज्ञान स्वसम्वेदी है, अपने आपको जानते है। जैसे तार दिया जाता है तो तारकी हलनके दूसरी जगह जो आवाज उत्पन्न होती है, उससे वे समाचार जान लेते हैं, यदि मूलमे गुजरी हलन तो वह हलन अन्त तक जाय ऐसे ही जानकारीकी विधि जब स्वयपर गुजरी तब पदार्थकी जानकारी बनी। तो जानकारी खुदपरसे गुजरी तो वह स्वसम्वेदन हुआ ना। यो प्रत्येक ज्ञान चाहे अभ्यास दशामे हो चाहे अनभ्यास दशामे हो, चाहे यथार्थस्वरूप हो चाहे अयथार्थ ज्ञान हो, ज्ञान कुछ करता है तो खुदपर ज्ञान वृत्ति गुजरती है। तब ज्ञानका कार्य जानन बनता है यहा इस प्रसगकी सबसे अतरङ्गकी बात कही गई है और इस दृष्टिसे ज्ञान सबको प्रत्यक्ष है। इस दृष्टिसे प्रत्यक्ष है और इस प्रत्यक्षका अर्थ केवल खुदपर गुजरना, उसकी प्रतीतिमे आकर उसका भास होना, ज्ञान सामान्यमे प्रतीति बनकर उसका कार्य करना यह प्रत्यक्षता अर्थ है।

रास्तेमे कभी नही करते थे वहा जरूरत हुई पानीकी तो पानीके खोजनेके पहिले व्यग्रता हुई। फिर कुछ अनुमान लगाया, कुछ मेढकोकी आवाज आयी। उससे पहिचाना, कही टूटी फूटी घडेकी खपरिया पडी थी उससे अदाज किया। थोडा और चले तो लोग दीखे, उसस अदाज हुआ, फिर पानी भरकर ला रहे लोग दीखे, यो पानीका परिज्ञान हुआ तो कितने परसे परिज्ञान बना। यह ज्ञानके दूसरे पर्तकी बात कह रहे हैं कि ज्ञानमे यह प्रमाणता जो जानकारीसे सम्बन्ध रखती है वह अभ्यास दशामे स्वत होती है और अनभ्यास दशामे परसे होती है।

ज्ञानविलासका तृतीय रहस्य—अब तीसरी बात सुनिये— कोईसा भी ज्ञान हुआ हो अनभ्यास दशाका अथवा अभ्यास दशाका, उसमे जो प्रमाणताकी उत्पत्ति हुई है केवल जानकारीके सिलसिलेमे न सोचना, किन्तु प्रमाणकी जो उत्पत्ति हुई है वह निर्मल इन्द्रियसे हुई है तो परत हुई और सदोष इन्द्रियसे हुई है तो परत हुई है मतलब यह समझिये कि जैसे तत्वार्थ सूत्रमे कहा है कि हमारे आपके ज्ञान तो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होते है उसीकी यह चर्चा है। प्रमाणकी प्रमाणता परसे होती है ऐसा सुनकर कही परमात्माके केवल ज्ञानमे न घटाना, किन्तु हम आपको जो ज्ञान हुआ करते हैं उन ज्ञानोमे दिखाया जा रहा है सूत्र जीमे कहते है कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होता है, तो उत्पत्ति परसे हुई ना। दर्शन शास्त्रकी बात है यह। अध्यात्ममे तो जो पर्याय बनती है वह उस ही पदार्थसे बनती है। उसका उपादान वही है, किन्तु यहा तो सर्वतोमुखी निर्णयकी बात चल रही है। तो ज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ, इसका अर्थ यह हुआ कि आधुनिक ज्ञानकी उत्पत्ति प्रमाणकी उत्पत्ति, प्रामाण्यकी उत्पत्ति परसे हुई।

ज्ञानका ज्ञान—ज्ञानके सम्बन्धमे तीन स्थलोमे ये तीन बाते समझना चाहिए। प्रत्येक ज्ञान स्वसम्वेदी है यह पहिले पतकी बात है और ज्ञानमे प्रमाणता ज्ञप्तिमे प्रमाणता अभ्यास दशामे स्वत होती है अनभ्यास दशामे परसे होती है। यह दूसरे पर्तकी बात है और तीसरी बात यह है कि हम आपके ये सब प्रमाण जो हैं इनमे प्रमाणता परसे ही आती है अर्थात् उसकी उत्पत्ति परसे ही हुआ करती है। यो ज्ञानके सम्बन्धमे विश्लेषण किया जा रहा है। चूकि जिस ज्ञानके द्वारा अयथार्थ बातका निराकरण करेंगे, यथार्थ बातका समर्थन करेंगे उस ज्ञानकी अधिकसे अधिक जानकारी रहे तो समर्थन और निराकरण भली भाति स्पष्ट रूपसे किया जा सकता है।

सर्वतोमुखी ज्ञानमे निर्भयता— जैसे अपने गावकी मुहल्लेकी, पडोसियोकी बातका परिचय न हो तो कुछ रहना अजीब सा लगता है। अथवा निडरता जैसी नही रहती है। और अपने पडोसकी बातका मालूम होनेपर जैसे कि यह घरके सामनेसे जो नाली निकली है तो किस ओरसे निकली कहाँसे निकली, किस जगह आयी, घरके अन्दरके बाहर के स्थानोका कुछ पता रहनेसे जैसे निवास बिना उलझनके

निशङ्कतासे हुआ करता है ऐसे ही समझिये कि हमारे ज्ञानके आसपासकी बात, ज्ञानके स्वरूपकी बात ज्ञान कैसे प्रकट होता है, प्रकट होते समय ज्ञानमे क्या स्थिति होती है और उसका विस्तार होनेपर ज्ञानकी क्या स्थितिया होती हैं इन सब बातोका भान हो तो प्रतिपादन निरूपण निशङ्कतया होता है।

सर्वतोमुखी ज्ञानमे स्पष्टता—जैसे कोई मैकेनिक लोग, मशीनरीका ज्ञान करने वाले लोग मात्र एक वर्तमान प्रयोजनकी ही बात सीख ले थोडा सा एक तो उसका ज्ञान और एक समस्त पुर्जोका और उनके अन्वय व्यतिरेकका उनके प्रयोग का प्रभावका सब प्रकारका ज्ञान हो एक उसका प्रतिभास जैसे इन दोनोमे अन्तर है ऐसे ही ज्ञानके स्वरूपको न जानकर केवल एक बाहरमे यह यथार्थपना अयथार्थ पनाका निर्णय प्रतिपादन करे एक उसका निरूपण और एक जिसको ज्ञानके स्वरूपका वृत्तिका प्रभावका सब कुछ परिचय हो और फिर बाहरकी युक्तियोसे वस्तु स्वरूपका निरूपण करे एक उसका निरूपण इन दोनोमे कितना अन्तर है ? स्पष्टता और निशङ्कतासे निराकरण और समर्थन करनेके लिये उससे पूर्व आचार्यदेव ज्ञान के स्वरूपका सर्वतोमुखी वर्णन कर रहे हैं कि यह ज्ञान यहासे यो उत्पन्न होता और विस्तारमे इसकी ऐसी स्थितिया हुआ करती हैं।

अनुमान प्रमाणसे इन्द्रियोके गुण सम्पन्नत्वकी सिद्धि—ज्ञानमे प्रमाणता स्वत ह. होती है उस प्रमाणपनेकी उत्पत्ति परसे कभी नही होती ऐसा एक दार्शनिकका अभिमत है। और इसके समर्थनमे यह कहता है कि जिन गुणसम्पन्न इन्द्रिय से पदार्थ जाना जाता है और जिससे कि प्रमाणता बनती मानी है सो प्रथम तो गुणका ही पता नही। इन्द्रियमे गुण है इसकी सिद्धि न प्रत्यक्षसे होती है न अनुमानसे होती है। इसपर प्रत्यक्षसे तो सिद्धि कह दी गई है अब अनुमानसे भी यह सिद्ध करते हैं कि चक्षु आदिक इन्द्रियमे गुण हैं। चक्षु आदिक इन्द्रियसे भिन्न किसी चीजके सद्भाव और अभावका जो कार्य सम्बन्ध करे अर्थात् जिसके होने पर कार्य हो, जिसके न होनेपर कार्य न हो वह कार्य उस कारण पूर्वक होता है, जैसे अप्रामाण्य तो अप्रमाणता चक्षु आदिक इन्द्रियसे भिन्न जो दोष हैं उन दोषो से उत्पन्न होता है इसी प्रकार प्रमाणता भी चक्षु सामान्यसे भिन्न जो निर्मलता आदिक गुण है उनसे उत्पन्न होते है, इस अनुमानसे गुणोकी सिद्धि हुई।

इन्द्रियोकी गुणसम्पन्नताके अनुमानमे साधन साध्यका तर्कप्रमाणसे विनिश्चय—गुणोकी सिद्धिमे एक अनुमान यह दिया गया था कि प्रमाण किसी विशिष्ट कारणसे उत्पन्न होता है, क्योकि यथार्थ वस्तुस्वरूपका विनिश्चय रूप कार्य पाया जाता है। पदार्थका यथार्थज्ञान और प्रमाण होना किसी विशेष कारणको सिद्ध करता है। वह विशेष कारण है गुण। तो उस सम्बन्धमे शङ्काकारने यह अटकाया डाला था कि विशिष्ट करणजन्य प्रामाण्यका इन्द्रिय गुणोके साथ सम्बन्ध क्या

प्रत्यक्षसे जाना जाता या अनुमानसे । वह भी कहना ठीक नही क्योकि एक रहा नाम का, तर्क नामका प्रमाण है, उससे अविनाभाव जाना जाता है । जैसे एक अनुमान बनाया कि पर्वतमे अग्नि होनी चाहिए क्योकि धुवा होनेसे अब इसको सिद्ध करनेके लिये जो साधनका और साध्यका सम्बन्ध बताया जा रहा वह तर्कमे बताया जा रहा जैसे जहाँ जहाँ धुवा होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है । जहा अग्नि नही होती वहा धुवा भी नही होता । यह जो एक युक्ति है यह युक्ति न तो प्रत्यक्षसे जानी जाती है न अनुमानसे, किन्तु तर्कसे जानी जाती है, ऐसे ही इन्द्रियके गुणोंके साथ साधनका सम्बन्ध बताया वह तर्कसे जाना जाता है और न मानो तो अप्रमाण्यको उत्पन्न करने वाले दोपकी भी प्रतीति कैसे होगी ? वहा पर भी हम यह कहेगे कि इन्द्रिय दोपके साथ साधनका सम्बन्ध क्या प्रत्यक्षसे जाना जाता है कि अनुमानसे ? तो दोप भी सिद्ध नही कर सकते ।

इन्द्रियोमे गुण और दोष दोनोकी सिद्धि—प्रकरण यह चल रहा है कि इन्द्रियके यदि गुण हो, नैर्मल्य हो तो ज्ञान सही होता है और इन्द्रियमे दोप हो तो ज्ञान मिथ्या होता है । इस प्रकरणमे यह शङ्काकार दोपकी सत्ता तो मानता है, गुणो की सत्ता नही मानता और उसका कहना है कि ज्ञानकी प्रमाणता तो स्वयमेव उत्पन्न होती है और अप्रमाणकी उत्पत्ति दोपसे होती है । उसके निराकरणमे यह गुणोकी सत्ता भी सिद्ध कर रहे हैं । गुण भी होते हैं और अवगुण भी होते हैं । जैसे रागद्वेप मोह आदिक अवगुण होते हैं कि नही ? होते हैं और शुद्ध ज्ञान ज्योति ज्ञानप्रकाश ये भी कोई गुण हैं कि नही ? गुण है । कोई यह कहे कि शुद्ध जो ज्ञानप्रकाश है वह तो रागद्वेप मोहके अभावकी बात है । कोई गुण खास नही है तो यह बात कैसे जचेगी ? गुण भी होते हैं दोप भी होते हैं । गुणोसे प्रमाणताकी उत्पत्ति होती है और दोपोसे अप्रमाणताकी उत्पत्ति होती है चक्षुसे निर्मलता है तो चीज सही दिखेगी सफेदी है तो साफ और पीली दिखती है यदि वह तो चक्षुमे दोप है । इसी प्रकार जो ज्ञानकी सही उत्पत्ति हुई वह गुणोसे हुई और मिथ्याज्ञानकी जो उत्पत्ति हुई वह दोषसे हुई ।

तुच्छ अभावकी अज्ञेयता—यह कहना ठीक नही कि निर्मलता तो दोपो के अभावका नाम है, उसे गुणरूपता क्यो कहेगे ? अरे दोपका अभाव पदार्थमे स्वभावरूप पडता है । जहा यह किसीने कहा कि इस कमरेसे एक कलश उठा लावो, कलश वहा था नही तो वह कहेगा कि कमरेमे कलश है ही नही । अरे तुम अच्छी तरह देख आये ? हा हा हमने खूब देखा वहा कलशका अभाव है । तो कलश का अभाव भी आखोमे दिखता है क्या ? किसी चीजकी असत्ता आंखोसे दिखती है क्या ? वह पुरुप इस कमरेमे आकर चौकी, अलमारी, बैन्च, चटाई ये सब देख गया, कलशका अभाव नही देख गया । कलशका अभाव देखनेकी चीज नही है । देखनेकी

चीज क्या है कि जिसका अभाव जाना है उसे छोडकर बाकी चीजका सद्भाव जाना, चौकी, चटाई, भीट आदिक सब कुछ निरखा इस रूप है कलशका अभाव।

किसी पदार्थके अभावकी अन्यपदार्थ सद्भावरूपता— एक पदार्थका अभाव दूसरे पदार्थके सद्भावरूप होता है यह बात बतायी जा रही है। जैसे जीवमे पुद्गलका अभाव है। पुद्गलमे जीवका अभाव क्या है? पुद्गल। पुद्गलका अभाव क्या है? जीव। एक का अभाव दूसरेके सद्भावरूप हुआ करता है। इस बातको अन्य दार्शनिकोने भी स्वीकार किया है और जैन दर्शन भी मानता है कि अभाव नामक तुच्छ अभाव सर्वथा अभाव नही तुच्छ अभाव कुछ चीज नही है। अभाव किसी अन्य पदार्थके सद्भावरूप होता है। तो यह कहना कि दोषके अभावका नाम गुण है सो दोषका अभाव तुच्छ अभाव नही। जैसे खरगोशके सीग ये तुच्छ अभाव है, मायने किसी पदार्थके सद्भावरूप नही है। आकाशके फूल ये किसीके सद्भावरूप नही हैं, इस तरहमे अभेद नही हुआ करता है। तुच्छ अभावकी सिद्धि नही होती, अभाव किसी न किसी पदार्थके सद्भावरूप रहता है। दोषका अभाव मात्र ही गुण कहलाये सो नही क्योकि अभावसे कार्य नही होता। कार्य होता है सद्भावसे। तो यथार्थ उपलब्धि दोष के अभावसे नही होती किन्तु गुणके सद्भावसे होती है।

तुच्छ अभावसे, असत्से कार्यकी अनुपलब्धि होनेसे मात्र दोषभावसे प्रामाण्यकी अनुत्पत्ति—जैसे कोई कहे कि गधेके सीगका धनुष बना लावो तो कोई बना सकेगा क्या? वह तो असत् है। सर्वथा असत्से कार्य की उपलब्धि नही होती। ना दो अर्थोमे आया करता है जैसे कोई कहे—'अब्राह्मणा भोज्यन्ताम्'—अब्राह्मणोको खिलावो अब इसके दो अर्थ है ब्राह्मणोको न खिलावो और ब्राह्मणोको छोडकर अन्यको खिलावो ऐसे दो अर्थ हुआ करते हैं न के। एक न का तो बिल्कुल निषेधरूप अर्थ होता है और एक न इसको छोडकर बाकीके सकेत करनेके अर्थमे होता है। तो जो प्रतिषेध रूप है "न" ऐसा यदि अभावको मानते हो तो ऐसा सर्वथा न से अभाव से कार्य नही बनता, दोषके अभावसे कार्य नही बनता, किन्तु दोषका-अभाव है गुणो के सद्भावरूप। उससे कार्य बनता है। जैसे कोई कहे कि यह लडका फेल नही हुआ परीक्षामे तो इसका क्या इतना ही अर्थ है पास हुआ। अभावका अर्थ किसीके सद्-भावरूप होता है, फेल नहीं हुआ, इसका केवल न से ही अर्थ लिया जाय तो उससे कक्षामे आगे न चढ जायगा। आगेकी कक्षामे चढेगा पास मानकर। फेल मानकर सर्वथा अभावरूप मानकर कक्षामे न चढेगा। तो किसीका अभाव अन्यके सद्भावरूप हुआ करता है। यो इन्द्रियमे दोषके सर्वथा अभावसे प्रमाणकी उत्पत्ति नही है किन्तु गुणोके सद्भावसे है।

अभावको अन्यके सद्भावरूप न माननेपर दोषके सद्भावकी भी असिद्धि और, भी देखिये—गुण और दोष ये दोनो परस्पर परिहाररूपसे रहते

है। जहाँ गुण है वहाँ दोष नहीं जहाँ दोष है वहाँ गुण नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि दोनोकी सत्ता हुआ करती है। जैसे जहा गर्मी है वहाँ ठड नही, जहाँ ठड है वहाँ गर्मी नही। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि ठड भी वस्तु है और गर्मी भी वस्तु है। अभावका अभाव क्या ? सद्भाव। यदि अभाव किसीके सद्भावरूप न माना जाय तो दोषोंकी भी सिद्धि नही होती। दोष किसे कहते हैं ? नैर्मल्यके अभावका नाम दोष है तो कहते जावो नैर्मल्यका अभाव है, दोष कोई चीज नही। अभावको यदि दूसरेके सद्भावरूप न माना जाय तो किसी बातकी सिद्धि नही हो सकती। तो जैसे निर्मलता आदिक गुणोंसे भिन्न याने गुणरहित चक्षु है, उसमें प्रमाण होनेमें जो स्वत मानते हो तो नैर्मल्यके अभावसे भिन्न कोई दोष नही है तो ऐसे चक्षुवोंसे उत्पन्न हुए अप्रमाणको भी स्वत मानो, अन्यथा प्रमाण परत मानो। अत प्रमाणकी भी उत्पत्ति परसे मानो और अप्रमाणकी भी उत्पत्ति परसे मानो।

प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी उत्पत्तिका सम्बन्ध – देखिये ! इस शङ्काका सम्बन्ध कहाँ है ? सूत्रजीमे बताया कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होता है तब परसे उत्पन्न हुआ ना ? इसपर यह दार्शनिक कह रहा है कि प्रमाणकी उत्पत्ति परसे नही होती पर है कहाँ वहाँ ? पर तो तब कहलाये जब इन्द्रियमे कोई गुण हो। जैसे इन्द्रियमे दोष है वह चीज है, उससे अप्रमाणकी उत्पत्ति होती है, उसके निराकरणमे कहा जा रहा है कि इन्द्रियमे गुण भी होते और दोष भी होते। मीमांसकोंने भी कहा है कि अप्रमाण्य तीन तरहका होता है - एक तो मिथ्या याने विपरीत, दूसरा—ज्ञानकी कमी और तीसरा सशय। इन तीनमेसे दो तो वस्तुरूप है मिथ्यात्व और सशय। ज्ञानको होनेको छोडकर दो तो किसी सद्भावरूप हैं तो उसकी उत्पत्ति दुष्ट कारणोंसे होती है ऐसा मानते हो तो इसका विरोध हो जायेगा अर्थात् अब तो प्रमाण जैसे स्वत माना ऐसे ही अप्रमाण भी स्वत, बन गया और यह जो कहा कि गुणोंसे दोषका अभाव होता तो इसका अर्थ ही यह है कि गुणोंसे गुण होते हैं और गुणोंसे प्रमाणकी उत्पत्ति होती है तो प्रमाणत्व परत बन गया।

ज्ञप्ति और उत्पत्तिकी अपेक्षा प्रामाण्यकी स्थिति—ज्ञान और प्रमाण यद्यपि एक ही बात है फिर भी प्रमाणका अर्थ यो समझना कि जब ज्ञानमे ऐसी दृढता सिद्ध की जाती कि यह ज्ञान यथार्थ सही है सो वह प्रमाण है अब उसमे प्रमाणताका आरोप करना यह परसे हुआ करता है और ज्ञप्तिकी दशामे प्रमाणता स्वत होती है और उत्पत्तिकी दृष्टिसे अनभ्यासमे स्वय व परसे उत्पत्ति होती है। ज्ञानका स्वरूप चल रहा है पहिले तो ज्ञानके स्वरूपका सविस्तार वर्णन किया। ज्ञान वही है जो स्वका और परका प्रकाश कराये। लौकिक ज्ञान तो हो गया पर यह ज्ञान प्रमाण रूप ही है, सत्य है, ऐसा पक्कापन दृढता किस कारणसे सिद्ध हो ? यह प्रश्न अब इस प्रसङ्गमे होता है जिसके उत्तरमे ये सब बातें बताती जा रही हैं।

दृष्टिका चमत्कार देखिये भैया ! जरा दृष्टि फेरने भरकी जरूरत है कि अपना यह आनन्दमयी आत्मा सबसे निराला अपनी दृष्टिमे आ जाता है। केवल दृष्टिका ही तो फेर है दुनियामे। अपने आपसे दृष्टि फेरी, बाहरमे दृष्टि की कि सारी उलझन, सारी समस्याएँ, विडम्बनाएँ कठिनाइयाँ ससार चक्र सब इसपर गुजरते है, और जरा दृष्टि अपनी ओर मोडकर कुछ अपनेमे निहारो कि समस्त सर्वस्व आनन्द निजी वैभव, सर्व कल्याण मगल शान्ति सब कुछ अपने आपसे प्राप्त हो जाते है। मुक्ति का मार्ग क्या है ? सकटोसे छूटनेका उपाय क्या है और वह कितना कठिन या सुगम है—इसको केवल एक इस कहावतसे समझिये—'ज दिट्ठा तित पिट्ठा, जित पिट्ठा तित दिट्ठा। यही सारे सकटोसे छूटनेका उपाय है। आज हमारी पीठ और जिससे हम पीठ किए हुए हैं उसकी ओर हो जाय दृष्टि बस समझिए कि सर्व कल्याण हस्तगत हो गए। धन्य है वे योगीश्वर जो अपने ऐसे योगीश्वरोको क्या प्रामाण्य है यह उनके स्वरूपमे ही निर्णीत है। धन्य हो वह सगति, धन्य हो वह वाणी जिसमे रमकर यह जीव अपने आपके ज्ञानानन्दघन निज अतःतत्त्वकी दृष्टि बनाता है।

दृष्टि परिवर्तनकी सुगमता— भैया बाहरमे सब माया, सब मोह जाल, ससारमे रुलानेके साधन है। जीते जाइये, जितने वर्ष जीना है। अन्तमे सुध आयगी— ओह ! मेरा कुछ न था। जब सब कुछ छोडकर जाना पडता है तो सबका वियोग होगा ना, ओह ! मेरा कही कुछ न था, व्यर्थ ही श्रम किया, यदि अभी से इस भेद विज्ञानकी भावना बना ली जाय तो कुछ सिद्धि भी हो लेगी। पर जिन्दगीमे यदि भेद भेद विज्ञानकी भावना न थी तो फल यह होगा, अतमे सक्लेशसे मरण होगा। अरे जिस ओर दृष्टि लगा रहे है जिस ओर अपना आकर्षण बनाये है वहासे पीठ करलें, दृष्टि हटा ले। देखिये बहुत छोटी सी बैट्री होती किन्तु उजेला बहुत तेज होता उस बैट्रीका सारा प्रकाश मोडनेमे कितना विलम्ब लगता है। उसके बल्बका मुख मोड दिया, वहासे प्रकाश हटा, दूसरी ओर गया, उसमे भी विलम्ब है। उसमे भी क्षेत्रका अन्तर है परन्तु अपने आत्मामे उत्पन्न होने वाली ज्ञान ज्योति ज्ञान दृष्टि, इस दृष्टिका मोडनेमे न क्षेत्रका अन्तर है कि कुछ प्रदेशोसे हटना पडता है और न इतनी विलम्ब की बात है। यह दृष्टि यह उपयोग बाहरकी ओर है, न करें बाहरकी ओर, भीतरकी ओर, उपयोग दे, तो उसमे कितना विलम्ब लगता है ? कुछ भी तो देर नही लगती जैसे अभी कलकत्ताका ध्यान कर रहे बादमे बम्बईका ध्यान करने लगे तो इसमे कुछ विलम्ब लगा क्या ? यों ही समझिये कि बाहरी पदार्थोमे दृष्टि हटाकर अपने आपके अन्त स्वरूपकी दृष्टि लगानेमे कितनी देर लगती है, क्या कठिनाई पडती है ? पर वासनायें बनी है अनादि कालसे और समागम भी मिलता है मोही जनोका अतएव बाह्य दृष्टि हटाकर अन्तर्दृष्टि करना कठिन मालूम होता है।

तत्त्वरुचिकी अत्यावश्यकता— अहो ! विषय कषायोमे प्रवृत्ति तो इसे

सुगम प्रतीत होती, किन्तु अपने आपमे विशुद्ध वृत्ति करना कठिन प्रतीत होती है। जैसे एक दिलका ही बहलावा है मदिरमे दर्शन करने जानेका। यह भी एक शुभ बहलावा है। दिल बहलाने आये मदिरमे, पर ज्यादा देर क्यो नही टिक सके, अथवा किसी तत्त्ववार्ताके सुननेमे रुचि क्यो नही जगती। दर्शन करनेमे भी शुद्धभावसे प्रभु नाम नमस्कार मत्र क्यो नही जपा जाता ? आये, देर नहीं हुई, चलनेकी जल्दी लगी, चले गये क्या बात थी वहा ? वासना दूसरी पडी हुई है, दिल बहलावाकी एक रुटीन यह भी है। यो समझिये कि जब यहा तक भी वासना नही छूटती, वासना से मन प्रेरित है। तो ऐसे वासना वाले मनमे दृष्टि निजकी कैसे जग सकती है। लेकिन यह पूर्ण निर्णीत है कि जब तक अपने आपके स्वरूपकी दृष्टि न बनेगी। यह आत्मा अपने आपके स्वरूपको न निरखेगा और इस ही कारण जो एक अनुपम अद्भुत् आनन्द होता है उसको न अनुभवेगा तब तक जीवके सकट कभी टल नही सकते मोहजालमें क्या रखा है। दूसरे पदार्थोकी सेवा कर करके अपने आपके आत्मबलको शिथिल कर करके कौनसा लाभ लूट लिया जायगा ? चेतना चाहिए, कुछ अपने आत्माकी भी सुध लेना चाहिए। उस ही आत्माकी चर्चा है। यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान स्वपर प्रकाशक है और ज्ञानमे प्रमाणताकी उत्पत्ति जिसे व्यवहारिक रूप देते हैं परसे होती है और वह जानकारी स्वसे सम्बन्धित जिससे प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है वह परिचयकी स्थितिमे स्वत होती है और अपरिचयकी स्थितिमें उसकी प्रमाणता परसे होती है।

परोक्ष ज्ञानकी परत उत्पत्ति हम आप लोगोका ज्ञान इस समय किसी कारणको पाकर उत्पन्न होना है। यद्यपि आत्माका स्वभाव ज्ञान है तथापि इस कर्म सहित अवस्थामे हम आप जिन जीवोकी स्थिति ऐसी है कि इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर ज्ञान उत्पन्न होता है तब ज्ञानकी उत्पत्ति परसे हुई। यद्यपि ज्ञानका उपादान आत्मा ही है पर यहाँ सर्वतोमुखी निर्णय किया जा रहा है। दर्शन शास्त्रका प्रकरण है। यह ज्ञान इस पर निमित्तके बिना नही हो सकता अतएव ज्ञानकी उत्पत्ति परसे मानी गई है और ज्ञान है सो प्रमाण है, प्रमाणसे भिन्न ज्ञान कुछ नही है। तब प्रमाणकी भी उत्पत्ति परसे हुई।

ज्ञानकी उत्पत्ति परत होनेपर भी उसमे प्रामाण्य स्वत होनेकीआशङ्का—स्वत प्रामाण्यवादी शङ्काकार यह कह रहा है कि ज्ञानकी उत्पत्ति चाहे परसे हो जाय, पर ज्ञानमे जो प्रमाणता आती है उस प्रमाणताकी उत्पत्ति परसे नही होती वह स्वत ही है, क्योकि प्रामाण्यका नाम है पदार्थ जैसा है उस प्रकारसे प्रकाश करदे, जानकारी बना दे, इसीका नाम है प्रमाण। सो चक्षु आदिक इन्द्रियसे ज्ञानकी तो उत्पत्ति हो गई और अब प्रामाण्यकी उत्पत्ति नही हो सकी। प्रामाण्यकी उत्पत्ति इसके बाद इन्द्रियके गुण आदिकसे मानते हो जैन लोगो ! उनसे कह रहा है शङ्का-

कार। तो ज्ञानकी तो उत्पत्ति हो गई चक्षु आदिक सामग्रीसे फिर भी अभी प्रामाण्य की उत्पत्ति नहीं हुई है। तो जरा ज्ञानका स्वरूप तो बताओ कि प्रमाण तो अभी बनता नहीं और ज्ञान कहलाने लगे ऐसा ज्ञान भी कुछ है क्या ? अरे ज्ञानरूपताको छोडकर प्रमाणका स्वरूप और कुछ नही देखा जाता और प्रमाणरूपताको छोडकर ज्ञानका स्वरूप और कुछ नहीं देखा जाता जिससे तुम यह मान सको कि ज्ञानकी तो उत्पत्ति हो गयी पर अभी प्रमाण उत्पन्न नही हुआ। प्रामाण्यकी उत्पत्ति इसके उत्तर कालमे मानी जायगी। ऐसा नही है कि जैसे भीट तो पहिले बन गयी, उसपर चित्रकारी बादमे लिखी जायगी। ऐसा यहाँ नही है कि ज्ञान तो उत्पन्न हो गया उसकी प्रमाणता बादमे उत्पन्न हो। ज्ञान प्रामाण्यस्वरूपको लिए हुए है।

ज्ञानकी भाति प्रामाण्यकी भी उत्पत्ति परसे हो सकनेमे शङ्का समाधान शङ्काकार कह रहा है और शङ्काकारकी शङ्का कुछ ठीक जच रही होगी उसका यह कहना है कि ज्ञान तो उत्पन्न हो जाता पहिले और उसकी प्रमाणता होगी बादमे, तो ज्ञानकी उत्पत्तिके साधन तो हुए और कुछ, और प्रामाण्यकी उत्पत्तिके साधन हुए और कुछ, तो विरुद्ध धर्म होनेके कारण और कारणभेद होनेके कारण ज्ञान जुदी चीज रही और प्रामाण्य जुदी चीज रही, फिर ज्ञानकी प्रमाणता यह कह ही कैसे सकते ? शङ्काकार यह कह रहा है। समाधान उसका इतना ही है कि ज्ञान की उत्पत्ति और प्रमाणकी उत्पत्तिका भिन्न-भिन्न समय नही है। जिस कालमे ज्ञान उत्पन्न होता उसी कालमे प्रमाणता भी बन गयी और जो ज्ञानके कारण हैं चक्षु आदिक वे ही प्रमाणके कारण हैं। सो प्रामाण्यकी भी ज्ञानकी भांति उत्पत्ति परसे हुई।

प्रामाण्य स्वत उत्पन्न होनेकी शङ्काका एक युक्ति द्वारा समर्थन और समाधान अब फिर शङ्काकार कह रहा है। ध्यानसे सुनने लायक शङ्का है। देखिये ! प्रामाण्य नाम उसका है जो पदार्थको उस ही प्रकार जना देवे, ऐसी शक्ति ! पदार्थ जैसा है उसको उस ही प्रकार जानकारी करा दे, ऐसी शक्तिका नाम है प्रामाण्य। और शक्ति भावोमे स्वत ही उत्पन्न होती है। उत्पादक कारणोके आधीन नही है। प्रमाणकी प्रमाणता स्वयमेव होती है अन्य किसी कारणोसे नही होती। जैसे बालूमे तैल नही है तो कितने ही कोल्हूवोमे पेला जाय पर उसमे तेलकी उत्पत्ति नही हो सकती। ऐसे ही ज्ञानमे प्रामाण्य स्वय मौजूद है अतएव प्रामाण्य स्वय होता है। और, भी विशेष समझिये कि कायमे रहने वाले धर्म कारणमे होते है कोई, तो वह उस कारणसे उत्पन्न होता समझिये, पर जो कारणमे धर्म नही है और धर्म उत्पन्न होता है कार्यमे, तो वह धर्म कार्यमे स्वत उत्पन्न होता है। जैसे मिट्टीमे रूप है, यदि मिट्टीके पिण्डका घडा उत्पन्न होता तो वह भी मिट्टीसे ही आया लेकिन उस मिट्टीसे घडा जब बन चुका तो घडा बन चुकनेपर घडेमे जल धरनेकी जो शक्ति है वह

क्या उस मिट्टी, कुम्हार, दण्ड, चक्र आदिकसे आयी है ? घटकी उत्पत्तिमे तो वे कारण बने, पर घडेमे पानी रखनेकी जो शक्ति आयी है वह घडेमे स्वय आई है, कारणसे नही आयी है, इसी प्रकार ज्ञान तो परसे उत्पन्न होने लगा, ठीक है, पर ज्ञानमे जो प्रमाणता आई है वह परसे नही आयी, किन्तु स्वयमेव आयी है । कोई भी भाव अपने स्वरूपकी प्राप्तिमे कारणोकी अपेक्षा रखता है, परन्तु उनका स्वरूप बन जाय फिर अपना कार्य करनेमे उसकी प्रवृत्ति स्वयमेव होती है । ये सब शङ्काएँ इस भ्रमपर निभर हैं कि ज्ञान और प्रमाणता इन दोनोको अलग अलग मान रखा है । ज्ञान ही प्रमाण स्वरूप है । ज्ञानकी उत्पत्ति परसे हुई इसका अर्थ है प्रमाणकी उत्पत्ति परसे हुई । और देखिये लोग कहते भी हैं कि हमारे चक्षु जब दोपवान थे तो पदार्थ हमे उल्टा दिखते थे और अब हमारी इन्द्रियमे निर्मलता आयी, दोष मिटा तो हमको पदार्थ सही मालूम होने लगे । तो पदार्थका सही मालूम होनेमे कुछ कारण बना कि नही बस वही कहलाया पर । यो प्रमाणकी उत्पत्ति परसे हुई ।

ज्ञान, प्रामाण्य और उनकी उत्पत्ति विधि ज्ञान और प्रामाण्यके सम्बन्धमे कलकी तीन बातोका स्मरण कर लेना, जो कल कहा गया था कि इस ज्ञान के वर्तनमे तीन बातें गुजरती हैं—ज्ञान स्वसम्वेदी है, वह अपने आप ही अपने आपको जानता है । जब ज्ञान उत्पन्न होता है तो अपने आपको जानता हुआ, चाहे उसपर उपयोग दें या न दें जो बात खुदके प्रदेशोपर गुजरती है वह तो विदित होकर गुजरी, अनुभूत होकर गुजरी, चाहे हम अपने उपयोगको विदित करें या न करें । जब ज्ञान का काम केवल जानन है तो जाननका गुजरना वेदनरूपसे होता है । यो मूलमे ज्ञान स्वसम्वेदी है पर वह ज्ञान जिस पदार्थको जानता है उस पदार्थका निर्णय, यह ज्ञान सही है यह पदार्थ यो ही है इस प्रकारकी प्रमाणताका निर्णय परिचित दशामे तो स्वयमेव हो जाता । हम रोज मदिर आते हैं और मदिरकी सारी चीजे निरखते हैं, यह खम्भा है, यह चौकी है वेदी है, प्रतिमा है आते ही झट समझ लेते हैं और जो कुछ करना होता है निशक होकर अपनी प्रवृत्ति करते हैं । किसी अन्य शहरके किसी अपरिचित स्थानमे पहुचे, वहाँ मदिरमे जाये तो कैसा देखकर सोचकर जाते हैं, कैसी नई निगरानी सी बनाकर देखते हैं तो अभ्यास दशामे होने वाली जानकारीमे और अनभ्यास दशामे होने वाली जानकारीमे कुछ अन्तर है । यही बात प्रमाण और अप्रमाणकी है । अनभ्यास दशामे प्रामाण्य परसे होता है और अभ्यास दशामे प्रामाण्य स्वत होता है । यह सिद्धान्त रखा जानेपर कि प्रमाणमे प्रमाणता परसे होती है इसके लिये हेतु दिया यथार्थ उपलब्धि होनेके कारण । जब पदार्थकी हमे सही रूपमें जानकारी हुई तो उसमे कोई कही कारण होगा ।

केवल जानकारी मात्र होनेसे प्रामाण्य स्वत माननेपर शङ्का समाधान ज्ञान और प्रामाण्यके सम्बन्धमे शङ्काकारने यह बात रखी थी कि भाई

यथार्थ उपलब्धि कोई नई बात नही है। २ तरहकी उपलब्धि होती हैं एक यथार्थ जानकारी और एक अयथार्थ जानकारी इन दोनोको छोडकर कोई और जानकारी हो फिर उसमे यथार्थता जोडी जाय तो वह हेतु तुम्हारा सही है, किन्तु यथार्थ और अयथार्थको छोडकर उपलब्धि होना और कुछ है ही नही ? उत्तरमे यो समझना चाहिये कि सामान्य विशेष निष्ठ हुआ करता है। यथार्थ जानकारीमे या अयथार्थ जानकारीमे जो भी सामाण्य है वह विशेष निष्ठ होता है। जैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य शूद्र चार प्रकारके मनुष्य हैं तो कोई कहे कि मनुष्य सामान्य तो कुछ चीज ही नही। अरे मनुष्य सामान्य अलगसे कुछ चीज नही किन्तु उन चार वर्णोंकी व्यक्तियोमे जो अनुगत प्रत्ययको लिये हुए बोध है उसमे मनुष्य सामान्य बराबर परखा जा रहा है। तो निर्विशेष सामान्य नही हुआ करता। पर समस्त पदार्थोंमे यह यह है, यह भी है ऐसा जो एक अन्वय रूप बोध होता है उसमे सामान्य परख लिया जाता है। जैसे गाय कोई नीली है, पीली है, काली है, सफेद है, लाल है। कोई छोटी सीगकी है कोई बडी सीगकी है, अनेक प्रकारकी हैं पर उन सब गायोमे यह भी गाय हैं, यह भी गाय है, ऐसा जो गोत्व सामान्य है वह भी कुछ तत्त्व है या नही ? सामान्य विशेषमे रहा करता है और फिर जो इस लोकको प्रमाणित करना चाहे उनको दोनो बातें परसे माननी होगी। प्रमाणता भी परसे होती है और अप्रमाणता भी परसे होती है। उत्पत्तिकी अपेक्षा।

प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी उत्पत्तिविधि—शङ्काकारने यहाँ यह कहा कि प्रामाण्य तो स्वय होता और अप्रामाणता परसे होती है। यदि अप्रमाणता परस है तो प्रमाणता भी परसे है। अन्यथा, अप्रामाण्य भी स्वत है और प्रामाण्य भी स्वत है। ज्ञानमें अगर स्वसम्वेदन आया तो वह भी स्वय आया। तो ज्ञानमे जो मिथ्यापन आया तो वह भी ज्ञानमे स्वय आया। यदि ज्ञानका मिथ्यापन दोषसे मानते हो तो ज्ञानमे सहीपन गुणोसे मान लो। गुणदोषरहित इन्द्रिय सामान्य कुछ नही है। इन्द्रिय है तो या तो गुणवाली होगी या दोषवाली होगी। गुणवाली इन्द्रियसे जो प्रमाण ज्ञान उत्पन्न होता वह परत कहलाया और दोषवाली इन्द्रियसे जो अप्रमाणता उत्पन्न हुई वह भी परत कहलायी। और, जो तुम्हारा यह कहना है शङ्काकारसे कहा जा रहा है कि कभी निर्मल भी इन्द्रिय पदार्थको उल्टा जान जाती है और कभी ललाई लिए हुए भी चक्षु पदार्थको सही जान जाते हैं। फिर गुण दोषका नियम कैसे बना ? तो इसमे भी जानने वालेका ही दोष है। किसी भी अन्य कारणसे किसी पदार्थमे किसी पदार्थका अभिप्राय कर लिया गया, भाई दोष तो अनेक होते हैं, केवल एक आंखकी ललाईको ज़ाना इतने ही तो दोष नही, वात, पित्त, कफ आदिकके विकार भी कितने ही प्रकारके हैं कि इन्द्रियमे हमारी समझमे भी न आ रहे हो ऐसे भी दोष आ जाया करते हैं। गुण उत्पन्न हुआ तभी प्रामाण्य आया। ज्ञान उत्पन्न होनेके बाद फिर ज्ञानकी प्रमाणताके लिए गुणकी अपेक्षा की जाय, ऐसा तो नही माना। भाई।

ज्ञान हुआ तो उसीके साथ या प्रमाण बन गया या अप्रमाण । तो यों हम आप सब लोगोंका छद्मस्थ अवस्थामें ज्ञान भी परसे हुआ और प्रमाण भी परसे उत्पन्न हुआ ।

उपादानदृष्टिसे कार्यकी उत्पत्तिका स्वत ही विधान—भैया ! यहाँ सुध रखना चाहिए कि उपादान दृष्टिसे ज्ञान आत्मामें ही उत्पन्न होता है इन्द्रियमें उत्पन्न नहीं होता । प्रत्येक पदार्थ अपने आपके स्वरूपमें ही अपना कार्य उत्पन्न करते है, किसी परका स्वरूप लेकर कार्य उत्पन्न नहीं किया करते । जैसे मिट्टीमें घडा बना तो उसमें बाहरी कारण कितने ही थे कुम्हार भी, चक्र भी दण्ड भी । लेकिन घडा जो बना वह मिट्टीके ही अवयवोंसे बना कुम्हारसे, चक्रसे या दण्डके किसी हिस्सेमें नहीं बना । प्रत्येक कार्य जिस पदार्थकी अवस्थायें होती हैं उस ही पदार्थसे उत्पन्न हुआ करती है हाँ, उस उत्पत्तिमें पर पदार्थ निमित्त भले ही रहे आयें । यहाँ भी जितने कार्य हम आपको नजर आते हैं उसमें भी उपादान निमित्तकी बराबर विधि चल रही है । यह चौकी बनी तो बढईने बनाया, बसूला आदिक हथियारोंने बनाया तिसपर भी चौकी न बढईके प्रदेशोंमें बनी न बसूला आदिक हथियारोंमें बनी किन्तु काठमें बनी । काठकी ही ऐसी अवस्था हुई । तो चौकीके निर्माणमें उपादान दृष्टिसे यद्यपि यह अवस्था परमें नहीं हुई, स्वयमें हुई, लेकिन निमित्त पाये बिना बढई और उस प्रकारका व्यापार हुए बिना चौकीका निर्माण हो गया था क्या ? इसी दृष्टिसे कहा जाता कि चौकीकी उत्पत्ति बढई आदिकसे हुई है ।

उपादानदृष्टिसे ज्ञान और प्रामाण्यकी उत्पत्तिका स्वत ही विधान—उक्त उदाहरणकी भाँति ज्ञानकी भी बात है । ज्ञान यद्यपि आत्माके ज्ञानस्वभावसे ही उत्पन्न होता है पर पदार्थोंके स्वभावसे नहीं । ज्ञानमय आत्माकी परिणति ही ज्ञान है लेकिन आज जो ससार अवस्थामें जीवोंकी अवस्थाएँ हैं उन अवस्थाओंमें ज्ञान आवृत है ज्ञान अविकसित है उसका विकास इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर बन पाया है तो निमित्त दृष्टिसे उत्पत्ति परसे हुई उपादान दृष्टिसे उत्पत्ति स्वयको हुई । एक बालक स्कूलमें पढता है उसके अध्ययनके लिए उसके ज्ञानविकासके लिए गुरुका शिक्षण चाहिए पुस्तक चाहिए, कापी, पेन्सिल कलम आदिक चाहिए सब साधनोंको वह जुटाता है, पर बालकमें जो ज्ञानका विकास हुआ वह क्या कागज, पेन्सिल, कलम दवात आदिक चीजोंसे निकलकर हुआ ? ये सब तो अजीव हैं जड हैं, जडसे ज्ञान आता ही नहीं है, और गुरुका ज्ञान कोई आनेकी चीज है ? गुरुका ज्ञान गुरुके आत्मामें ही परिसमाप्त होता है । गुरुका ज्ञान यदि गुरुसे निकलकर लडकोंमें जाने लगे तो कुछ ही दिनोंमें वह गुरु तो ज्ञानशून्य हो जायगा, क्योंकि जहाँ ४०–५० लडकोंको ज्ञान दिया वहाँ ज्ञान खतम ! प्रत्येक पदार्थकी अवस्था उस ही पदार्थमें उत्पन्न होती है, पर तो निमित्त मात्र है ।

वचन व्यवहारके समय उपादान निमित्तका तथ्य—इस समय भी हम

कुछ बोल रहे हैं, कुछ सोचकर बोल रहे हैं। जो भी चेष्टायें हम कर रहे हैं, वह स्वय कर रहे है, पर इस प्रकारकी चेष्टायें हम ऐसे श्रोताजनोके वातावरणका निमित्त पाकर कर रहे हैं, तो यहाँ हमारी चेष्टा उपादानसे तो हममे ही स्वयमे स्वत हो रही है और निमित्त दृष्टिसे इतने श्रोताबोका निमित्त पाकर एक ऐसा अतरगमे आशय बनाकर कि कुछ कहना चाहिए चेष्टा हो रही है इसी प्रकार सुनने वाले सभी लोग जो कुछ समझ रहे हैं वह सब वे अपने आपके ही प्रदेशोमे अपनी ही ज्ञान वृत्तिसे अपने ही आपमे परिणमन कर रहे है। हा उसमे निमित्त ये वचन भले ही पडे, पर जो कुछ अब था जिस पदार्थमे गुजरती है वह उस होसे उत्पन्न होती है। यह है निश्चय दृष्टिका कथन और वह बनी कैसे उसका कारण कलाप क्या है, ऐसी अवस्था बनानेके लिये हमे प्रयत्न कहा कहा का करना चाहिए, यह सब निमित्त दृष्टिसे बात विदित होती है। तो ज्ञानकी उत्पत्ति निमित्त दृष्टिसे परसे बतायी गई है और उपादान दृष्टिसे स्वत बतायी गई है। अब ज्ञानमे जो जानकारी है, जाननरूप क्रिया है और ऐसा जानन, जिसकी वजहसे हम लगने योग्य बातमे लग जाये और हटने योग्य बातसे हट जायें, यह सब परिचित दशामे स्वत होता है और अपरिचित दशामे परत होता है।

ज्ञानके फल और उनमे निर्णय ज्ञानके ४ फल है प्रथम तो ज्ञानकारी हो जाना, दूसरा जो ग्रहण करने योग्य बात है जिस तरह है उसे ग्रहण करले। तीसरा फल है- जो छोडने योग्य वस्तु है उसे छोड दे, और चौथा फल है कि न छोडना न ग्रहण करना, किन्तु उपेक्षाभाव रखे रहना देख लो जाननमे ये चार बातें हुआ करती है कि नही। इनमेसे जो पहिला फल है जानकारी हो जाना वह तो उसका स्वरूप है निश्चयरूप फल है और जो ग्रहण करने योग्यको छोड दे ये जो दो फल हैं ये कुछ रागाशको लेकर होते है। ज्ञानके साथ यदि किसी प्रकारका राग है तो ग्रहण करने योग्यको ग्रहण कर लेता और छोडने योग्यको छोड देता तो जब विवेक और अनुराग इन दोनोका सगम होता है तब ऐसी स्थिति बनती है कि उपादानको ग्रहण किया और हेयको छोडने लगे। जब अनुराग नही रहता, रागद्वेषकी वृत्ति नही रहती तो जानकारी करके एक उपेक्षा कर दी जाती है। न लगना न हटना केवल जानकारी रह गई। और ग्रहण हो जाना छोड देना यह उसमे बात नही होती। तो ये सब ज्ञानकी वृत्तियाँ ज्ञानकी ऐसी किस्मे अनेक अनेक कारणोंके होने पर हुआ करती है। उस ही ज्ञानकी प्रमाणताके सम्बन्धमे यहाँ वर्णन चल रहा है। ज्ञानकी प्रमाणता परिचय वाली जगहमे स्वय होता है यह सही बात है और ऐसे न परिचय वाली जगहमे कुछ और और साधनोसे परख होती है कि हमरा यह ज्ञान यथार्थ है।

प्रमाण और प्रामाण्यकी विधिपर शङ्का समाधान शङ्काकार दार्शनिक यह मानता है कि जो तत्त्व कारणमे पडा हो उसमे होने वाले कार्योंकी उत्पत्ति तो

परसे मानी जायगी और जो तत्त्व कारणमे न पड़ा हो और कार्यमे ही दीखे तो उस की उत्पत्ति स्वत मानी जायगी। जैसे मिट्टीसे घड़ा बना तो घड़ेमे भी रूप है, और मिट्टीमे भी वह रूप था, तो चू कि वह मिट्टीमे भी रूप था अत घड़ेमे रूपकी उत्पत्ति मिट्टी कारणसे हुई लेकिन घड़ा बननेपर जो घड़ेमे पानीके धारणकी शक्ति है वह उस मिट्टीमे न थी, अतएव घटेमे जल धारण शक्ति स्वयमेव हुई है इसी प्रकार ज्ञानकी उत्पत्ति जिन कारणोसे हुई है उन कारणोमे हो गया ठीक है पर ज्ञान होनेपर ज्ञानमे जो प्रमाणता आयी वह प्रमाणता ज्ञानके कारणोमे नही मिलती। अतएव प्रमाण्य स्वत होता है। इस आशङ्काके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा मानने वालोंके यहाँ आत्मामे अविद्यमान जो ज्ञानरूपता है वह इन्द्रिय कैसे बन जायगी क्योकि आत्मा मे और इन्द्रियमे भी ज्ञानरूपता नही है। इस शङ्काकारके यहाँ आत्मा ज्ञानस्वरूप नही है ज्ञानका सम्बन्ध होता है तो आत्मामे अविद्यामान ज्ञानकी उत्पत्त होती मानी है। सो जब आत्मामे अविद्यमान होनेपर भी ज्ञानकी उत्पत्ति इन्द्रियसे मान ली तो *अर्थको ग्रहण करनेकी शक्तिरूप प्रामाण्य यदि गुण वाली इन्द्रियसे मान लिया जाय* तो इसमे कौनसा अपराध है ? ये समस्त शक्तिया अपने आधारभूत ज्ञानोसे भिन्न नही है। ज्ञान यदि परसे उत्पन्न हुआ तो तुरन्त ही यह भी कहना होगा कि उसमे प्रामाण्य भी परसे उत्पन्न होता तो जो ज्ञान होता है उस ज्ञानमे आगे होने वाले ज्ञानसे प्रमाणता न माने स्वत माने तो अप्रामाण्यमे भी स्वत मान लो। ज्ञान हुआ वह ज्ञान यदि पर कारणोकी अपेक्षा रखा करता है तो ज्ञानकी प्रमाणता भी अपेक्षा रखकर हुई और जहाँ नही हुई वहाँ प्रमाणता स्वत हुई।

परोक्ष ज्ञानोके प्रामाण्यके निर्णयका प्रसङ्ग प्रभुका ज्ञान कारणोकी अपेक्षा नही रखता तो उसका प्रामाण्य भी स्वत है लेकिन प्रभुके ज्ञानकी बात नही कह रहे। प्रभुका ज्ञान न प्रमाण है न अप्रमाण। इस क्षेत्रमे देखिये – प्रमाणकी खोज वहा की जाती जिस जगहमे अप्रमाणकी भी सम्भावना हो। प्रभुके ज्ञानमे अप्रामाण्यकी एक क्षणको भी सम्भावना नही है फिर वहा प्रामाण्यका क्या निर्णय करना, प्रामाण्यका निर्णय तो वहा किया जाता है जहा सम्वाद है और विसंवाद भी है। सवाद विसवादकी घटनाये यहा आप हम सबके चलती हैं सो लौकिक जनोंसे मुमुक्षु जनो तक प्रामाण्य अप्रामाण्यकी चर्चा चल रही है।

प्रमाणसे प्रामाण्यकी भिन्नता न होनेसे प्रमाणवत् प्रामाण्यकी उत्पत्ति शङ्काकारने जो यह कहा था कि पदार्थकी उत्पत्ति तो परसे हुई किन्तु पदार्थमे जो अपने कार्यमे प्रवृत्ति होती है वह स्वयमेव होती है। जैसे घड़ेकी उत्पत्ति तो मिट्टी, कुम्हार आदिकसे हुई किन्तु घड़ेमे जल भरे रहनेकी शक्ति कुम्हारसे या उस मिट्टीसे नही हुई वह घड़ेमे स्वय हुई है। ऐसा कहना और इस प्रसङ्गमे घटाना यह कथन मात्र है, क्योकि प्रामाण्यका अर्थ है क्या ? जैसा पदार्थ अवस्थित है उस ही रूपमे

पदार्थको जान लेना यह प्रमाण है और जब ऐसा प्रमाणका स्वरूप बन गया तो प्रमाणका स्वकार्य क्या है ऐसा जानना, ऐसी पक्काई रखना और उसके फलमे ग्रहण और त्याग करना इस कार्यमे फिर किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नही, किन्तु जिस कारणसे ज्ञान बना उसी कारणसे प्रामाण्य बना और उसका कार्य बना, कोई भिन्न कारण हम नही मानते। जो प्रमाणकी उत्पत्तिका कारण है वही प्रामाण्यकी उत्पत्तिका कारण है। यो समझ लीजिए जो ज्ञान उत्पन्न होनेका कारण है वही ज्ञानकी पक्काईका निर्णय करनेमे भी कारण है और फिर इस शङ्काका के यहाँ विज्ञान तो उत्पत्तिके बादमे ही नष्ट हो जाता है अथवा हो जाता है सभी का। जिस किसी भी पदार्थका ज्ञान हो वह ज्ञान आगे ठहरता कहा है? फिर अन्यका ज्ञान करने लगता है तो उत्पत्तिके बाद ही बिनाश है फिर उसकी प्रवृत्ति स्वतमेव कैसे हुई? विज्ञान ही नही रहा

यथार्थ ज्ञप्तिको प्रमाणकार्य माननेपर प्रामाण्यकी स्वत उत्पत्ति माननेकी अनियमत शङ्काकारने जो यह कहा कि प्रमाणकी उत्पत्ति तो परसे है मगर प्रमाणमे जो पक्काई आती वह स्वत होती है। प्रमाणका कार्य स्वत होता है, तो उनसे पूछा जाता है कि जैसा पदार्थ है वैसा जान लिया इतना प्रमाणका काम है क्या? या यह प्रमाण है ऐसा दृढ निर्णय रखना, यह प्रमाणका कार्य है? यदि कहो कि प्रमाणका कार्य यह है कि जैसा पदार्थ है वैसा जान लिया। अरे तो इसीका ही नाम तो प्रमाण है। प्रमाणका कार्य भिन्न और हुआ क्या? प्रमाणका कार्य जो यह अर्थ परिज्ञान मानेगे तो इसका अर्थ है प्रमाणने अपने आपको किया। जब प्रमाण परसे बना तो प्रामाण्य भी परसे बना। कोई सही ज्ञान हो यह चौकी है यह ज्ञान तो प्रमाण कहलाता और यह ज्ञान सही ही है, ऐसी जो पक्कायत ज्ञानमे बसी हुई है इसका नाम है प्रामाण्य। तो वह प्रामाण्य प्रमाणरूप है भिन्न चीज नही, जैसे ज्ञान और ज्ञानत्व, मनुष्य और मनुष्यत्व। ये कोई न्यारी चीज नही हैं। मनुष्य कहो तो एक मनुष्यका बोध हुआ और मनुष्यत्व कहो तो मनुष्यकी विशेषताका बोध हुआ। ऐसे ही प्रमाण और प्रामाण्य ये कोई न्यारी चीज नही है। प्रमाण यदि निर्दोष निर्मलता आदिक गुणवाली इन्द्रियोसे उत्पन्न होता है तो प्रामाण्य भी इसी तरह मान लीजिये। प्रमाणसे माना कि परसे हुआ और प्रामाण्यको माना कि स्वत हुआ यह बात ठीक नही है। यह बात कही जा रही है और जा दृष्टान्त देते हो कि घडा तो परसे उत्पन्न हुआ पर जल धारणकी शक्ति घडेमे परसे नही हुई, अरे तो जिन अवयवो से घडा बना वे ही अवयव तो सब शक्तिके कारण हैं। उनका भी रूप घडेके रूपमे कर दिया। पर जितनी भी बात बनेगी किसी भी पर्याय बनकर वे सब शक्तियाँ उसके अवयवोमे हैं, द्रव्यमे हैं, पिण्डमे है। तो यदि यथार्थ परिज्ञानका नाम प्रमाणका कार्य है तो प्रमाणने अपने आपको किया यह ही समझना चाहिए।

यथार्थताके दृढ निर्णयको प्रामाण्य माननेपर प्रामाण्यकी समस्याका

समाधान यदि प्रमाणका कार्य यह मानते हो कि यह प्रमाण है ऐसा निर्णय निश्चय रखना सो प्रामाण्य है अर्थात् अपने आपके ज्ञानमे यह सही है इस प्रकारका जो अपने आपका परिज्ञान है, उसका नाम प्रामाण्य है। तो कहते हैं कि वह तो स्व रूप है उत्पत्ति क्यो मानते। और फिर कभी कभी तो जान रहे हैं गलत और भीतर मे यह निर्णय वन जाता कि यह ठीक है और कभी कभी जान तो रहे हैं ठीक और निर्णय यह वन जाता है कि यह कुछ गलत मालूम होता है तो इसका जो निश्चय है वह अपने आपकी कल्पनामे न वनेगा किन्तु युक्तियोंमे, साधनोंमे, प्रमाणसे यह सव कुछ जानकर कि चूँकि इसकी इन्द्रिया निर्दोष हैं, फासला भी सही है, सारी बातें जाननेसे माना जायगा कि यह ज्ञान प्रमाण है। प्रामाण्यका निर्णय तो युक्तियोंसे, वहु सम्मत मतव्योसे वनेगा, केवल एकका जिसका ज्ञान है उसकी कल्पनासे न वनेगा।

व्यवहार्य ज्ञानोमे प्रामाण्य अप्रामाण्यके निर्णयकी आवश्यकता—सिद्धान्तमे ज्ञानके ५ भेद माने हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान। मन, पर्यय ज्ञान, और केवल ज्ञान। इन ५ मेंसे तीन तो परमार्थ प्रत्यक्ष हैं साव्यवहारिक नही किन्तु इन्द्रियकी सहायताके बिना केवल अपने आत्माकी उत्पत्ति होना प्रत्यक्ष प्रमाण है और उन तीनमे भी केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान मन पर्यय ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष है। वहा की चर्चा इस समय नही कर रहे हैं किन्तु जो परोक्ष ज्ञान है, मतिज्ञान है, श्रुतज्ञान है, जिसमे प्रमाणताका और अप्रमाणताका विसम्वाद रहा करता है वहा की यह चर्चा चल रही है। हमारे इन ज्ञानोमे जो प्रमाणभूत ज्ञान बनता है वह ज्ञान तव वनता है जव हमारा मन इन्द्रिय अन्य साधन ये सब गुणवान हो और जव ये साधन सदोष हुए तो अन्य स्वरूपका अन्य ज्ञान होता है। जैसे आँखमे जिस रङ्गका चश्मा लगाया उससे पदार्थका एक ज्ञान सामान्य तो है पर उसकी जो विशेषताएँ हैं उनमे अन्तर आ जायगा। है सफेद जान लिया पीला। तो जो उसमे विशेष निर्णय हुआ वह जैसे यहाके साधनोके आधीन है, जैसा चश्मा लगा उस रङ्ग का परिज्ञान हुआ, इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञानमे जो एक ज्ञान सामान्य है, इतने मात्र का परिज्ञान वह तो सबमे है। चाहे झूठा ज्ञान हो चाहे सच्चा ज्ञान हो, है, इतना मात्र तो परिज्ञान हुआ, पर किस स्वरूपमे है क्या उसका असाधारण गुण है? अनेक विशेषतावोंको लेकर जो ज्ञान होता उसमे निर्णय किया जाता कि यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण। न तो ज्ञान सामान्यका निर्णय करना है और न प्रभुके ज्ञान का निर्णय करना है कि वह प्रमाण है या अप्रमाण, किन्तु जिसके ज्ञानमे नाना विध विशेषताएँ आया करती है और वे विशेषताएँ भी ज्ञानमे स्थिर नही रहती। जहा बदल बदलकर इन्द्रियज ज्ञान होता रहता है उस ज्ञानमे प्रमाणता और अप्रमाणता की बात कही जा रही है।

ज्ञानमे स्वसवेदनका स्वभाव—यो तो ज्ञानके पहले पतंमे स्वका सम्वेदन

सबमें होता है तब ज्ञान बनता है। यहा स्वके मायने आत्मा नहीं किन्तु जो जान रहा है वही ज्ञान। प्रत्येक प्राणी चाहे वह सज्ञी हो या असज्ञी, समझदार हो या ना समझ हो, ज्ञान जिस जिस जीवके होता है वह ज्ञान खुदमे प्रभाव बनाता हुआ होता है, अब खुदमे किस जातिका प्रभाव है सज्ञा रूप, प्रवृत्तिरूप, प्रोग्रामरूप, जिस किसी भी रूप है प्रभाव बनाता हुआ ही ज्ञान होता है। अनुभवन नहीं होता, खुदपर उसका गुजरना नहीं होता, खुद किस रूप वह बन जाय ऐसी बात नहीं होती तो ज्ञान हो जाय यह नहीं हो सकता। तो यह प्रथम पत वाली बात तो सब जीवोमे सब ज्ञानोमे होती ही है। यह ज्ञानका स्वभाव है। और बात है क्या ? पुद्गलमे जैसे रूप है तो वह रूप पुद्गलमे नहीं बना, उसका पुद्गलमे असर नहीं होता, आधार नहीं होता, एक भिन्न सा रहे और पुद्गलमे ऊपर ऊपर ही ऐसा रूप हो कि भीतर बसा ही न हो यह बात क्या सम्भव हो सकती है ? यह जानकारी नहीं है, इसका अनुभवन परिणमन मात्र है और आत्माका अनुभवन ज्ञान उपयोग रूपसे होता है। जितने भी ज्ञान होते हैं वे अपने आपका सम्वेदन तो करते ही रहते है तब ज्ञान से बाह्य पदार्थोंके परिज्ञानरूप कार्य बनता है। अब इतनी बात तो हो गयी लेकिन जब उस पदार्थके परिज्ञानके प्रकरणमे आयेंगे तो वहा यह बात मिलेगी कि यदि हम उस वस्तुसे अधिक परिचित हैं तो वह ज्ञान स्वयमेव बन जायगा। उसमे हमे साधन न ढूढने होंगे। हा सही है ऐसी जानकारी बनानेके लिये हमे यहा वहाके कारण न ढूढने पडेंगे। यदि अपरिचित जगह है तब तो युक्ति साधन ढूढ ढूढ कर प्रमाणता का निर्णय करेंगे, चाहे परिचित अवस्थामे या अपरिचित अवस्थामे ज्ञानका निर्णय हुआ हो सभी ज्ञान इन्द्रिय और मनके कारणसे उत्पन्न होते हैं। यहा उपादानकी मुख्यतामे वर्णन नहीं है किन्तु एक लोक निर्णयके नातेसे वर्णन चल रहा है।

अपनेपर बर्तनेवाली बातकी चर्चा यह सब अपने घरकी बात कही जा रही है—अपने स्वरूपकी बात है। हममे क्या बातें गुजरती है, उसकी चर्चा है। देखिये! गुजर जाती हैं ये सब बाते, पर उसका पता नहीं है कि हममे क्या गुजरता रहता है। आचार्यदेव अपने अनुभवोको ग्रन्थ निबद्ध करके हम सबको पता करा गये हैं कि हम आपके अन्दर यहाँ हो क्या रहा है ? जो नहीं हो रहा उसे तो मानते कि यह होता है और जो हो रहा उसे मानते कि यह नहीं होता है ऐसी स्थिति ससारी प्राणियोकी एक मोह अवस्थामे होती है। धन, वैभव, कुटुम्ब, पालन-पोषण किसीका कोई उपकार आदिक कार्य जिन्हे यह आत्मा कर नहीं सकता उन्हे मानता है कि मैं करता हूँ। करता यह कुछ नहीं, केवल भाव बनाता है प्रत्येक प्रसङ्गमें। चाहे आप अपने किसी इष्टका इलाज कर रहे हो, आप अपनी गोदमे उसका शिर रखे बैठे है, उसका शिर चाप रहे है, उसे औषधि भी खिलाते है, उसे आप साहस भी दिलाते हैं इतना सब कुछ करते हुए भी आप उसका कुछ नहीं कर रहे हैं, आप तो केवल अपने भावभर बना रहे हैं। आप तो हैं ज्ञानानन्दस्वरूप, आप वहाँ क्या कर रहे है जरा

का यहा यह मतव्य चल रहा है कि लोकमे गुण नही हुआ करते हैं। दोष तो हुआ करते है पर लौकिक भाषामे दोषके अभावको गुण कह देते हैं। कोई भी वस्तु हो वह जैसा है अपने आप स्वय, सो है। उसमे गुण क्या है ? उसमे कोई विकार आये तो वह दोष है, वह कुछ नई बात आयी। और, जब नई बात नही रही तो उसीको लोग गुण कह देते हैं। शङ्काकार गुणका स्वरूप नही मानता। तो उनके प्रति कहा जा रहा है कि अनुमानको उत्पन्न करने वाला जो हेतु है उसमे एक गुण साध्यका अविनाभावी होना। देखिये किसी भी बातको सिद्ध करनेके लिये जो हेतु देंगे उस हेतुमे एक गुण होना चाहिए। क्या ? जिसको सिद्ध कर रहे हैं उसके बिना हेतु नही हो सकता, यह गुण होना चाहिए हेतुमे। जैसे धुवाको देखकर किसी मकानमे अग्निका अनुमान करते हैं तो हेतु हुआ धुवा। इस मकानमे अग्नि जल रही है धुवा होनेसे, तो इसमे हेतु क्या दिया - धुवा होनेसे। उस हेतुमे यह गुण पडा है कि वह साध्यके बिना नही होता। सिद्ध कर रहे है अग्निको अग्निके बिना धुवा नही हो सकता इस कारण धुवाको देखकर अग्निका अनुमान हो जाता है। तो अग्निका अविनाभावित्व होना हेतुका गुण है जैसे कि साध्यका अविनाभावी न हो तो यह उसमे दोष है। कोई ऐसा कहने लगे कि इस मकानमे अग्नि होना चाहिए। क्योंकि कौवा बैठा है। तो यह हेतु देना ठीक नही है। साध्यका अविनाभाव होने रूप हेतुमे गुण नही है। अग्निके बिना भी कौवा बैठा रहता है। उसका कोई कार्य कारण आदि सम्बन्ध नही है। तो साध्यका अविनाभावित्व नही रहा यह हेतुमे दोष है। न साध्यका अविनाभाव दोष रहा, गुण नही रहा। हो साध्यका अविनाभाव तब दोष न रहा, गुण हुआ। गुणका अभाव कैसे करते हो ? गुण भी है और दोष भी है।

दोषराहित्यको गुण मानकर गुणका अभाव माननेपर गुणविकलपताको दोष मानकर दोषके अभावका प्रसङ्ग—यदि यह कहो कि साध्यका अविनाभावी रहना तो हेतुका स्वरूप ही है। गुण क्या ? वह तो वस्तुका स्वरूप है, होना तो उसे कहा जाय जो अलगसे है। दोष अलगसे होता है। जैसे आंखसे बडा अच्छा दिखता तो आंखमे कोई दोष नही है और यदि कम दीखे, पीला दीखे तो उस आंखमे दोष आ गया। जो था सो रह गया वह गुण है। यो ही यदि यह कहो कि अनुमान बनानेमे साध्य बनाने वाला जो हेतु है उसमे गुण कुछ नही है। साध्यका अविनाभावित्व वह तो हेतुका स्वरूप है। तो यो यह कह देंगे कि जब हेतुमे अविनाभाव न रहेगा तो कह देंगे कि स्वरूपविकलपता है, दोष भी क्या चीज है ? तो गुण भी है और दोष भी है।

प्रभुस्तवनमे गुणोकी प्रशसा—भक्तामर स्तोत्रमे एक जगह लिखा है कि हे नाथ ! इसमे अधिक आश्चर्य कुछ नही है कि सारे गुण आपमे आ गए। अरे कोई आश्चर्य नही ? लोकमे जो सबसे उत्कृष्ट बाते हैं, अच्छी चीजे हैं वे सब गुण प्रभुमे आ

गए ! आश्चर्य इसमे कुछ नही । आश्चर्य हमे यो नही कि उन सारे गुण बेचारोंने कोशिश तो बहुत की कि हम सभी ससारी लोगोके पास जाये पर सभी ससारी लोगो ने उन सारे गुणोको अपने पास आनेके लिये मना किया, तुम मत यहाँ आओ, तुम्हारे लिए यहाँपर जगह नही है और सारे दोषोको बडे आदरसे बुलाया – आवो ! खूब रहो । यह तुम्हारा ही तो घर है, सो बेचारे सारे गुण झकमारकर प्रभुमे पहुच गए और सारे दोष ससारी लोगोमे पहुँच गए । सो देखो ! दोष एक भी प्रभुमे आया क्या ? क्यों आये ? उन्हे तो अनन्तानन्त घर मिल गये । सो कौन सी आश्चर्यकी बात कि प्रभुमे सारे गुण आ गए ! यह प्रभुकी प्रशसा करनेका एक ढङ्ग है । तो गुण कोई सत्ता ही नही रखते, हैं ही नही कुछ दोष ही हैं, यह बात माननेके काबिल नही है । वस्तुमे सही स्वरूप रहना, यथार्थ स्वभाव रहना वे सब गुण हैं और विकार आना वे सब दोष है ।

गुणोके कारण आगममे प्रमाणता और भी देखिये ! जितने शास्त्र हैं आगम उनमे मानता क्यो है ? ये आगम प्रमाण क्यो माने जाते ? इसलिए माने जाते कि ये शास्त्र गुणवान पुरुषोके द्वारा रचे गए हैं । तो गुण कुछ है कि नहीं ? कहते भी हैं लोग कि यह धवल ग्रन्थ प्रमाण है । अरे उसमे प्रमाण क्यो है ? अमुक आचार्यने बनाया, उसकी टीका अमुकने की वह बडे वैरागी तत्त्वज्ञानी पुरुष थे । तो गुणोकी ही तो चर्चा हुई । तुम कहते कि गुण कोई चीज ही नही है, दोष चीज है । आगममे प्रमाणता इसीलिये तो आती है कि वे गुणवान पुरुषोके द्वारा रचे गये हैं । कोई लोग ऐसा मानते कि जो आगम है उनको कोई रचता नही है । जैसे कुछ लोग तो मानते हैं कि आकाशसे शास्त्र उतरे । हैं ना कोई ऐसा मानते कि ईश्वरने खुद अपने हाथसे दिया किसी पैगम्बरको । फिर उससे ये शास्त्र चले । तो ऐसा लोग क्यो मानने लगे ? यो कि हमारे शास्त्र सबसे अधिक प्रमाणभूत माने जायें । एक दृष्टिसे देखो तो उनकी यह बात सिद्ध भी होती है । एक तो यह कि आकाशसे उतरे मूलमे आगम सो ठीक है । आकाशसे तो उतरे हैं । ये द्वादशाग शास्त्र हैं आकाशसे उतरे मगर इसका मतलब समझो । यहाँसे ५ हजार ऊपर समवशरण है, वहाँ लोग जाते हैं, सभावोमे दिव्य ध्वनि सुनते हैं गणधरदेव उनके द्वादशाङ्गकी रचना करते है । लो इतनी दूरसे आरम्भमे उतरे ये सब शास्त्र । और लोग कहते हैं कि प्रारम्भमे शास्त्रको ईश्वरने दिया बाइबिल आदिक तो यह भी ठीक है, कहते हैं ना कि ये आगम सर्वज्ञद्वारा प्रणीत हैं । सर्वज्ञकी परम्परासे ये शास्त्र रचे चले आये हुए हैं । मूलमे प्रभुकी दिव्यध्वनि हुई उससे गणधरदेवने द्वादसागकी रचनाकी और फिर ये सब शास्त्र ऋषी सतोने मुनियोंने बनाये और शास्त्र सभामे मगलाचरणमे कहते भी हैं अस्य मूल ग्रन्थ, कर्तारः सर्वज्ञदेव तो प्रभुकी देन है ना । अगर कोई यो मान ले कि जैसे उडता हुआ कोई हवाई जहाज है बिगड जाय तो वह आकाशसे गिर जाता है । इस प्रकार से शास्त्र आकाशसे गिरे हो और नीचे किसी पैगम्बरने भेजे हो ऐसी बात नही है ।

उस समवशरणमे वहाँ मूल रचना हुई उससे फिर चले आये। इस तरह तो कह लो, पर हवाई जहाजकी तरह गिर जायें शास्त्र और उन्हे पैगम्बर झेले, ऐसी बात नहीं है। इसी तरह ईश्वर कोई हाथसे किसीको शास्त्र सम्हाले, ऐसा भी नही है। शास्त्र गुणवान पुरुषोके द्वारा रचे गए हैं, तब शास्त्रमे प्रमाणता है, अपौरुषेयता नही है।

अपौरुषेयत्व होनेसे प्रमाणत्व होनेके नियमका अभाव भैया! यह नियम नही है कि जो अपौरुषेय हो वह प्रमाण होता है। लोगोने यह कल्पना क्योकि शास्त्र किसी पुरुषके द्वारा रचे गए नही हैं किन्तु आकाशसे उतरे हैं या ईश्वरने दिये हैं। यह कल्पना इसलिये गढी गई कि हमारे शास्त्र पवके कहलायें। भला जो यो ही आकाशसे उतरे उनमे भूल हो सकती है क्या? जो ईश्वरने खुद दिये हो उनमे भूल हो सकती है क्या? शास्त्र अपौरुषेय हैं लेकिन यह न सोचा कि अपौरुषेय होनेसे प्रमाणता हो ही जाय, यह नियम नही है जैसे नीले कमलका वन है, अर्थात् नील कमल वाला तालाब है, जहा पानी बिल्कुल नही दिखता। केवल नील कमल खूब दिख रहे हैं वहा पर कभी कभी यो लगता है जैसे कि आग जल रही हो। अग्निकी लपटें कभी कभी नीली दिखती है और लोहा आदिकको जलावो तो खूब नीली लपटें निकलती है तो उस तालाब या वनके निकट वे जो नीली नीली लपटें दीखते हैं क्या वे पौरुषेय हैं? वे तो अपौरुषेय है, उस आगको किसी पुरुषने नही जलाया पर दिख रही वे आग। तो जो अपौरुषेय हो वह प्रमाण हो ही यह नियम तो नही रहा।

अनादिसे चला आया होनेसे प्रमाणत्व होनेके नियमका अभाव कुछ लोग कहते हैं कि यह ग्रन्थ तो अनादिसे चला आया इसलिये प्रमाण है। भाई अनादि से चला आया हो वह प्रमाण ही हो ऐसा नियम नही है। जैसे मिथ्यादर्शन अनादिसे चला आया है वह मिथ्यात्व अज्ञान मोह तो प्रमाण नही है। तो जो अनादिसे चला आया हो उसमे भी प्रमाणकी गारन्टी नही है, किन्तु गुणवान पुरुषोके द्वारा रचे गए हो उसमे प्रमाणकी गारन्टी है। तो जिन गुणके आधारपर प्रमाणकी गारण्टी बनती है उस गुणका ही तुम अभाव कह रहे हो कि दुनियामे गुण कोई चीज नही होते। जो होता है सो दोष होता है। दोष नही रहे उसीको ही गुण कहा करते हैं। और, जैसे आगम अपौरुषेय माने गये, किसी पुरुषने रचे नही उन्हीमे जो वाक्य है उनसे सिद्ध होता कि अमुक मत अमुक ऋषिने बनाये अथवा जो वाक्य रचना हुई है वह रचा बिना बन तो चली आयी है लेकिन प्रमाणता बनाने [illegible] माना गया है। तो फिर यह बतलावो कि अपौरु[illegible] [illegible]ना निर्दोष आदिक प्रकरणमे कोई कुछ अर्थ [illegible] आगम एक ही अर्थ दुनियाको बनावे [illegible] कि इसका अर्थ अमुकने बताया, ठीक [illegible] प्रमाणताकी पुष्टिके लिये गुणकी [illegible]

लोक व्यवहारमे भी गुणोके कारण प्रमाणत्वका निर्णय-- लोक व्यवहारमे भी उसकी बात पक्की मानी जाती है जिसके प्रति लोग यह ख्याल करते हों कि यह गुणवान है, यह सच्चा है यह ईमानदार है। ये गुण प्रसिद्ध हो जिसके बारेमे उसकी प्रमुखता मानी जाती है। ग्राहक लोग उसीकी दूकानपर उत्सुकतासे पहुँचते हैं जिसके प्रति लोगोका यह ख्याल होता है कि यह सच्चाई बरतता है, इसमे यह गुण है और लोभ लालच भी नही है, साधारण मुनाफा रखकर चीज देता है। ऐसी प्रसिद्धि जिस दूकानदारकी हो उसकी प्रमाणता मानी जाती है। तो जिसपर प्रमाणताका साधन निर्भर है उस ही गुणको मना करते हैं, कि इन्द्रियमे गुण नही हुआ करते, दोष ही हुआ करते हैं। गुण भी है दोष भी है। निर्णय कर लेना चाहिए कि गुणवान पुरुषका ज्ञान प्रमाण है। गुणवान इन्द्रियमे जाना गया ज्ञान प्रमाण है। दोषवान पुरुषका ज्ञान अप्रमाण है। सदोष इन्द्रियमे जाना गया ज्ञान अप्रमाण है। प्रमाणता और अप्रमाणताका निर्णय गुण और दोषसे होता है। तो जैसे अप्रमाणकी उत्पत्ति दोषसे होनेके कारण परसे हुई इसी प्रकार प्रमाणकी उत्पत्ति गुणवान इन्द्रियमे होने के कारण परसे हुई। अत यह मानना चाहिए कि उत्पत्तिमे तो प्रामाण्य परत होता है और ज्ञप्तिमे, जानकारीमे, ज्ञान अभ्यास दशामे स्वत होता है और अनभ्यास दशामे परत होता है।

साधनभूतके गुणके आधारपर प्रामाण्यका निर्णय ज्ञान स्वरूपके इस प्रकरणमे ज्ञानकी प्रमाणताकी उत्पत्ति और प्रमाण्यका स्वकार्य इन दोनोका क्या ढग होता है उसका निर्णय इस प्रकरणमे चल रहा है। तो गुण कोई चीज होते ना। गुण न माननेपर न आगम प्रमाण ठहरता न लोक व्यवहारमे मानी जाने वाली बात प्रमाणता सिद्ध करनेके लिये अपौरुषेय माननेकी कल्पनाका श्रम व्यर्थ उठाते हैं। आगममे प्रमाणता आती है तो गुणवान पुरुषोके द्वारा रचे गए हैं इस आधारपर आती है। कोई बात अनादिसे चली आयी इस कारण भी प्रमाण नही, कोई बात अपौरुषेय हो इस कारण भी प्रमाण नही। उसके साधनमे आधारमे यदि गुण हैं तो प्रमाण है और दोष है तो अप्रमाण है।

अपौरुषेयत्वकी मान्यतासे प्रमाणत्वके पूरा पडनेकी अनिष्पत्ति-- आगमको अपौरुषेय भी मान लो अपौरुषेय मायने पुरुषके द्वारा न रचा गया, इसका बोध किसी भी पुरुषके द्वारा नही रचा गया, आगमको अपौरुषेय भी मान लो तो भी अर्थमे जो प्रतीति आयगी वह स्वत नही आ सकती जैसे आग अपनी लपटें उठाया करती है क्या कोई आगम भी अपनेमेसे अर्थ उठाया करता है? यदि आगम स्वत अपना अर्थ बताया करें तो फिर सारे आगमसे अर्थ निकलते ही रहना चाहिए। कोई सुने चाहे न सुने वहासे तो अर्थकी बौछारें आती ही रहना चाहिये। यदि आगमको स्वत प्रतीतिका उत्पन्न करने वाला, अर्थका बताने वाला मानते हो तो आगम स्वत

अर्थ बताने वाला नही है सो प्रमाण नही होता, और जो पुरुष उसका अर्थ लगाये उसमे प्रयत्न करे तो उस प्रयत्नकी अभिव्यक्ति जो कर रहे हैं वे पुरुष तो रागादिक दोषोसे सहित है उससे उनके द्वारा बताये गए अर्थमे प्रमाणता कैसे आयगी। प्रमाण माना है जिन्होने केवल शास्त्र, जिन शास्त्रोको किन्हीने रचा भी नही है, अपौरुषेय है तो वे शास्त्र स्वय तो अपना अर्थ बता नही पाते और जो कोई उसका अर्थ लगायेगे वे हैं रागादिक दोषोंसे सहित, है उसमे उनके द्वारा बताये गए अर्थमे प्रमाणता कैसे आयगी। प्रमाण माना है जिन्होने केवल शास्त्र, जिन शास्त्रोको किन्हीने रचा भी नही है, अपौरुषेय हैं तो वे शास्त्र स्वय तो अपना अर्थ बता नही पाते और जो कोई उसका अर्थ लगायेंगे वे हैं रागादिक दोषोमे सहित, अत उनकी बातमे प्रमाणता आ नही सकती। तब फिर सदैव अप्रमाणपना रहा। कुछ युक्ति सिद्ध बात न हो और अप्रमाण आ न जाय इस डरसे आगमको अपौरुषेय मानना यह गजस्नानकी तरह है। जैसे हाथीने थोडी देरको मन समझानेके लिये सोच लिया कि मैं स्नान करूँ सो सूँडसे पानी डाल स्नान किया, पर बादमे उससे भी अधिक धूल लपेट ली। ऐसे ही कोई सिद्धान्त ऐसा माने कि जिसमे कोई दोष न रहे और मानले विपरीत तो वह गजस्नानकी तरह है। इस कारण प्रमाणकी प्रमाणताकी उत्पत्ति स्वत न मानना चाहिए। जिन साधनोसे ज्ञान उत्पन्न होता है वे साधन यदि गुणवान हैं तो निर्णय यह बनेगा कि यह ज्ञान प्रमाणभूत है। ज्ञानकी प्रमाणताकी उत्पत्ति यो परसे हुई। तो इस प्रकरणमे यहा तक यह सिद्ध किया है कि प्रमाण गुणवान इन्द्रियसे उत्पन्न हो तो वह प्रमाण है और दोषवान इन्द्रिय आदिक साधनोमे उत्पन्न हो ज्ञान तो वह अप्रमाण है।

निर्निमित ज्ञप्ति माननेपर बाधा - भाट्टजन प्रामाण्यकी उत्पत्तिको स्वत मानते और ज्ञप्ति भी स्वत मानते है। उसमे यह तो अब तक सिद्ध किया गया है कि प्रमाणमे प्रामाण्यकी उत्पत्ति परत होती है अर्थात् इन्द्रिय और मन आदिक जिन साधनोसे ज्ञान उत्पन्न होता है तो उस ज्ञानमे प्रमाणता है अथवा नही है, इसकी भी उत्पत्ति उन्ही इन्द्रिय आदिक साधनोसे होती है अर्थात् गुणवान इन्द्रिय हो तो प्रामाण्यकी उत्पत्ति होती है। अब ज्ञप्तिके विषयमे प्रामाण्यकी स्वत अथवा परत ज्ञप्ति सिद्ध कर रहे है। भाट्ट लोग ज्ञप्तिमे भी प्रामाण्यको स्वत मानते है अर्थात् ज्ञानमे जो जानकारी हुई है और जो जानकर किसी पदार्थमे लगना चाहे व उससे हटना चाहे यह भी स्वत हुई है, उनके प्रति पूछा जा रहा है कि यदि प्रमाण ज्ञप्तिमे भी सर्वत्र परकी उपेक्षा नही रखता तो यह तो बतलावो कि वह जानकारी निमित्त सहित हुई या निर्निमित्त हुई। जो जानकारी बनती है हम आप सब लोगोको, इसमे कुछ भी सीमा, निमित्त साधन, आधार कुछ नही है क्या ? अथवा इसमे कुछ निमित्त है ? यदि कहोगे कि हम लोगोको जो जानकारी होती है वह निर्निमित्त होती है तो फिर प्रतिनियत देश काल स्वभावका अभाव हो जायगा, क्योकि यह ऐसा ही दिखता है,

सारा विश्व क्यो नहीं जाननेमे आता। यह जगत इस तरह क्यों नजर आती, सर्व पदार्थोंके आकाररूप क्यो नही नजर आती ? न कोई देशका स्वभाव रहेगा, न काल का स्वभाव रहेगा। सब व्यवस्थाएँ नष्ट हो जायेंगी, इसलिए जानकारी भी निमित्त सहित होती मान ली जाना चाहिये और तब ज्ञप्ति सर्वथा स्वत होती है इस बातमे विघ्न आ जायगा।

निमित्त सहित ज्ञप्ति माननेपर स्वत प्रामाण्य होनेका अनियम — यदि कहो कि जानकारी निमित्त सहित होती है तो वह निमित्त क्या है ? हम जो कुछ पदार्थोंको जानते हैं उस सब जाननेमे निमित्त स्व है या पर है ? अर्थात् हम ही अपनी जानकारीमे जिस जिस पदार्थको जानते हैं उस समस्त जाननेमे हम ही निमित्त हैं अथवा पर निमित्त है। यदि स्वय निमित्त हैं तो प्रथम तो यह बात है कि स्व-सम्वेदी ज्ञान इस शङ्काकारने माना नहीं। दूसरी बात यह है कि यदि स्वय निमित्त बन जायें जानकारीमे तो स्वय तो सदैव है फिर भी जिस चाहे अनियमित देश काल के नियम बिना जानकारी होने लगेगी। देखिये ! ऐसा भी यह शङ्काकार है कि ज्ञान को स्वसम्वेदी तो मानता नही, अर्थात् ज्ञान स्वय अपने आपको जान जाता है ऐसा तो मानते नही और जानकारीमे प्रमाणता स्वय होती है, इसे मानते हैं, खैर अन्य निमित्त भी मान लें तो वह अन्य निमित्त क्या है ? क्या वह प्रत्यक्षसे जाना जाता है या अनुमानसे जाना जाता है ? प्रत्यक्षसे तो जाना नही जाता, क्योंकि प्रत्यक्षका व्यापार तब होता है जब इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध बने लेकिन ज्ञप्तिमे, प्रामाण्यमे इन्द्रिय का सम्बन्ध बनता नही और मनका भी सम्बन्ध नही बनता क्योंकि मन भी एक भिन्न वस्तु है, शङ्काकारके सिद्धान्तमे भी, उसमे क्या व्यवस्था बनेगी ? और इससे किसीका अनुभव भी नही होता। कहेंगे कि अनुमानसे जाना जायगा तो अनुमान तो तब बनता है जब कोई साधन हो। शायद यह साधन बताने लगो कि पदार्थका प्रकाश होता है इस कारण ज्ञप्ति होती है और प्रामाण्य स्वत होता है तो वह अर्थप्रकाश क्या यथार्थ विशेषण सहित है अथवा निर्विशेषण है ? यदि विशेषण सहित है तो उसे पूर्वमे ही जाने हुए ज्ञानसे, प्रथम प्रमाणसे जाना या अन्य प्रमाणसे। प्रथमसे जाना बतावेंगे तो अन्योन्याश्रय दोष होगा दूसरेसे अनवस्था दोष होगा। सीधीसी बात है कि हम जानते रहते हैं और उन जानकारियोंमें कोईसी बात तो जल्दी स्वत हो जाती है वहाँ अभ्यास दशामे प्रामाण्य स्वत है और किसी जानकारीमे प्रमाणता आना यह कुछ और साधनोंसे ढूढकर आता है इस कारण अपरिचित दशामे प्रमाणता परत है।

किसी विदित वस्तुमे भी अनेक अशोकी अपरिचितता होनेसे उनके प्रामाण्यकी परत सिद्धि — कई बार ऐसा भी होता कि आप अपने घरमें सीढ़ियों पर रोज चढ़ते हैं ऊपर जानेके लिये, पर पूछा जाय कि बतावो आपके घरके जीनेमे कितनी सीढिया हैं तो आप बता नहीं सकते। रोज रोज चढते हैं, दसोंवार चढते

उनरते हैं पर गिनतीमे कितनी सीढिया हैं यह पता नही है, यद्यपि है अभ्यासकी दशा परिचयकी दशा। केवल उस रास्तेसे जानेका अभ्यास है सो रास्ता भी खूब मालूम है। झट किसी चीजका खबर आयी, ऊपर रखी है, तुरन्त पहुच गए। तो एक ही पदार्थमे जिस तत्वका अभ्यास हो उसका तो प्रामाण्य स्वत होता है और जिसका अभ्यास न हो उसका प्रामाण्य परत ह ता है। आपके घरकी सीढियोको कोई कह दे कि इसमे तो १४ सीढ़ि हैं तो आप यह कहोगे कि गिनकर दिखावो। गिनोगे तव निश्चय होगा तो उनकी गिनती आपको अपरिचित है और रास्ता परिचित है। कोई पूछे आप इस सज्जनको जानते हैं ना जो आपका रिस्तेदार हो, कुटुम्बी हो ? अजी इसका तो हम खूब जानते हैं। दसो वीसो वर्षसे साथ रहा, साथ पढा, इसके रग रगको हम जानते है, अच्छा साहब ! तो वतावो इसके पेटके ऊपर पसुलिया कितनी हैं ? गलेके भीतर नसें कितनी हैं ? अरे जितना जानते है उतना परिचय है। किसी भी एक पदाथके बारेमे जितना परिचय है उतनेका तो अभ्यास है और जिसका परिचय नही उसका अभ्यास क्या ? तो अभ्यास दशामे प्रामाण्य स्वत होता है और अनभ्यास दशामे प्रामाण्य परत होता है।

दोनो नयोसे ज्ञानतत्त्वके निर्णयकी आवश्यकता—यह सव दर्शन शास्त्र मे ज्ञानतत्त्वकी चर्चा चल रही है जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थका निर्णय किया जाता है। यो समझिये कि यह यथार्थ व्यवहारकी परीक्षा करने वाला शास्त्र है। यद्यपि हम निश्चय दृष्टिसे जब निरखेंगे तो हमे एक पदार्थ, एक तत्त्व, एक परिणति, एक स्वभाव वही कर्ता कर्म करण सम्प्रदान अपादान आधार दिखेगा। यह कहलाती है अध्यात्म दृष्टिसे निश्चय दृष्टि। कितने ही मेलोमे कुछ भी कार्य हो रहा हो निमित्त यद्यपि अनेक हैं फिर भी यदि कोई केवल एक परिणमन वाले पदार्थको ही निरख रहा है तो उसे तो यह दिखेगा कि पदार्थका परिणमन खुदमे खुदके द्वारा खुदसे खुदके लिये हुआ। वाद विवादके प्रसगमे भी जहा स्वरूपका निश्चय किया जा रहा हो, अध्यात्म दृष्टिसे यह वादी अथवा प्रतिवादी अपने आपमे अपना श्रम कर रहा है, विकल्प वृत्ति वना रहा है और अपने ही द्वारा अपनेमे अपने लिये बना रहा है पर केवल एक निश्चयका एकान्त कर लेनेसे तीर्थ रुक जायगा। धर्म वृत्ति समाप्त हो जायगी। अत व्यवहार दृष्टिसे भी निर्णय करना आलम्बन लेना यह भी आवश्यक हो जाता है। तो दर्शन शास्त्रमे वस्तु स्वरूपके यथार्थ सर्वतोमुखी वर्णन करनेके लिये ज्ञानकी यह प्रथम व्याख्या की जा रही है।

निश्चय एकान्तमे व्यवहार विडम्बना—यो कोई निश्चय एकान्तकी ही धुन रखा करे तो फिर है क्या ? एक उद्दण्डता सी छा जायगी। हम आपसे कैसा भी व्यवहार करलें बुरा बोल लें और कोई कहे कि तुमने ऐसा अपराध क्यो किया, उस का कसूर क्यो किया ? अजी कोई जीव किसी दूसरेका कसूर कर सकता है क्या ? हम वचन वर्गणावोंके कर्ता हैं क्या ? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका क्या करता है ?

इतने शब्द ही न बोलें, तो मात्र व्यवहारकी विशुद्धि खतम कर दी जाती है और यदि हो कोई ऐसा कि मनगुचमे यह श्रद्धा जगे कि मैं शब्दका कर्ता नहीं। मैं दूसरे पदार्थका कुछ परिणमन करता नहीं तो इस श्रद्धावालेमे फिर दुर्व्यवहार बनेगा नहीं। तो अध्यात्म दृष्टिमे जो स्थान मिलता है वह उसी महलका स्थान है और अपूर्व है लोकमे अध्यात्म महलपर चढनेके लिये जो रास्ता तय करता है उस रास्तेको तो दर्शन शास्त्र तय कराता है। अध्यात्म तो महल है और दर्शन शास्त्र उस महल पर चढनेकी सीढियां हैं।

प्रयोगात्मक प्रतिबोध एक बार गुरुजी सुना रहे थे कि एक पंडित किसी वृद्ध पंडितसे पढा करता था किन्तु था उसका एक अभेदवाद, एकान्तवाद, ब्रह्मवाद, ब्रह्म सत्य है और सब मिथ्या है पर आचरण था उसका जहाँ चाहे जब चाहे जो चाहे खाने पीने का। एक बार उस शिष्यने देखा कि गुरुजी एक माम पकाने वालेकी दुकानपर बैठे रसगुल्ला खा रहे थे, तो उस शिष्य पंडितने गुरुजीके प्रतिबोधके लिये दो तमाचे जड दिये। गुरु कहता है कि अरे ! यह तूने क्या किया ? शिष्य बोला आप इस दूकानपर रसगुल्ले क्यो खा रहे हैं ? तो गुरु कहता है कि एक ब्रह्म सत्य है और सब मिथ्या है। तो शिष्य बोला फिर आप क्यो नाराज होते ? हमारे ये दो तमाचे भी मिथ्या हैं। तो यथार्थ ढङ्गसे विषय कषायोंसे रुचि हट जाना यह अन्य बात है और बोल-चालमे बोलना यह अन्य बात है। जैसे रोटी रोटी शब्द बोलनेसे कही रोटी तो नही पक जाती, ऐसे ही शब्दोंके बोलने मात्रसे आत्मामें वह प्रभाव नहीं जगता जो प्रयोगसे जगा करता है। तो जो प्रयोग करनेकी विधि है वह दर्शनशास्त्रमे विदित होती है और प्रयोग किए जानेके सम्बन्धमे जो स्थिति बनती है वह अध्यात्म की स्थिति है।

हमारा स्वभाव और परिस्थिति इस प्रसङ्गमे यह बताया जा रहा है कि हे आत्मन् ! तुम ज्ञानस्वरूप हो, वह ज्ञानस्वभाव विकसित होता रहे ऐसी भीतर मे भावना पडी हुई है। और, उस स्वभाव दृष्टिसे देखा जाय तो तुम्हारा स्वरूप सर्वथा प्रमाण रूप है, यथार्थ सत्य है, सर्वज्ञताको लिए हुए है। लेकिन, परिस्थिति जो हो रही है, जिस परिस्थितिमे हम आपका काम चल रहा है उस परिस्थितिका विवरण जानना चाहे तो बात यह है कि हम आपको जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह इन्द्रिय मनके निमित्तसे होता है। श्रुतज्ञानकी भी उत्पत्ति इन्द्रिय और मनके निमित्तसे हो रही है, जिसमे मतिज्ञान व्यवहित है। मतिज्ञानकी उत्पत्ति तो इन्द्रिय और मनके निमित्तसे स्पष्ट हो ही रही है। यद्यपि श्रुतको मनसे उत्पन्न होना बताया है लेकिन जिन जीवोंके मन नहीं है क्या उनके श्रुतज्ञान नही होता ? मतिज्ञान और श्रुतज्ञान समस्त ससारी प्राणियोंके होता है। एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तक प्रथम गुणस्थानसे लेकर १२ वें गुणस्थान तक श्रुतज्ञान बना रहता है और हम आप सब बराबर समझ भी रहे हैं।

जो ज्ञान उत्पन्न होता वह इन्दिय और मनके माध्यमसे होता है और यही एक कारण है कि प्राणियोको इन्द्रियके विषयोमे प्र ति जगती है। यह ज्ञान इन्द्रियका निमित्त पाकर होता है। और, जिम निमित्तसे यह ज्ञान चलता है उम निमित्तमे इस ज्ञानकर्ता को प्रीति जगना एक प्राकृतिक सी वात है। तो इसे इन्द्रियमे प्रीति जगी। अपना शरीर अपने नाक मुख अपने आपको प्रीतिकर होते हैं। बहुत बूढा आदमी भी यदि दर्पण देखनेको पा जाता है तो वह भी अपने नाक मुखपर हाथ फेरकर अपनी सुन्दरता मे प्रीति करता है। तो इन्द्रियमे प्रीति होना प्राकृतिक बात है, क्योकि उन हीसे ज्ञान जग रहा है।

निश्चयत ज्ञानकी स्वत व्यक्ति—निश्चय दृष्टिसे यह आत्मा ज्ञान स्वरूप है और इसमे जो विकास होता है ज्ञानका अवसर पा पाकर अपने ही ज्ञान स्वभावमे ज्ञानका विकास होता है। ये इन्द्रिया वास्तविक मायनेमे ज्ञानकी उत्पत्ति करने वाली नही हैं किन्तु ज्ञानकी रोडक है। जैसे एक मकानमे कोई खिडकिया लगी है तो ल ग जव कोई चीज वाहर देखना चाहते हैं तो खिडकीसे देखते हैं और आनन्द मानते है कि हमारे घरमे अच्छे मौकेपर खिडकी है। हमको यहासे सारी सडक दिखती रहती है। पर आप यह वतावो कि आप खिडकीसे देखने है क्या ? अरे खिडकी न होती तो क्या आपको कुछ न दिखता ? हाँ कैसा दिखता, भीट तो आ जाती। अरे भीट भी क्यो आ जाती ? कुछ भी न हो तो भीट भी किस तरहसे दिखेगी। फिर खिडकी का गुण क्यो गा रहे। खिडकीकी वनावट सजावट किसी तरहवा धक है। ये मिल गए सो देखते है, पर देखने वाला खुद अपनी कलासे योग्यता देखता है। भीट आडे पड गयी इसलिये खिडकीका सहारा लेना पडता है यदि भीट आडे न पडी हो तो खिडकी के सहारेकी जरूरत क्या थी ? ऐसे ही हम आप कर्मोके भीटसे दवे पडे है इस कारण यह कुछ इन्द्रियोका सहारा लेना पड रहा है ज्ञानके लिए लेकिन क्या आत्माका स्वभाव ऐसा है कि किसी भी परको जाननेके लिये इन्द्रियका सहारा ले, ऐसा स्वभाव आत्मामे रच नही है, ऐसा ज्ञानस्वरूप है यह आत्मा। उस स्वभावको यह जीव पहिचान सके इस ओर यदि प्रयत्न करे और जान जाय। तो इससे वढकर पुरुषार्थ, व्यमाय, अर्जन, कमाई और कुछ नही है।

विकल्प व्यवसायोका धोखा - जो कुछ वाहर नजर आ रहा है इम सवका पूर्णतया धोखा है, कुछ लाभ नही मिलता। अपने वल, ज्ञान, सुख, दर्शन इन चार गुणोको नष्ट कर दिया जाता है। अव तककी जिन्दगीसे अदाज लगा लें कि इन अनेक वर्षोमे किस किस वैभवसे प्रीति नही की। वचपनमे जवानीमे सारे जीवनमे फिन किनका सम्बन्ध, क्या क्या प्रीतिया न की होगी। अव वतलावो कि जो मौज माना, जो प्रीति हुई वह सव सचित होकर क्या आज कुछ है उनकी गाँठमे ? अजीव पदार्थोका यदि वोरेमे सचय करते जावो तो कुछ ही दिनोमे वोरा भर जायगा, पर

यहा तो यह भावरूप है। जो भाव बनता उसका सचय तो दूर रहा, वह अगले क्षणमे टिक नही सकता। जो भाव बना, जो प्रीति बनी, जो विकल्प हुआ, जो मोह किया वह अगले क्षण नही ठहरता और किसी दूसरे विकारको, प्रीतिको, मोहको उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है।

विभावोकी प्रबल शत्रुता और उसके निवारणका उपाय ज्ञानकी सम्हाल – देखिये भैया! कितना जबरदस्त दुश्मन है यह विभाव। कोई एक दुश्मन मेरे सामने देर तक रहे तो उसका इलाज भी कर दें पर यह विभाव दुश्मन तो उत्पन्न होकर दूसरे दुश्मनको उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है और यह परम्परा चलती रहती है, फिर दूसरे विभाव और दुश्मन दूसरे अगले क्षणमे नये विभाव दुश्मनको उत्पन्न करके नष्ट हो जाते है। बताओ ऐसा जबरदस्त आक्रमण है इस आत्मापर। उन विभावोका, उन मौजोका, उन प्रीतियोका न सचय होता और जब विभाव होते तब शान्ति रहती है। सब धोखा है, क्लेश है, बरबादी है। लोग विकल्प करते हैं कि मैं इतना धनी हो जाऊं, विकल्प करके पाप करके तो स्वय मलिनता मिलेगी। क्या है वैभव? पर वस्तु है और इकट्ठा होगया तो क्या हो गया? यह तो मरकर कही चला जायगा। रहे बाल बच्चे कितने भी तो उससे क्या सम्बन्ध है इस व्यक्ति का? हा, बच्चोके पुण्यका उदय है, उन्हे वैभव मिलना है, उनके लिए नौकरी कर रहा है यह कमाने वाला व्यक्ति। शान्ति, सन्तोष अनुराग तत्त्वप्रेम, आत्मदृष्टि ये बातें होती रहें तो समझिये कि हम अपना भविष्य बना रहे हैं ठीक, और ये बातें न बनें, हिंसा झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह, इन पापोंमे ही उपयोग लग रहा है तो चाहे लौकिक इज्जत बढ़ जाय, कुछ सम्मान हो जाय तब भी कुछ नही रखा। अपने ज्ञानभावको सम्हालो, अपने ज्ञानस्वरूपकी विशेषताएँ निहारो, क्या उसमे शैली है, उस ही ज्ञानकी इस प्रसगमे चर्चा चल रही है कि ज्ञान ही प्रमाण है और प्रमाणता जानकारीमे तो परिचय दशामे स्वत होती है और अपरिचय अवस्थामे परत होती है।

सवादी ज्ञानसे पूर्वज्ञानमे प्रमाणता, दृढताका परिच्छेदन जो कोई ज्ञान सदिग्ध रहता है, अप्रमाण रहता है, पदार्थ ऐसा है या नही, पदार्थके जाननेकी यथार्थ रूपसे पहिचान की उत्सुकता रहती है तो वहा दूसरे ज्ञानसे प्रमाण आता है। जैसे कुछ अदाजा लगाया कि वहा जल होना चाहिए, पर दृढ निर्णय न था तो अन्य साधनोके ज्ञानकी अपेक्षा रहती है। उसके कुछ चिन्ह दीखे, कोई पानी भरते हुए आया दीखा अथवा आसपास कुछ खपरिया दीखी तो ऐसी बातोसे यहा जल है ऐसा निर्णय किया जाता है। तो जो पूर्वज्ञान अनभ्यस्त दशामे होता है अतएव वह अभी अप्रमाण है, तो उसकी प्रमाणताके लिए दूसरा ज्ञान बनता है। लेकिन इस विषयमे शङ्काकारने कुछ दोष दिया था कि अगर सवादी ज्ञानसे पूर्व ज्ञानकी प्रमाणता मानी जाय तो इसमे अनवस्था और चक्रक दोष आते हैं, वह भी बात ठीक

नही है, क्योंकि सम्वादी ज्ञानसे, द्वितीय ज्ञानमे पूर्वज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय करके प्रवर्तन नही होता। सम्वादी ज्ञान परिणति नही करता किन्तु एक अवगम बन जाता है तब परिणति होती है। जैसे अग्निका रूप देखकर झट यह बोध होता है कि इससे ठंड मिट जाती है। दूसरोको देखा ना ठंड मिटाते हुए तो सम्वादी ज्ञानसे तुरन्त निर्णय हो जाता। यहाँ दूसरेकी अपेक्षा नही करनी है, जिस विधिका जिस ज्ञानसे सम्बन्ध है उस विधिसे वह ज्ञान हो जाता है।

ज्ञानप्रामाण्यविधिसे विपरीतविधिमे प्रामाण्यकी असिद्धि - एक कहावत है कि 'यह तो बडी टेढी खीर है' खाना मुश्किल है। उसका भाव क्या है? एक अधा पुरुष था, उसको एक बालकने कहा - बाबाजी, हम खीर खिलायेगे! उस अधेने कभी खीर न खाई थी, तो वह पूछता है कि खीर कैसी होती है? खीर सफेद-सफेद होती है। उसने सफेद भी कुछ न देखा था, जन्मका अधा था। फिर पूछता है— सफेद सफेद कैसी? तो लडका कहता है बगुला जैसी! उसने बगुला भी कभी न देखा था। तो अधा पूछता है कि बगुला कैसा? तो अधेके सामने ऐसा टेढा हाथ करके रख दिया और कहा कि बगुला ऐसा होता है। जब अधेने टटोला तो कहता है अरे, र रे, ऐसी टेढी खीर हमे न चाहिए! ऐसी टेढी खीर तो पेटमे गडेगी। भला बनाओ खीरका तो बोध करान था, रसमे बोध कराता तो ठीक था, पर उसने स्पर्श का और आकारका उदाहरण दे दिया। जिस पदार्थके ज्ञानका जो तरीका है उस तरीकेसे ज्ञान किया जाय तो ज्ञान होता है। यदि उस अधे पुरुषको वह बालक यो समझाता कि बाबा जी देखो यह है खीर इसे अपने हाथमे लो और खाकर देख लो कि खीर कैसी होती है। वह खा लेता तो परख जाता कि खीर ऐसी होती है और यह है सफेद! तो अधा आखसे न देखनेपर भी खीरकी सफेदीपनका अनुमान रखता। तो जितना हम आप सबके ज्ञान है और प्रवृत्ति है, हम दूसरोको देखते हैं कि ये इस पदार्थका इस तरह उपयोग करते हैं और खुद भी उनकी परीक्षा कर लेते है तब फिर अभ्यास दशामे ज्ञान करते ही प्रवृत्ति करने लगते है।

दृष्टान्त और विवरण द्वारा अभ्यास व अनभ्यास दशामे प्रामाण्यके विधानका वर्णन जैसे रसोई बनाना हो तो झट रसोई घरमे घुस गए, चूल्हा जलाया, आटा सेका और रोटी बना ली। उसमे कोई दिमाग भी लगाना पडता है क्या? कोई प्रमाणपना भी ढूँढना पडता है क्या? वह अभ्यस्त दशा है तो झट स्वय ज्ञान हो जाता है, हाँ अनभ्यास दशामे परसे प्रमाण होता है। जैसे किसान लोग यदि ऐसे बीज पाये जिन्हे कभी पाया न था तो वह अनभ्यस्त दशा है, यह पता नही कि ये बीज उगेगे अथवा नही, तो एक छोटेमे सकोरेमे थोडेसे दाने बोकर देखते है कि ये बीज उग सकते है या नही? उग गए तो वैसा ज्ञान कर लेते है न उगे तो वैसा ज्ञान कर लेते है, पर जिस बीजके सम्बन्धमे परिचय नही है उस बीजका प्रयोग

करके पहिले परखते हैं, प्रयोग करनेके बाद यह बीज ठीक है अथवा नही है, ऐसी बात फिर उनके स्वत होने लगती है। तो जैसे अनभ्यास दशामे पहिले यह बीज ठीक है अथवा नहीं है ? ऐसा निर्धारण करनेके लिए प्रसंगकी अपेक्षा रखते हैं लेकिन बादमे चूंकि उसका सब कुछ परिचय पा लिया तो शेष रहे कणोको यह बीज है अथवा नही है ऐसा निश्चय स्वयमेव कर लेते हैं और फिर यह बीज है तो उसके उपयोगके लिए प्रवृत्ति करता है और यदि बीज नही है तो उसके प्रयोगके लिए प्रवृत्ति नही करता है। इसी तरह हम परिचित स्थितिमे ज्ञान करते तो झट प्रगति कर लेते, प्रमाण हो जाते और अनभ्यास दशामे शीघ्र प्रगति नही कर पाते, अन्य ज्ञानसे उसमे प्रमाणता लेते हैं तब प्रगत्ति करते हैं। जैसे अपने घरकी सीढियोंपर दमादम झट चढते और उतरते हैं, पर किसी अनजान जगहपर जायें तो कुछ परखकर देखकर चढते उतरते हैं। ऐसी ही समस्त ज्ञानोकी बात है। प्रमाण अभ्यास दशामे स्वत और अनभ्यास दशामें परत बनता है।

सवादी ज्ञानसे पूर्वज्ञानका प्रामाण्य माननेमे अनवस्था दोषका अनवकाश शङ्काकारने जो यह बनाया कि सम्वादी ज्ञानसे पहिले ज्ञानको प्रमाण मानने पर अनवस्था हो जायगा, एक ज्ञान हुआ इसकी प्रमाणताका निश्चय दूसरे ज्ञानसे हुआ तो दूसरे ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय तीसरेसे होगा, यो अनवस्था चलती जायगी, यह भी कहना यो ठीक नही है कि मान ल पहिला ज्ञान अप्रमाण रह रहा था, उसमे निर्णय न था। यदि द्वितीय ज्ञान निर्णायक बने तो द्वितीय ज्ञानसे प्रथम ज्ञानका भी निर्णय कर लिया और स्वयका भी निर्णय किया। अनवस्थाकी वहाँ गुञ्जाइश नही है। किसी भी पदार्थका ज्ञान करनेके बाद जब अर्थक्रिया बन जाती, यहाँ इतना बडा सदेह क्यो ? जान लिया कि यह जल है, झट पीने चले गए। तो जल ज्ञानका फल है उसका उपयोग करना। तो उपयोग तो कर लिया और अब जल ज्ञानपर विवाद करें कि यह प्रमाण है या अप्रमाण है ? स्वत प्रमाण है, परसे प्रमाण है और जब फल पा लिया तब उसमे घबडाना क्या ? ज्ञानका फल साक्षात् विसम्वादरहित अर्थक्रियाका आलम्बन करना हो गया, वह स्वय प्रमाण है अन्य ज्ञान की वहाँ अपेक्षा नही होती। जानते हैं और जाननेके साथ ही यदि वह प्रवृत्ति ग्रहण के योग्य है तो ग्रहण कर लेना तजनेके योग्य है तो तज देते है अथवा उपेक्षा कर देते हैं। तब ज्ञानके फलका भी उपयोग कर लिया अब ज्ञानमे भी सदेह करना मूर्खता है।

जाग्रत दशामे हुए अर्थक्रिया ज्ञानको स्वप्न दशावत् मिथ्या समझने की आशङ्का—कोई ऐसी शङ्का करे कि स्वप्नमें भी अर्थ क्रियाका ज्ञान होता है। स्वप्नमे भी तालाब दिखना, तालाबमे खूब तैरकर स्नान करना आदि दिखता है जैसा कि जगते हुएकी हालतमे होता है। कोई फर्क नहीं रहा उस समय। जैसे जाग्रत दशा

मे कोई पेडपर चढने लगता ऐसे ही स्वप्नमे भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि मैं पेडपर चढ रहा हूँ। ठहरते हैं श्रम करते हैं, पैर फिसलते हैं ये सब अनुभव स्वप्नमे भी जागृत दशाकी तरह होते है। जैसे स्वप्नमे अर्थ क्रियाका ज्ञान होता है, पदार्थ नही है तब भी, ऐसे ही जागृत दशामे अर्थ क्रियाका ज्ञान झट हो जायगा। जैसे स्वप्नमे कुछ कामकर लेनेपर भी ज्ञान झूठा है इसी प्रकार जागृत दशामे भी अनेक कार्य होनेपर भी ज्ञानमे अयथार्थता होगी।

जाग्रत दशामे हुए अर्थ क्रिया ज्ञानको स्वप्नसम मिथ्या माननेकी असमीचीनता उक्त शङ्काका अब समाधान करते हैं—उक्त शङ्का ठीक नही है, क्योकि स्वप्नकी दशा और जागृत दशामे बिल्कुल उल्टा आशय है स्वप्नमे जो किसी अर्थ कार्यका ज्ञान हुआ नहाना, धोना आदि किसी भी कामका जो ज्ञान हुआ वह तो बाधा सहित है, क्योकि जगनेपर विदित हो जाता है कि वह ज्ञान झूठा था, पर जागृत दशामे तो स्वप्न जैसी बात नही आती है। अर्थ क्रियाका ज्ञान अर्थके बिना नही है। एक पेन्सिल छीली जाय और प्रयोग करले, फिर पेन्सिल न हो ऐसा किसीमे बोध हुआ है? अर्थ क्रियाका ज्ञान अर्थ क्रियाके बिना नही होता। तो जब हम ज्ञान करके काम भी कर लेते तब भी हम सदेह रखें कि यह ज्ञान हमारा सही है या नही है या इसमे प्रमाणता अन्य उपायसे लाय। अब प्रमाणताकी क्या जरूरत? अर्थ क्रिया कर ली, काम हो गया, यही तो सबसे बडा प्रमाण है। जो अर्थ क्रियाका कारणभूत ज्ञान है वह प्रमाण है। जिस ज्ञानके होनेपर हम उसका प्रमाण कर सकें वह प्रमाण है। यह पानी है यह जानना प्रमाण है, क्योकि झट हम पी लेते हैं। पदार्थको जानकर उस पदार्थका जो हमे उपयोग करना चाहिए वह उपयोग हो जाय बस यही तो उस ज्ञानका फल है। यह प्रमाण है। जैसे अकुरका जो कारण हो उसे बीज कहते है। गेहूँ, चने ज्वार ये अकुरके कारण हैं तो इनमे क्या सदेह करना कि इनमे अकुर उगेगे या नही। अरे सीधा प्रयोग करके देख लो। कोई पुरुष सदेह करे कि अग्नि गर्म होती या ठडी होती। तो ज्यादा विवाद न करके सीधा चीमटामे आग उठाकर उसपे हाथकी गदेलीपर धर दे, तब उसे पता पड जायगा कि आग कैसी होती है। अगर कोई सदेह करे कि आग ठडी होती है या गर्म होती है तो उसे मूढता ही कहा जायगा।

अर्थक्रिया ज्ञानसे ज्ञानप्रामाण्यमे स्पष्ट नत्वादिता जितने भी हम जानको ज्ञान होते है उन ज्ञानोका फल है ग्रहण करने योग्यका ग्रहण करना, छोडने योग्यको छोड देना। सो ग्रहण भी करले अथवा छोड भी दे और फिर भी हम ज्ञानके सत्यतामे विवाद करते रहे यह कहाँ तक ठीक है। तत्त्वज्ञान सम अन्य पदार्थोका ज्ञान नही कर सकता। लेकिन मोह दशामे अन्य बाहरी पदार्थोके ज्ञान तो स्पष्ट समझमे आते है। यह ठीक है, घडा है पुस्तक है, सारी बातें स्पष्ट समझने आ रही और

जो समझने वाला है ज्ञान जिसने जाना है इन सबको वह ज्ञान समझमें नही आता। ज्ञान अपने ही प्रयोगसे अनुभवसे जो स्पष्ट प्रतीत हो सकता है उसको तो नहीं मानता और इन बाहरी पदार्थोंको जो भिन्न है, पर हैं, जिनमे हमारी अर्थक्रिया भी नहीं है स्पष्ट माना। बस यही तो संसारमे रुलनेका उपाय है। हम स्वयं क्या हैं, क्या करते हैं, कैसे रहते हैं इसका भान तो न हो और केवल बाहरी पदार्थोंका ही हम साम्य व्यवहार ज्ञान करते रहे तो उससे शान्तिका मार्ग नही मिलता।

अज्ञानमयी विपदाका अभिसार शान्तिका उपाय तो स्वयको स्वयमें मग्न कर लेना मात्र है, लेकिन जरा सी बातमे पर पदार्थ अनुकुल न परिणमे ऐसी कुछ स्थितियो मे बडा सकट अनुभव करते है, मुझ पर बहुत बडी विपदा छायी है। अरे विपदा तो यह छाई हुई है कि अत्यन्त भिन्न पदार्थोमे हम ममता रख रहे हैं, भिन्न पदार्थोंके प्रति हम आकर्षित हो रहे है, दूसरेके सुखमे हम सुख समझ रहे हैं, दूसरेका दु ख देखकर हम दु खी हो जाते हैं, किसी अन्य दूसरेमे नही किन्तु जिसे अपना परिजन माना उस दूसरेका दु ख देखकर दु खी हो जाते हैं ऐसा जो विकल्प बन रहा है अन्तरङ्गमे सस्कार बन रहा है यह है मुझ पर बडी भारी विपदा। परपदार्थोंमे ऐसा हो गया तो क्या, अन्य प्रकार हो गया तो क्या ? वह कुछ भी विपदा नही है। मान लो कुछ धनमे कमी आ गयी, क्या ऐसा नही हो सकता था कि जो अब है उससे चौथाई ही आपके पास होता ? उतना ही उदय होता, इस ढङ्गसे रहते ? कौनसी विपदा यह आ गयी जो यह विकल्प उठाया जा रहा है कि हम अब हीन हो गए, दीन हो गए, हमारी पोजीशन हल्की हो गयी। धन की कमी क्लेश नही देती, किन्तु जो कल्पना उठा ली गयी है ये भाव क्लेश दे रहे हैं। हम आप पर विपदा है अज्ञान की।

समस्त विपदाओके टलनेका एक मूल उपाय —भैया! विपदाको टालनेके लिए हम अनेक यत्न करते हैं पर जिस प्रयत्नमे विपदा टलेगी उसको करते नही। जैसे कोई औषधि ऐसी होती कि जो १०० रोगोपर चले। जैसे एक अमृतधारा उसका प्रयोग कई रोगोमे होता है तो कहते है कि बस एक अमृतधाराकी शीशी रख लो और चले जावो प्रवासमे सिरदर्द करने लगे तो लगा लो, पेटदर्द करने लगे तो दो बूंद पानीमे पी लो, चर्मरोग हो जाय तो प्रयोग कर लो। तो जैसे कोई औषधि सैकडो रोगोकी एक है ऐसे ही समझिये कि सैकडो नही, समस्त सकटोके मिटानेकी औषधि एक है, भिन्न-भिन्न नही हैं कि अमुक सकट इस औषधिसे मिटेगा और अमुक सकट इस औषधिसे मिटेगा। बेचैनी हो रही है तो उस सकटको मिटानेकी दवा और हुई, धनकी कमी आनेसे हुए सकटकी दवा और हुई, यहाँ ऐसी भिन्न भिन्न दवा नही है। समस्त सकटोंके टालनेकी केवल एक ही दवा है। वह क्या ? स्वरूपका परिचय करके भेदविज्ञान द्वारा समस्त परसे हटकर अभेद ज्ञान स्वभावमात्र अपने आपके

निकट आ जाना। यही है समस्त संकटोंके मेटनेकी दवा ।

धर्मपालनके आधारकी एकता—धर्मपालनके लिए भी अनेक काम नही करना है। अनेक काम तो इस लिए किए जाते है कि संस्कार विरुद्ध लगे हुए है उनका मेटने के लिए जब हम एक दवापर अधिकार नही पा रहे है तो चलो कुछ तो उन विपदावोंमें उपयोग हमारा हटे इसके लिए पूजन है दान है, त्याग है, जितने प्रकारके धर्मपालन किए जा रहे वे सब एक तरहके बचाव है। चाहे पूजा कर रहे हो चाहे सामायिक करते हो। धर्मपालनका ढङ्ग एक ही है और वह है एक अपने आपके स्वरूपके निकट रहना। जो यह कर सका उसने धर्म पाला। अब समझ लीजिए—घंटा भर भी भक्ति भावमे लगाया, श्रम किया तो इतना स्मरण रखे रहना कि धर्मपालन तो तब होता है जब बाह्य पदार्थोंके विकल्प हटकर केवल एक निज ज्ञान स्वभावमे मग्न रहा जाय।

धर्मपालन और उसका प्रभाव—भैया! अपने उद्देश्यका स्मरण न भूलिए और इसका उपयोग प्रभु भक्तिमे यों कीजिए कि बजाय यहाँ वहाँ देखने दासनेके अथवा अन्य प्रकारके विकल्पोंमे लगनेके ऐसा करे कि प्रभुके अनन्त चतुष्टय गुणका ध्यान करते जावे। प्रभु क्या है, हम जो स्तुति पढते हो उस स्तुतिके अर्थपर ध्यान दिया जायगा, और वैसे ही प्रभुमे निहारियेगा तो उनके गुणोंका स्मरण होनेसे और उस ही भांति यह मैं आत्मा हू ऐसा अपने आपका परिचय होनेसे अपने आपकी ओर आना हो जायगा, और अपने निकट आ सके तो इसीका नाम है धर्मपालन। यह खुद कैसा है जिसके निकट हमे पहुँचना है? यह खुद है ज्ञानस्वरूप केवल ज्ञानानन्दमात्र अमूर्त भावस्वरूप सबमे निराला अपने स्वभाव मात्र ऐसा अपने आपको विदित हो तो यह परसे हटेगा और अपने निकट रहेगा। यही है धर्मपालन, इसीसे समस्त सङ्कट एक साथ कट जाते हैं।

अभ्यस्त और अनभ्यस्त दशामे अपने ज्ञानकी विशेषता—ज्ञान कैसा है, उसकी क्या वृत्ति है, वह प्रमाणभूत है, उसकी प्रमाणता कब किस प्रकार आया करती है? इन सब प्रश्नोंका उत्तर इस दर्शनशास्त्रमे अनेक युक्तियों सहित दिया गया है। उसी प्रसङ्गमे यहाँ यह बात चल रही है कि जो ज्ञान हमारा अभ्यस्त होगा उसमे प्रमाणता तो स्वयमेव आ जाती है और जो अर्थज्ञान अनभ्यस्त है जिसका हमे परिचय नही है, ऐसे ही नवीन अर्थका परिज्ञान हो रहा है तो वह अर्थज्ञान अनभ्यास दशामे है अतएव किसी अन्य ज्ञानसे प्रमाणभूत होता है। जहाँ कुछ शङ्का है, संदेह है वहाँ प्रमाणता परसे होती है। जहाँ एकदम ही सीधा अभ्यास ज्ञान बना वहाँ प्रमाणता स्वयमेव आया करती है। यह बात अपने ज्ञानकी चल रही है। ऐसा प्रमाणभूत ज्ञान हमारा स्वरूप है। हम अपने स्वरूपमे पहुँचे और अपनी ही कलाके द्वारा हम अपने आपका विस्तार बनायें। किसी बाह्य पदार्थसे मेरा भला होगा इस भ्रमको

छोड दें। अपने आपके स्वरूपके निकट अधिकाधिक रहनेका प्रयत्न कर तो यही वास्तविक साधनेमे धर्मपालन होगा। उसी स्वरूपका इस प्रसगमें वर्णन चल रहा है।

नेत्रेन्द्रियज ज्ञानकी भाति अन्येन्द्रियज ज्ञानोकी भी प्रमाणता - मीमासकोने श्रोत्र इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानको अप्रमाण ह नेकी आपत्ति की थी कि श्रोत्र इन्द्रियसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान अप्रमाण है, क्योकि उसका मेल चक्षु आदिक इन्द्रियसे नही बैठता यह भी कहना ठीक नहीं है। क्योकि जब वीणा आदिकका कोई रूपविशेष देख लेते हैं तो उसमे शब्दविशेषमे भी उसे शङ्का नही रहती। यह वीणा इस प्रकारका शब्द निकाल रही ऐसा ज्ञान हो जाता है और श्रोत्र इन्द्रियसे जो शब्दविषयक ज्ञान होता है उसकी अर्थक्रिया तो और ही है। जो राग सुने, शब्द सुने उससे जो भीतरमें अनुभव हुआ, मेरा काम बराबर उसमें चल ह रहा है, अर्थक्रियाका अभाव नही है श्रोत्रेन्द्रियज ज्ञानमे, सो उसमे भी प्रामाण्यकी सिद्धि स्वय हो जाती है। जैसे किसी पदार्थका सुगन्ध लें तो वह तुरन्त प्रमाण हो जाता है कि नहीं? यद्यपि आखोंसे नही दिखता फिर भी गधका ज्ञान प्रमाण है, इसी प्रकार शब्द आखोंसे नही दिखते लेकिन श्रोत्र इन्द्रियसे शब्दका ज्ञान बनता है और वह प्रमाण होता है। प्रमाणके लिये सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदिक दोषोका अभाव चाहिए फिर वह ज्ञान प्रमाण है, जहाँ सशय होता है वहाँ तो किसी अन्य ज्ञानके सन्निधिकी अपेक्षा होती है। जरा और निर्णय करे है क्या? और और इन्द्रियकी साधनकी जरूरत होती हैं किन्तु जहा सशय आदिक नहीं है, ठीक सुन लिया, अब चिडिया बोल रही है तो उसके शब्द सुननेमे आ रहे हैं। कोई यह कहे कि देख लूँ तब जानूँ कि यह चिडियाका शब्द है ऐसा विलम्ब ना नही होता, तो श्रोत्र इन्द्रियसे जो ज्ञान होता है वह श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा अनुभूत है। वह प्रमाणभूत है।

निश्चयसे ज्ञानकी कार्यविधिका दिग्दर्शन – ज्ञानका काम है उसकी अर्थक्रिया हो जाना। कुछ भी हम जानते हैं तो किसी न किसी प्रयोजनसे जानते हैं। और ऊँचे चढकर ज्ञानका फिर कोई रागादिक प्रयोजन नही रहता। केवल जाननेके लिये जानना है। प्रत्येक क्रियामे ६ कारक हुआ करते हैं कर्ता, कर्म करण सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण हिन्दीमे २ कारक और बढ गए हैं सम्बन्ध और सम्बोधन। उसमे तो सम्बोधन कोई कारक नही है क्योकि उसमे उद्बोधन मात्र है तथा सम्बन्ध कोई वस्तु नही है। लोगोंने अपनी ममताके अनुकूल सम्बन्ध बना रखा है। सम्बन्ध कुछ नही है। किसी पदार्थमे कुछ परिणति हुई तो किससे लिए हुई? उसका उत्तर आयगा, किसके द्वारा हुई? उसका भी उत्तर आयगा। किसने की? किसको की? इन सबके उत्तर आयेंगे पर सम्बन्धका कोई प्रश्न नही। एक वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ सम्बन्ध होना है यह कारकमे नही है क्योंकि जो भी परिणति हुई है वह खुदकी खुदमे हुई है, दूसरेसे सम्बन्ध कुछ नही है, अतएव सम्बन्ध कारक नही हुआ करता।

दृष्टान्तपूर्वक अभिन्न षट्कारकता का वर्णन – कारक ६ होते है। प्रत्येक पदार्थका जो कुछ भी परिणमन होता है वह उसके ६ कारकोमे हो जाता है। जैसे सर्प लम्बा चौडा था अब उसने कुण्डली बना ली, गोल हो गया तो सर्पने क्या किया? जो किया सो किया। किसको किया ? अपने आपको किया। अपने आपको ही लम्बे को गोल बना लिया। किसके द्वारा किया यह काम सापने ? अपने ही द्वारा किया। कोई पुरुष पकडकर तो उसमे कुछ नही कर रहा, लाठी आदिक यन्त्रोमे तो कोई उस मे कुछ नही कर रहा। साप भी किसी दूसरे पदार्थका सहारा लेकर तो कुछ नही कर रहा। वह खुद अपने आपमे अपनी क्रिया कर रहा है तो किसके द्वारा किया ? अपने ही द्वारा किया। और इस प्रकारका जो गोल बन गया सांप वह किसके लिये बना ? उसे जो भी आराम हुआ, कष्ट हुआ वह सब असर सांपमे होगा। और वह साप पहिले तो सीधा था, अब उस सीधी पर्यायसे हटकर कुण्डली पर्यायमे आया तो किससे हटकर आया ? अपने ही से हटकर आया। अपनी ही कोई परिणति थी जिससे हट कर वह कुण्डलीके आकार बन गया। तो अपादान भी वही हुआ और यह सब कार्य गोल मुद्रा सापमे हुई। सो जैसे सांप कुण्डलीके आकार बन रहा तो उस कुण्डलीका कारक साप स्वय है। इसी प्रकार जिन जिन पदार्थोका भी परिणमन होता है वे सब परिणमन उस ही पदार्थमे समाप्त होते हैं।

एकका दूसरेके साथ सम्बन्धका अभाव होनेसे स्वयमे ही सर्वस्व— एकका दूसरेके साथ सम्बन्ध नही है। कोई पुरुष हाथसे कोई चीज उठाकर भी धरे उस हालतमे भी हाथने क्या किया ? इसपर कुछ यदि विश्लेषण किया जाय तो हाथ ने हाथमे क्रियाकी। किसको की ? अपने हाथको की। किसके द्वारा की ? अपने ही द्वारा। और ऐसा जो हाथका परिणमन हुआ यहाँसे वहाँ हिला डुला यह भी इसका प्रयोजन क्या ? स्वय था। जो कुछ बीती, कष्ट हुआ, आराम हुआ या जो भी परि-णति हुई वह उसके लिये हुई, और पहिले यह हाथ और तरहका था, एक जगह था, अब उसने गमन क्रिया की तो स्थिरतासे हटकर वह गमनमे आया तो यह हाथ उपा-दान हुआ और हाथने जो कुछ किया हाथमे किया। तो हाथका सब कुछ षट्कार-कीय परिणमन हाथमे हुआ। ऐसी परिणति करते हुए हाथके बीच कोई चीज आयी तो उस परिणमते हुएका निमित्त पाकर चीज भी एक जगहसे दूसरी जगह पहुची। अब उस वस्तुमे जो परिणमन हुआ, जो हाथके बीच फसी हो और एक जगहसे दूसरी जगह पहुँची हो उस वस्तुका षट्कारक परिणमन उस ही वस्तुमे है, अतएव किसी भी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ सम्बन्ध नही है, इस दृष्टिसे देखा जाय तो आत्माने जो कुछ भी ज्ञान किया, जिस किसी भी पदार्थके विषयमे ज्ञान किया आत्मा ने जाना। किसको जाना ? निश्चयसे तो आत्मामें जो ज्ञानका परिणमन हुआ उस परिणमनको ही जाना, अपनेको ही जाना। निश्चयसे तो पर जाननका रूप इस प्रकार होता है वह ज्ञेयाकारको ग्रहण करता हुआ रहता है अतएव उपचारसे कहते

है कि मैंने बाह्य पदार्थोंको जाना। जाना अपने आपको ही और उस जानन परिणति के मध्य करण कौन हुआ ? जिसके द्वारा जाना ? स्वयके स्वरूपके द्वारा जाना।

निश्चयसे जाननके सम्प्रदायका निर्णय　अब सम्प्रदान कारक देखिये ! जाननका फल क्या हुआ ? स्वय, किसलिए जाना ? अपने लिए जाना ? ज्ञान होनेसे जो तुरन्त सन्तोष होता है, नि शङ्कता आती है, स्पष्टता आती है वह खुद ही पर तो गुजरी, भले ही ज्ञान करके बादमे कुछ प्रवृत्ति कर अथवा निवृत्ति करे लेकिन किसी भी क्रियाका फल निश्चयसे तो बादमे नही मिलता। प्रत्येक कार्यका फल क्रिया होने के समयमे ही मिलता है। बादमे क्रियाका फल मिलता है यह कहना व्यवहार मात्र है। जैसे कुम्हार घडा बनाता है तो घडा बनानेकी क्रिया करते समय कुम्हारको फल मिल रहा है। क्या ? श्रम हो रहा, खेद हो रहा, सुख हो रहा, कल्पना कर रहा, जो कुछ भी उसमे गुजर रहा है उस समय जिस समय वह घडा बना रहा है वही फल मिला लेकिन लोकव्यवहारमे यह कहते हैं कि घडा बननेके बाद पकनेके बाद जब कुछ पैसोका बिकता है उसे पैसे मिलते हैं, उसका सामान खरीदता है तब मानते हैं कि इसे अब घडा बनानेका फल मिला। पर निश्चय सिद्धान्तमे तो जिस समय व तुमे क्रिया हुई उसी समय फल मिलता है और फिर फल भी भिन्न नही मिलता। फिर मिलना उस श्रमका फल नही है, यह तो एक अन्य वस्तुसे सम्बन्धित है। तो जैसे कुम्हारने जिस समय क्रिया की उसी समय उसे फल मिला, इसी प्रकार जितने भी प्राणी भाव करते हैं पुण्य भाव करें अथवा पाप भाव करें अथवा धर्म भाव करें भाव करते समय ही उसका फल मिल जाता है अवश्य मिलता है मिलना ही पडता है। ऐसा ही सम्बन्ध है कि जिस समय क्रिया की जाय उसी समय उसका फल मिलता है।

निश्चयसे जीवके परिणमनका प्रयोजन याने फल वही और उसी समय—किसी पुरुषने पाप परिणाम किया। अब उसके फलमे उसे नरक जाना है। तो ऐसा कहना व्यवहार है कि पाप किया इस भवमे और फल मिला उस भवमे। पाप क्रिया जो कर रहा है प्राणी उस समयमे जो उसे अशान्ति है, मलिनता है वह फल तुरन्त मिल रहा है। इसी प्रकार कोई पुण्य करता है और पुण्यमे देव आयुका बध किया, देव बनेगा तो लोकव्यवहारमे यो कहेंगे कि इसने पुण्य किया था देखो, उसका फल देवभवमे प्राप्त हुआ। लेकिन जिस ही समय उसने पुण्य परिणाम किया उस परिणामसे जो तुरन्त उसकी आत्मामे असर हुआ, प्रभाव हुआ वह है उस समय के पुण्य भावका फल और वह तुरन्त मिल रहा है। प्रत्येक क्रियाका फल निश्चयसे उस ही समय मिला करता है। किसी पुरुषने धर्म भाव किया, शुभ अशुभ भावोसे हट कर केवल एक शुद्ध ज्ञानकी निर्विकल्प दृष्टि की, जिसमे राग द्वेषकी बात नही है ऐसा किसीने धर्म भाव किया तो लोग कहेगे ऐसा कि धर्मके फलमे मुक्ति प्राप्त होती है। मुक्ति मिलेगी कई वर्ष बाद। पर ऐसा नही है कि आज धर्म किया जा रहा हो और

फल मिले बहुत वर्ष बाद । जितने अंशमे जितनी निर्मलतामे वह धर्मभाव कर रहा है उसका फल है शान्ति होना, तृप्ति होना, ये सब उसे तुरन्त मिल जाते है। तो निश्चय न प्रत्येक पदार्थकी परिणतिका फल उस हीमे है और अभिन्न रूपसे है । यो प्रत्येक पदार्थोंका षटकारक स्वयमे है।

निश्चयसे ज्ञानकी षटकारकताका स्वयमे निर्णय जब हम जानते हैं कि इस समय हमने जाना, किसको जाना ? जैसे हम दर्पण देखते हैं और हम अपनी पीठ पीछेकी सब वस्तुवोको जानते रहते हैं, उस दर्पणको देखते हुए हम यह कहते जाते हैं कि देखो अमुक यो हाथ हिला रहा है, यो पैर हिला रहा है। अमुक यो प्रवृत्ति करता है। तो जैसे हम यद्यपि देख रहे है उस दर्पणको पर बताते जा रहे हैं पीछे खडे हुए लडकोकी चेष्टावोको, इसी प्रकार यह ज्ञान परिणमता है, उस आकार ग्रहणरूप जिस रूप बाह्यमे पदार्थ मौजूद है। तो निश्चयसे हम उस ज्ञेयाकार ग्रहण को ही कर रहे है, अपनेको ही जान रहे है, पर उसमे चूँकि विषयभूत बाह्य पदार्थ हुए हैं अत कहते है कि हमने बाह्य पदार्थको जाना। वस्तुत हमने अपनेको ही जाना। इसी प्रकार जब हम जानते हैं तो उसमे कुछ और की शक्ति नहीं मिलती। किसी औरका प्रभाव नही लेते हैं। वह सब जानना मेरा मेरे ही प्रभावमे मेरे ही ज्ञान स्वरूपसे हुआ करता है। तो जाननरूप क्रियामे कारण भी हम हुए और जानकर भी हमने ही तुरन्त फल पा लिया। अशान्ति हो, शान्ति हो, सतोष हो जो कुछ भी गुजरे वह फल हमने अपने आपमे प्राप्त कर लिया और इस ज्ञानसे पहिले हम जिस स्थितिमे थे उस स्थितिसे हटकर इस ज्ञानमे आये हैं सो स्वय ही उपादान हुए। इस प्रकार ये सब परिणमन मुझमे ही हो रहे अतएव मैं ही अधिकरण हू। सर्व पदार्थो की यही बात है। इस तरह जानने वाले और अपने अन्तरङ्गमे श्रद्धान करने वाले जीव सम्यग्दृष्टि है। जिसे सम्यक्त्व जगा है वह नियमसे ससारके समस्त सङ्कटोसे छूट जायगा। सम्यक्त्वके समान अन्य कुछ वैभव न समझिये।

क्लेशका कारण परमे, परभावमे आत्मीयताकी बुद्धि लोकमे कुछ अन्य ऐसा है ही नहीं, जो मेरे हितमे आये। कोई कुटुम्बी हो, बडा आज्ञाकारी मित्र हो, बडे विनयशील सेवकजन हो। चाहे कितना ही वैभव हो पर ये कुछ भी शान्ति के काम नही आते हैं। केवल एक अपना तत्त्वज्ञान, सम्यक्त्व यही काम आता है। ऐसा क्यो ? इसलिए कि जितने भी दुख हैं वे परपदार्थोंमे आत्मीयताका भ्रम करनेसे हैं। दूसरा कोई दुख नही है। कोई किसी भी स्थितिमे हो उसमे दुख नही दुख तो केवल परपदार्थोंमे आत्मीयताकी बुद्धि बनानेमे है। आज कल एक देश दूसरे देशसे लडते हैं और लडाईका वातावरण मिट नही पाता। इसका भी मूल कारण क्या है कि जो जिस देशमे बस रहा है वह उस देशको अपना मानकर उस देशकी तरक्कीमे, बढोतरीमे लगा रहता है, उस देशके प्रति ममता बसी है जिसके कारण अनेक खटपटें

करनी पड़ती है। उनके फलमें मिलता है क्लेश। जितने भी क्लेश देश सम्बन्धी, घर सम्बन्धी हैं वे सब मोह–ममताके हैं। कोई बच्चा प्रतिकूल चलने लगा तो भाई इसमें क्लेशकी क्या बात है? जो जैसा है सो रहने दो। क्लेशकी बात तो यह है कि उस बालकमें यह बुद्धि जगी है कि यह मेरा है, इससे मेरा बड़प्पन है, ऐसी बुद्धि जगनेके कारण क्लेश होता है, उस बालकके प्रतिकूल होनेसे क्लेश नहीं होता है। तो क्लेश मात्र मोह–ममताका है।

मोहका ढांचा मात्र विकल्प— और भी देखलो! मोह–ममता केवल एक भाव ही तो है, कल्पना ही तो है और कुछ चीज तो नहीं है। सोना चांदीकी तरह कोई पिण्ड ऐसी तो नहीं है कि किसी तरह इसे निकालकर फेंक दिया तो लो रीते हो गए। मोह–ममता तो केवल एक भाव है। ऐसा मोह–ममताका भाव न रखें तो कहीं क्लेश नहीं है और मोह–ममता है तो वही आपत्ति है। लेकिन जब तक मिथ्यात्वका उदय है, कितनी ही कोशिश करे यह जीव, पर हृदयसे मोह नहीं टलता। सारे क्लेशोंकी जड़ है मोह, दूसरा कोई क्लेश नहीं है। उस १०, २०, ५० वर्षकी जिन्दगी मे जिसमें माना है कि यह मेरा है भ्रमसे मान लो, फिर तो छूट जायगा ना सम्बन्ध। इतने समय भी भ्रम न करें तो उद्धार हो जायगा। लेकिन इतने ही वर्ष लोग गम नहीं खाते, अपनी बुद्धि स्वच्छ नहीं रखते। काल तो अनन्त है, ये १००–५० वर्ष क्या कुछ गिनती भी रखते हैं पर मोहबुद्धिसे जो कलङ्क लगा लिया, जो वासना बना ली वह हमें भव–भवमें दुःखी करेगी। यहाँकी कोई चीज अपनी बनकर न रहेगी। मरनेपर अथवा जीतेजी सब छूट जायेगी, अगर उनमें ममता है तो भव भवमें दुःखी करेंगी, तो संसारके सर्व दुःख हैं इस मोह–ममताके कारण।

मोह क्लेशसे छुटकारा पानेका मूल विधान— तो यह मोह ममता छूटे कैसे? उसका उपाय केवल एक ही वीतराग शासनमें बताया गया है तत्त्वज्ञान करें। भैया! यह ममता छुटाना है तभी पूरा पड़ेगा, उसी कीचड़में, उन ही विकल्पों मे रमना ठीक नहीं है। हलाकि अबसे पहिलेके समयमें या अब तकके समयमें धन वैभव जोड़नेकी बड़ी इच्छा रहती हो बड़ा प्रयत्न किया हो और वह संचित भी हो गया हो तो अब ऐसा न सोचना कि इसको बड़ी कठिनाईसे संचित किया है, यह कैसे छोड़ा जाय, इसका मोह कैसे छूटे? अरे भाई! करते रहो ऐसा परिणाम कब तक करोगे? और वह तो छूटकर ही रहेगा। भलाई इसमें है कि चीजके छूटनेसे पहिले हम स्वयं अपना परिणाम ऐसा बनायें कि हम उस वस्तुसे अपने आपको मुक्त ही निरख सकें। मैं तो इन सबसे छूटा हुआ ही हूँ।

सम्बन्ध कारकका अभाव—सम्बन्ध नामका कारक संस्कृतमें नहीं है। यह ठीक अध्यात्म शैलीसे निर्णय की हुई बात है। क्रियाका सम्बन्ध किसी परसे होता ही नहीं है इस कारण क्रियाके कारक ६ तो बताये पर सम्बन्ध कारक नहीं बताया। हो

रहा है सब । किसको किया, किसके द्वारा किया, किसके लिये किया ये प्रश्न होते हैं इनका समाधान निश्चयसे स्वयं मिलता है किसका कर रहा यह कोई प्रश्न नहीं कर सकता, क्योंकि यह दृष्टिमें नहीं आ रहा कि कोई पदार्थ किसीका कुछ कर रहा है। किसीने गाली दी और दूसरा बुरा मान गया तो ऐसे ही लोग कहें कि देखो इसने इसे दुःखी बना दिया मगर उसने तो अपने आपमें अपनी चेष्टाकी। चेष्टा यद्यपि उसने उस पुरुषको निगाहमें रखकर की मैं इसको गाली दूं बुरा कहूं। ऐसा उसने विकल्प बनाया किन्तु गाली देने वालेने केवल अपने आपमें विकल्प ही किया। उसने पर जीवमें कुछ नहीं किया।

तथ्यभूत ज्ञानका प्रभाव और उसके प्रामाण्यकी उपपत्ति भैया! हम आपका तथ्यभूत ज्ञान जगा रहे तो हम आप सबका बड़ा सौभाग्य है। यही सच्चा वैभव है। स्पष्ट भान रहे कि मेरा तो मात्र मैं ही हूं। और वह मैं ज्ञानस्वरूप हूं और ज्ञानका स्वभाव स्वपरका है निर्णय करना, निश्चय करना। अब वह निश्चय इस छद्मस्थ अवस्थामें पर साधन पाकर होता है। अतएव हम आप सब लोगोंके प्रमाणकी उत्पत्ति इन्द्रिय और मनसे होती है। यद्यपि उपादान रूप कारण है वह स्वयं, लेकिन उत्पत्तिमें परकी अपेक्षा होती है। प्रमाण बन तो गया, ज्ञान बन तो गया। ज्ञान उत्पन्न होनेके बाद अब वह ज्ञान अपने कार्यमें लगे। जैसा जाना उस प्रकारकी सब क्रियामें लगे, इस प्रकारकी जो प्रमाणता है वह अभ्यास दशामें तो स्वतः होती है और अनभ्यास दशामें परतः होती है। जहाँ इसका परिचय दिया है वहाँ उस बातका समझनेके लिये हमें कोई नया ज्ञान बनाना होता है और उससे हम उसका निर्णय करते हैं।

ज्ञानका स्वभाव व वर्तमान ज्ञानकी परिस्थिति निरखकर परिणामोंकी निर्मलताका औचित्य भैया! अपना यह ज्ञान कैसा तो स्वभाव रखता है और इसमें कैसी माया कैसे परिणमता है और इसमें कैसी सामर्थ्य बसी हुई है, इन सब बातोंका निर्णय होना अपनी भलाईके लिये अत्यन्त आवश्यक है। हम जितना अधिक अपने ज्ञानके निकट आयेंगे उतना ही अपना भला कर सकेंगे। और जितना हम अपने स्वरूपसे हटकर किसी बाह्य पदार्थोंमें फसते हैं, विकल्प बनाते हैं, उतना ही हम अपने आपका अहित करते हैं कलुषित बनाते हैं जिसका फल तुरन्त ही हम अपने आपमें भोग लेते हैं। इस कारण परिणामोंकी विशुद्धि रखना, निर्मलता होना यह हम आप सब लोगोंके हितके लिये अत्यन्त आवश्यक है। उसीके उपायमें हम देवपूजा गुरूपासना आदिक कर्तव्य कार्योंके बीचमें यह निर्णय बनायें, यह सब अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवके लिये किया जा रहा है। यह उद्देश्य हमारे ज्ञानमें रहेगा तो हम इस हितके मार्गसे विचलित नहीं हो सकते।

स्वतः परतःसे प्रामाण्यका निर्णय होनेके कारण अनवस्थाका अभाव –

ज्ञानकी उत्पत्ति हम आप लोगोको इन्द्रिय मन आदिक साधनोसे होती है। यद्यपि उपादानसे तो आत्मासे ही निष्पत्ति ह ती है पर निमित्त कारणोंकी अपेक्षा परसे उप पत्ति होती है। ज्ञानकी उत्पत्ति परसे होती है, दर्शन क्षेत्रकी बात चल रही है, ता ज्ञान ही प्रमाण कहलाता सो प्रमाणकी उत्पत्ति परमे ममझिये, और प्रमाणमे होती है प्रमाणता मो प्रामाण्यकी भी उत्पत्ति परसे होती है, किन्तु भाट्ट नामके दार्शनिक प्रामाण्यकी उत्पत्ति स्वत मानते हैं और इसकी पुष्टिमे वे विकल्प उठाकर पूछ रहे थे कि क्या दूसरा जो ज्ञान हुआ जिसमे प्रमाणता जानी गई वह ज्ञान क्या उम ही एक का विपय करता है या भिन्नका विषय करता है। ऐमा विकल्प उठाकर परत उत्पत्ति माननेका खण्डन किया था। उमके उत्तरमे कह रहे हैं कि यह विकल्प ठीक नही है। चाहे एकको ही विपय करे तो भी वह ज्ञान मम्वादक अवश्य है, जाननहार ान सकता है और किसी भिन्न पदार्थको विषय करे तो भी सम्वादक बन सकता है। जैसे अधेरेमे आमका रसा चखकर हम रूपका ज्ञान कर लेते है, उस आमके रूपका ानुमान कर लेते हैं। तो एक ही पदार्थ है, एक ही विषय किया है रस ज्ञानका और ास ही पदार्थका जो रूप है उसे जान लिया अथवा रस भिन्न तत्त्व है, रूप भिन्न ्ण है तो भिन्नको विपय करनेपर भी प्रमाण कर लिया यह ज्ञान इसे सही जानता और यह पदार्थ सही जाननेमे आ रहा है ऐसे सम्वाद्य सम्वादकपनेका प्रामाण्यस ाविनाभाव है अन्य पदार्थसे नही। देखो बहुत दूर रखा हुआ कोई वीणा बाजा ारखनेमे आ रहा है तो उम वीणा बाजाका रूप देखकर किसीके तुरन्त उसके ... ाशेपका ज्ञान हो जा ा है कि यह अच्छा है उसके तार देखकर पतले म्बे जहां जितने छुए हुए होना चाहिये उतने वहां छुवे हो, जहा अन्तर हो वहां न्तर लिए हुए तारोको देखकर शब्दका ज्ञान हो जाता है कि यह वीणा अच्छी है। ो एक बातको निरखकर दूमरेका ज्ञान हो जाय यह भी सम्भव है। जैसे धुवा देख र यह ज्ञान हो जाता है कि यहा आग है। प्रयोजन यह है कि जहा सशय, विपयय, नध्यवसाय न हो वह ज्ञान प्रमाण है। चाहे वह उम ही पदार्थको जाने, चाहे अन्य दार्थको।

सम्वादकत्वसे प्रामाण्यका निर्णय होनेके कारण पूर्वोत्तरविकल्पोका नवकाश इस प्रमगसे सम्बन्धिक एक प्रश्न और किया था शङ्काकारने कि पहिले ाने किसी पदार्थको जाना, अब यह प्रमाण है ऐसा समझनेके लिये हमने दूसरा न उत्पन्न किया तो यह बतावो कि दूसरे ज्ञानने ही पूर्व ज्ञानका विपय किया अथवा ज्ञानको विषय न करके कुछ अन्य समझा ? यह विकल्प करना भी ठीक नहीं है ोकि दूसरा जो सम्वादक ज्ञान हुआ है वह पूर्व ज्ञानको ग्रहण करे इसलिये प्रमाण नहो है, किन्तु इसकी क्रियाको देखकर दूसरा ज्ञान प्रमाण व्यवस्थापित करता है। जैसे पहिले ज्ञानसे जाना कि यह पानी है, यह अनयभस दशा थी। थोडी देर बाद जाना कि यह पानी ही है और जाकर पी लिया, तो अर्थक्रिया हो गई। वह ज्ञान

प्रमाण है। तो कार्य विशेष होनेसे प्रमाणता आती है, चाहे वह पूर्व ज्ञानको विषय करे अथवा न करे, किन्तु युक्तिसे प्रमाणता आती है। ज्ञान प्रमाण है और उसकी प्रमाणताका निश्चय होता है उसका कार्य निरखकर। जैसे यह आग है यो दूरसे देखा और जरासा तिनका अग्निका उठाया तो पता पड गया कि यह आग ही है. दृढना कैसे हुई कि आगका जो कार्य है वह भी दिखनेमे आ गया। यो कार्य निरखकर प्रमाणता आती है।

सवादकत्वसे प्रामाण्यका निर्णय होनेके कारण सशयादिदोषोके अभावके प्रसङ्गका अनवकाश– शङ्काकारने जो यह कहा था कि यो तो अन्य ज्ञानसे प्रमाण माननेपर फिर तो सशय विपर्यय कुछ न रहेगा। जैसे जिस समय सीपको चाँदी जान रहे तो उस कालमे चाँदी जान रहे हैं और थोडी देर बाद जो ज्ञान बनेगा वह यह निश्चय करेगा कि यह चादी नही किन्तु सीप है। यो सही ज्ञान होनेपर पूर्वज्ञानका तो सम्बन्ध भी न रहा। फिर कभी वह अप्रमाण नही हो सकता क्योकि ज्ञान क्षणिक हुआ। जिस समय सीपको चादी जाना, जानकर यह ज्ञान नष्ट हो गया, फिर अप्रमाण कुछ नही रहा, यह आपत्ति देना ठीक नही है, क्योकि प्रमाण और अप्रमाणका निर्णय करना युक्तियोसे विवाद नही हैं यह बात देखकर किया जाता है कि यह बात ठीक ही है। तो ज्ञानमे जो दृढता आती है यह सही ही है। ऐसा जो निर्णय होता है वह भी जब इन्द्रियमे दोष न हो, गुण हो तो उससे निश्चय किया जाता है। हमारे ज्ञानमे कोई दोष नही है, सब सही सही दिखता है कादला काच आदिक दोष नही है, उससे जो ज्ञान होता है वह यथार्थ होता है।

प्रामाण्यके निर्णयकी गुणोपर निर्भरता– यह कहना शङ्काकारका ठीक नही कि भाई मिथ्या जाननेमे तो दोषकी अपेक्षा होती है पर सही जाननेमे किसीकी अपेक्षा नही होती दोषोका अभाव है तो सही ज्ञान होगा, दोषोका सद्भाव है तो मिथ्याज्ञान होगा। यह भी कहना ठीक नही है क्योकि बाधक कारणोके अभावसे और दोषोके अभावसे जो तुम प्रमाणका निश्चय करते हो तो यह बताओ कि तुमने अभावको समझ कैसे लिया ? पहिले समझा या बादमे। पहिले तो समझा नही, और बादमे समझा तो पहिले प्रमाण कैसे बन जाय। मतलब यह है कि जैसे जब सूर्यका उदय होता है तो मेघ पटल बिखर जाते हैं ऐसे जब ज्ञानका उदय होता है तो ज्ञानकी अप्रमाणता नष्ट हो जाती है। यह ज्ञान तो प्रमाणताके स्वरूपको लिये हुए होता है फिर उपादान कारणोका अभाव है, यह क्या तुम अभी समझते हो इसी समय ज्ञान जान रहा है या उत्तरकालमे बाधक कारण न आयगा इसलिये प्रमाण है ? उत्तरकालकी बात सर्वज्ञ जाने, हम लोगोकी उसमे प्रवृत्ति नही है। क्या बाधक कारण इसलिये नही है कि अभाव है। तो अभाव तुमको है या सबको ? अपनेको तो है नही, सबकी गारण्टी नही। मतलब यह है कि ज्ञान

स्वरूपकी प्रमाणता लिये हुए है और वहा गुणकी अपेक्षा होती है जिस समय चित्तमे कोई अन्यायकी वात आ जाय, पापभाव आ जाय तो उस समय ज्ञान सही काम नही कर पाता और जब शान्त हो कोई चित्तमे विकार जागृत न हो अथवा गुणोमे रुचि हो ऐसी शान्त अवस्थामे ज्ञानका विकास भली भाति होता है। तो यह सब निर्दोषपना और गुणपर निर्भर है।

गुणोकी विशद प्रसिद्धि— मुख्य प्रसङ्ग यहा यह है कि पदार्थमे यह शङ्काकार गुण नही मानता। पदार्थ तो पदार्थ है। जो है सो है। उसमे गुणकी क्या बात है। जैसा है वैसा न रहे, और भानि हो जाय उल्टा हो जाय तो वह दोष है। दोष की तो सत्ता होती है पर गुणकी सत्ता नही है, यह बिना विचार तो रमणीक है, लेकिन यह तर्क वस्तुके स्वभावको छू कर नही कहा गया है। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वभावमात्र है। स्वभावसे कोई पदार्थ रीता नही है। पुद्गल है उसमे रूप, रस गध, स्पर्शका स्वभाव है, उसका मूर्तपनाका गुण है। जो स्वभाव है, जो उसका प्राण है, सर्वस्व है वही तो उसका गुण है। गुण और गुणीका भेद डालकर कहा जाता है, वैसे तो जो कुछ है वह एक है, अथवा जब सही अनुभवमे आता है तब एक सख्या भी नही रहती। जैसे एक आत्माके तत्त्वको देखिये आत्मामे गुण है या नही ? शङ्काकारकी मतिसे तो आत्मामे कोई गुण नही है। आत्मामे दोष तो हो सकते पर गुण कोई भी नही है। ऐसा शङ्काकार कह रहा है, पर यह तो बतलावो कि जो वस्तुका स्वरूप है स्वभाव है उसे क्या गुण न कहेगे ?

आत्मस्वभावका, आत्माके अभेद गुणका निरूपण—आत्माका स्वभाव क्या है ? शुद्ध स्वभाव निरपेक्ष स्वभाव। आत्मामे अपने आपकी सत्ताके कारण होने वाला भाव क्या है ? उस आत्म स्वभावको जाननेके लिये चलें तो पहिले तो दोषोके अभावरूपसे जाना जायगा क्योकि यह स्वभाव दोषोमे ढका हुआ है। तो इस स्वभाव ने पहिले यो परखिये कि समस्त पर वस्तुवोंसे यह न्यारा है। फिर समझिये कि समस्त पर भावोसे न्यारा है। रागद्वेष मोह आदिक जो भाव हैं उन भावोसे जुदा है आत्माका स्वभाव। क्योकि आत्माका स्वभाव तो आत्माके साथ सदासे है सदा तक रहते हैं, पर रागादिक भाव नही हैं, सदा तक न रहेंगे, परम्परासे अनादिकालसे भरे ही हैं पर सदा तक न रहेगे। तो आत्माका स्वभाव परभावो, विकारोंसे, रागादिक विभावोसे जुदा है। यहा तक यह निर्णय हुआ कि यह मैं आत्मा पुद्गल, धर्म अधर्म, आकाश, काल इन ६ प्रकारके पदार्थोमे जुदा हूँ, और, यह मैं आत्मा रागद्वेष मोह विकल्प विचार वितर्क इन विकारोमे जुदा हूँ।

आत्माके अपूर्ण ज्ञानस्वभावत्वका निषेध— कोई यहाँ यह कह बैठे— तब फिर जो हम आप लोगोका ज्ञान होते है—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदिक ये ज्ञान तो मेरे आत्माके स्वभाव होगे। तो अब निर्णय करें यह कि ये भी मेरे स्वभाव नही

है। ऐसा स्वभाव वह है जो भरपूर हो, अधूरा न हो। हम आप लोगोंके ये सब ज्ञान अधूरे चलते हैं। किसी भी पदार्थको हम पूरे तौरसे जान तो नही सकते। जो हमारी आँखोंके सामने है, जैसे यह चौकी है तो क्या हम इस चौकीको जान रहे है ? चौकी यह आधा इञ्च मोटी है तो इसके भीतर क्या है क्या इसे भी हम जानते ? अथवा जिस भागको हम देख रहे है उनके विरुद्ध जो दूसरा भाग है उसे भी हम जान रहे है क्या ? नही जान रहे। तो किसी भी पदार्थको हम आप यहा पूरा जान भी नही सकते है। तो ज्ञानका अधूरापन स्वभाव नही है। स्वभावसे स्वय ही बना हुआ हो। तो इसी कारण मतिज्ञान, श्रुतज्ञान इनको आत्माका स्वभाव नही कहा गया है।

शाश्वत भावमे ही आत्माका स्वभावत्व — कोई पूछ बैठे कि केवलज्ञान तो आत्माका स्वभाव होगा तो अध्यात्मवेदी कहेगा कि केवल ज्ञान भी आत्माका स्वभाव नही है। ज्ञान तो स्वभाव है, पर ज्ञानावरण कर्मोका क्षय होनेसे जो एव सर्वज्ञता प्रकट हुई है वह केवल ज्ञान आत्माका स्वभाव नही है क्योंकि आत्माका स्वभाव वह होता जिसमे आदि और अन्त न हो। जबसे आत्मा है तबसे हो, जब तक आत्मा है तब तक रहे वही तो आत्माका स्वभाव होगा। आत्मा है अनादिसे अतएव स्वभाव भी अनादिसे है, अनन्तकाल तक रहेगा। अब इस तरह परखकर लीजिए क्या केवल ज्ञान सदाकालसे रहा आया है ? सदासे तो नही रहा, छद्मस्थ अवस्था थी और अधूरा ज्ञान था, घातिया कर्मोका क्षय होनेपर यह तो अब प्रकट हुआ है, अनादि अनन्त नहीं है। आत्माका स्वभाव वह है जिसका आदि और अन्त न हो।

निर्विकल्प सहज ज्ञायकस्वभावमे आत्मस्वभावत्व — यह स्वभाव एव ज्ञानरूप, लेकिन थोड़ी देर बाद ही यह बात समझमे आती है कि ऐसा यदि एक पक्ष रहे उस ज्ञान स्वभावका, वह एक है इस रूपमें निरखते रहें तो उसमे निर्विकल्प स्वभाव ध्यानमे न आयगा। स्वभावकी सीमा नही होती। जैसे जलका स्वभाव ठडा तो यही यह सीमा तो नही है कि घड़ेमे इतने जलका तो स्वभाव ठडा है और इतना गरम है ? सो जैसे जलका स्वभाव शीत मात्र है इसी प्रकार इस आत्माका स्वभाव नही किसी स्वभावरूपसे देखे तो यह उसका स्वभाव है, यह दूसरे आत्माका स्वभाव है ये सीमाये न बन सकेंगी। जैसे इसान और इसानियत। इसानकी सीमा है, यह इसान है, पर इसानियतमे सीमा नही होती। जब हम मनुष्यत्व परखे तो वहा भी सीमा नही होती। इसी कारण कुछ लोग ब्रह्मको सर्वव्यापक मानते है जैसे मनुष्यका सामान्य सब मनुष्योमे है। सब मनुष्योमे व्यापने वाला मनुष्य सामान्य क्या किसी सीमाको लेकर बन सकेगा ? इसी प्रकार आत्मामे जो एक शुद्ध चैतन्यस्वभाव है वह क्या किसी आत्माके आधार रहेगा ? इसे चित्स्वभावका सही सौरव [illegible] किसी आत्मामे बधा हुआ नही नजर आयगा किन्तु एक व्यापक रूपसे [illegible]। इस दृष्टिसे अद्वैतवादियोने एक ब्रह्मको समस्त तत्त्व मान लिया

स्याद्वादसे आत्मरूपका निर्णय— देखिये, स्याद्वादकी शैलीसे समस्त धर्मों का निर्णय किया जाता है। बतलावो यह आत्मा सर्वव्यापी है या थोडी जगहमे रहने वाला है ? एक प्रश्न किया गया। जा स्याद्वादको नही मानते वे इनमेसे एक उत्तर छांटेगे। जो है वह ब्रह्म ही है। कुछ लोग छांटेगे कि यह आत्मा देहमे ही बधा है और वहा इस तरह छाटेगे कि देहमे रहकर भी यह देहमे नही फैला है किन्तु वटके बीजकी तरह कही पडा रहता है और वह आत्मा इतनी तेजीसे चक्कर लगाता है कि हम आप यह समझते हैं कि इस देहमे यह पूरा आत्मा है। स्याद्वादशासन यह उत्तर देता है कि इस आत्माको जब तुम स्वभावदृष्टिसे देखोगे। स्वभाव हैं आत्माका चैतन्य केवल उस चैतन्य स्वभावसे देखेंगे तो आत्मा सर्वव्यापी है और जब इसको एक अर्थ क्रियाकी दृष्टिसे देखेंगे तो मेरे आत्माने मेरे अपने आपमे ही कुछ किया, इस दृष्टिसे देखेंगे तो वह आत्मा सर्वव्यापक समझमे न आयगा। वह देहमे ही मात्र है।

प्रकाशन और अनुभवनकी दृष्टिसे आत्माका आख्यान— अब आत्माके व्यापित्व व अव्यापित्वका उत्तर दूसरी दृष्टिसे लीजिए आत्मामें दो गुण हैं ज्ञान और आनन्द। ज्ञानका कार्य जानना है प्रकाश है और आनन्दका कार्य है मग्न होना, तृप्त होना, निराकुल होना जब हम आत्माको ज्ञान प्रधान दृष्टिसे देखते हैं तो अब प्रदेशकी दृष्टि न रखकर केवल ज्ञान प्रकाशकी दृष्टि रही और यह ज्ञान प्रकाश बाहर भी फैला है। जब केवल ज्ञान प्रकाशपर दृष्टि रखते हैं तो शरीरका भान नही रहता जब ज्ञान प्रधान दृष्टिसे निहारेंगे तो आत्मा सर्वव्यापक नजर आयगा और जब आनन्द प्रधान दृष्टिसे देखेंगे तो आनन्द तो ज्ञानकी भाति बाहर फैला हुआ अनुभवमें तो नही आता। जैसे हम दो काम करते हैं— ज्ञान करते हैं और आनन्द पाते हैं तो ज्ञान तो हमे सर्वत्र होता है और आनन्द केवल अपने आप होता है। तो जब हम आनन्द प्रधान दृष्टिसे देखते हैं तो हमे आत्मा अपने आपके प्रदेशोमे ही नजर आता है। लोग समझते हैं, जब चीजोको जानते हैं तो ज्ञान फैला हुआ सा नजर आता है। वह गया यह ज्ञान। ज्ञानको जहाँ चाहे मिला दे। जैसी जलती हुई टार्चको जिधर मोडो उधर ही प्रकाश होगा इसी प्रकार ज्ञानभावको जिस ओर लगा दो उस ओर ही ज्ञान ज्योतिका विस्तार बनेगा। तो जैसे ज्ञानका होना हमे बाहरमे बहुत दूर दूर फैला हुआ सा समझमे आता है ? क्या आनन्दका अनुभव हमे इस देहसे बाहर भी होता है ? एक प्रदेश मात्र भी हमे बाहरमे आनन्द का अनुभव नही होता है। ज्ञानका फैलाव तो समझमे आता है पर आनन्दका फैलाव हमारी समझमे नही आता। चाहे आनन्दका परिणमन दुःख रहे सुख रहे अथवा शुद्ध आनन्द रहे वह केवल मुझे अपनी सत्तामे प्रतीत होता है। तो जब हम आनन्दकी दृष्टिसे निरखते हैं तो आत्मा सर्वव्यापक नही है किन्तु अपने आपके प्रदेशोंमे ही रहने वाला है। स्याद्वाद शैलीसे इसके दोनों उत्तर हो जाते हैं।

अनुभवकालमे ज्ञान स्थिति और व्यवहारकालमे प्रामाण्यका विवेचन

नव स्याद्वादसे सर्व प्रकारके उत्तर ले लेकर पदार्थका निर्णय कर लेनेके बाद जब अनु-
नवका काल आता है तो स्याद्वादका सहारा छ ड दिया जाता है और वहाँ फिर युक्ति,
वकल्प, विचार कुछ भी नही ग्रहण किए जाते हैं । केवल अनुभव रस ही अनुभवा
ाता है। यो यह आत्मा अपने स्वभावको परख करके कैसे अपने आपमे मग्न होता है
ा सब विधिया इस तत्त्वज्ञानीको ज्ञात होती है। उन्हीमेसे प्रथम प्रसङ्गमे यह बात
कही जा रही है कि हमारा स्वरूप है ज्ञान और ज्ञान प्रकट होता है पर साधनसे और
उसमे प्रमाणता भी आती है गुणवान इन्द्रियसे और जब यह ज्ञान अभ्यास दशामे
ागता है तो प्रमाण स्वत है और जब अपरिचित चीजको जानते हैं तो उसकी प्रमा-
णता परसे प्रकट होती है। यों ज्ञानको प्रमाणरूप परसे भी बताया और स्वत भी बताया।

प्रमाणकी उत्पत्ति स्वत ही माननेकी शङ्काके हृदयका समर्थन — मिथ्याज्ञानकी उत्पत्ति साधनोके दोष होनेके कारण होती है और सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति साधनोमे गुण होनेके कारण होती है। इन्द्रिय और मन स्पष्ट निर्मल हो तो सच्चा ज्ञान बनता है और इन्द्रिय और मनमे कोई दोष है तो मिथ्याज्ञान बनता है। सम्यग्ज्ञानका नाम प्रमाण है मिथ्याज्ञानका नाम अप्रमाण है। इस सम्बन्धमे शङ्काकार यह कह रहा था कि सम्यग्ज्ञान तो शुद्ध हुआ करता है शुद्धके साधनोके द्वारा, पर मिथ्याज्ञान की उत्पत्तिमे कारण दोष होता है। इन्द्रिय और मनमें गुण कुछ नही होते, इन्द्रिय और मन साफ रहें निर्दोष रहे यह तो इन्द्रिय और मनका स्वरूप है। जैसे चौकी साफ है तो चौकीमे सफाईका गुण नही है, किन्तु चौकीका स्वरूप है वह कि जैसा है वैसा है। यदि इस इस चौकीपर कबूतर आदिककी बीट पडी हो या कोई गर्दा पडी हो तो चौकीमें जो यह मलिनता आयी वह दूसरे पदार्थसे आयी, पर चौकीमे सफाई होना किसी दूसरेके कारण नही है, वह तो चौकीका ऐसा स्वरूप है । इस प्रकार वे अप्रमाणको तो परसे उत्पन्न मानते हैं और प्रमाणको स्वत उत्पन्न मानते हैं और प्रमाणसे स्वय उत्पन्न होनेमे वे युक्ति यह देते हैं कि बाधक कारणोका अभाव हो, दोषोके ज्ञानका अभाव हो तो स्वय प्रमाण बन जाता है।

बाधकग्रहणभावरूप बाधकाभावकी मीमांसा—उक्त शङ्काके समाधानमे शङ्काकारसे पूछा जा रहा है कि बाधक कारणोका अभाव या दोषोंके ज्ञानका अभाव इसका अर्थ क्या है ? बाधक ग्रहणमे न आये, इसीका नाम क्या बाधकका अभाव है या बाधकके अभावका निश्चय है इसका नाम बाधकका अभाव है ? यदि यह कहोगे कि ज्ञानमे बाधा देने वाले कारणोका अभाव होनेका नाम बाधकाभाव है तो जहाँ विपर्यय ज्ञान होता है, जैसे पडी तो है सीप और जान लिया चादी, तो उस समय बाधक कारण तो कुछ नही है ना ! जिसको भ्रान्त ज्ञान होता है तो भ्रमके समयमे उसे कोई बाधा नही जचती। पडी हो रस्सी जान ली जाय साँप, तो जिस समय कोई पुरुष रस्सीमे साँपका ज्ञान कर रहा है क्या उसके चित्तमे उस समय यह सन्देह

है कि यह सांप लगता तो नही है ? वह तो दृढतापूर्वक कह रहा है कि यह सांप है, यह चादी है। तो विपर्यय ज्ञान होनेके समयमे बाधक कारण नही रहता तो ऐसा झूठा ज्ञान भी प्रमाण बन जायगा। शायद यह कहो कि झूठे ज्ञानमें उस समय तो बाधा देने वाला ज्ञान उत्पन्न नही होता, पर थोडी देर बाद हो सकेगा तो इस ज्ञानमे इस समयमे भी बाधा नही है और आगे भी न होगी। यह अन्दर कैसा है इस बातको तो सर्वज्ञ जाने हम तो नही जान सकते उस समय, जिस समय सीपको चादी समझ रहे हैं। मिथ्या ज्ञान होनेके समय कोई यह नहीं जानता कि इस ज्ञानमे आगाम काल मे क्या बाधा आयगी ? समझे कोई तो मिथ्या क्या रहा ?

बाधकज्ञानाभावनिश्चयरूप बाधकाभावकी मीमासा—यदि यह कहो कि नहीं बाधा देने वाले ज्ञानके अभावको निश्चयका नाम बाधकाभाव है, इसमे प्रमाणता आती है तो यह निश्चय क्या सम्यग्ज्ञानमे लेनेसे पहिले बनता है या बादमे ? यदि कहो कि पहिले बनता तो भ्रान्त ज्ञानमे भी प्रमाणता आ जायगी, क्योंकि ज्ञान होनेसे पहिले ही इसमे कोई बाधक कारण नही है यह जाना जाने लगा। यदि कहो कि सम्यग्ज्ञानमे प्रवृत्ति होनेके बाद बाधक कारणोके अभावका निश्चय हुआ याने जैसे जाना कि इस ओर पानी है, फिर वहाँ जाकर पी चुके पानी, उसके बाद यह ज्ञान हुआ कि हमारा ज्ञान ठीक था, उसमे बाधक कारणका अभाव था। बाधक कारणके अभावका निश्चय कार्य कर चुकनेके बाद यदि होता है तो वह व्यर्थ है। कार्य तो कर चुके। जिसके लिए जाना था वह काम तो हो चुका, अब अभावके निश्चयकी भी क्या जरूरत रही ?

ज्ञानमे बाधकाभावनिश्चयके कारणकी मीमासा – अच्छा बताओ बाधक के अभावका निश्चय किस कारणसे होगा ? क्या अनुपलब्धिके कारण होगा अर्थात् जो हम जान रहे हैं कुछ भी उस ज्ञानमे कोई बाधा देने वाला दूसरा ज्ञान कही बनता है कि इसका निश्चय बाधक नहीं है इस कारण निश्चय होगा ? यो हो तो निश्चय क्या सबको हुआ तब काम बना या अपने आप हुआ तब काम बना ? सबको तो निश्चय हुआ यह बात सर्वज्ञ जाने, और अपनेको हो तो दूसरेके चित्ताकी बातके साथ इसमे अनेकान्त दोष आता है इस कारण पूर्वज्ञान प्रमाण है यह इन्द्रिय और मनके गुणोसे जान लिया जाता है स्वत नही। यदि यह कहो कि दूसरा सही ज्ञान बने उससे प्रमाणता आयी तो अनवस्था हो गया। यदि यह कहो कि नहीं तीन चार ज्ञान पैदा होते हैं एक ज्ञानकी प्रमाणता लानेके लिए, फिर आगे जरूरत नहीं होती, इस कारण उसकी प्रमाणताके सिलसिलेमे और आगे ज्ञान नहीं होते हैं यह भी बिना विचारे कहा है। अरे कोई ज्ञान हो वह यदि प्रमाणरूप है तो उसी ज्ञानसे निर्णय हो जायगा कि ठीक है। शायद न ज्ञानका निर्णय हो सके दूसरा ज्ञान बनेगा वह यदि दृढ़ है तो अपने ज्ञानकी प्रमाणताका निश्चय कर लेगा और पूर्वज्ञानकी भी प्रमाणता

का ज्ञान दोषोंसे नही हुआ करता, ज्ञानतो गुणोसे होता है। ऐसी बात नही कि दुनिया मे दोष तो सदा हैं और गुण कुछ चीज नही है दोष न हो इसीका नाम गुण है ऐसा नही। गुणमे अर्थक्रिया होती है। जैसे दोषका प्रभाव पडता है ऐसे ही गुण का भी प्रभाव पडता है। तो गुण भी है और दोष भी है। यदि गुण न माना जाय तो बतावो ये शास्त्र कैसे प्रमाण बनेंगे ? कोई गुणवानके द्वारा रचे गए हैं तब तो उन्हे प्रमाण कहते हैं। गुण कोई चीज न माने तो फिर प्रमाणकैसे बन गया ग्रन्थमे ? व्यवहारमे भी हम आप यह कहते कि उसकी बात तो हम प्रमाण मान लेंगे क्यो मान लेंगे ? उसके प्रति हमे विश्वास है कि वह सच्चाई ईमानदारी आदिक गुण वाला है। गुण कोई चीज कैसे नही होती है। गुणोसे ही प्रमाणता आती है और दोषमे अप्रमाणता आती है। यो इस परिच्छेदमे प्रारम्भमे ज्ञानका प्रमाणका स्वरूप कहा गया है और प्रमाणके स्वरूपका वर्णन करने वाला यह परिच्छेद अब समाप्त होने वाला है।

स्वपरव्यवसायी ज्ञानके प्रमाणत्वका परिच्छेद इसमे प्रामाणिक ज्ञान का स्वरूप बताया है, वह ज्ञान प्रमाण होता है जो ज्ञान स्वयका भी निश्चय रखता है और परपदार्थका भी निश्चय रखता है। जैसे हम आप सैकडो हजारो वस्तुवोको रोज-रोज जानते हैं। जान लिया यह घडी है तो ऐसा जाननेके साथ ही घडी है यह भी ठीक है और यह घडी है ऐसा जो मुझमे ज्ञान बना है यह भी ठीक है। दोनो बातोमे दृढता ज्ञानमे रहती है। जिस ज्ञानसे पदार्थको जाना हो उसकी पक्काईमे सन्देह हो ऐसा नही होता। यदि पदार्थको जानने वाले ज्ञानमे सन्देह है तो पदार्थके ज्ञानमे भी सन्देह होगा। यह पदार्थ पदार्थ है कि नही। ज्ञानकी प्रमाणताके साथ ही साथ पदार्थके ज्ञानकी प्रमाणता आया करती है और ज्ञान स्वयपर बीतता है यह तो अपने लिये प्रत्यक्ष हो रहा है। और चाहे इसे कोई जान न सके पर खुदपर बीतता हुआ यह ज्ञान चलता है इस कारण प्रत्यक्ष है।

ज्ञानाधिकरण आत्मामे ज्ञानसूक्ष्मतापरिज्ञानार्थ कर्म, विभाव आदि की चर्चा- आत्मामे ज्ञान है ना और जहा आत्मा है वहाँ रागद्वेष भी है ना और जहाँ आत्मा है वहाँ रागद्वेष भी है ना और जहाँ आत्मा है वहाँ ज्ञानावरणादिक ८ कर्म भी लगे हैं ना। और देखिये— ज्ञानावरणादिक जो ८ कर्म लगे है वे मूर्तिक है, पुद्गल है, रूप, रस, गध, स्पर्श वाले है पिण्डरूप हैं और आत्मामे जो रागादिक विकार होते हैं उनमे रूप, रस, गध, स्पर्श हैं क्या ? किसीका प्रेम सफेद हो, लाल पीला हो ऐसा है क्या ? जो भी विकार होते, मोहादिक मोह होते उनमे रूप, रस, गध, स्पर्श नही है। तो अब बतलावो कि रागादिक विकार स्थूल चीज हुए या कर्म स्थूल हुए मुकाबलेतन ? आत्मामे जो रागद्वेष मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ विकार बनते हैं उनसे स्थूल हैं कर्म क्योकि कर्मोमे रूप, रस, गध, स्पर्श है, वे पिण्डरूप है और ज्ञान रागादिक विकारोंमे भी सूक्ष्म है, रागादिक विकार तो पुद्गल कर्मके उदय

से उत्पन्न होते हैं। उनमें बन्धन होता है। वे उपचारसे मूर्त कहे जाते हैं। पर ज्ञान भाव केवल जानकारी मात्र ये रागादिक विकारोसे भी सूक्ष्म हैं। लेकिन यह तो बतलावो कि मोटा है कर्म। किसीने देखा है अपने आत्मामें कि यह ज्ञानावरण मुझमे चिपका है, यह दर्शनावरण लग गया है यह अमुक कर्म मुझमे है, किसीने ऐसा देखा है क्या ? लिखा है शास्त्रोमें। जानते हैं ऊंगे अवधिज्ञानी और केवलज्ञानी, लेकिन हम आपके ज्ञानमे कर्म नही आ रहे, श्रद्धासे, युक्तिसे कह रहे हैं। चूं कि हमारा ज्ञान प्रकट नही हो रहा है, तो जिस कारणको पाकर ज्ञान प्रकट नही हो पा रहा है उस कारणका नाम ज्ञानावरण है। यह युक्तिसे कहा, शास्त्रोकी श्रद्धासे कहा, पर जैसे हम इन बाहरी पदार्थोंको प्रत्यक्ष रूपसे देखते हैं, साव्यवहारिक ढगसे निरखते हैं क्या इस प्रकार कोई ज्ञानावरणादिक कर्मोंका भी देख लेता है ? ध्यानमे पूजनमे रोज कहते कि हे नाथ मैं इन अष्ट कमोको नष्ट करूं। ये कर्म दिखते नहीं, ज्ञानमे नही आ रहे, पता नही, पर श्रद्धासे, युक्तिसे कह देते हैं।

रागादिक विकारोकी कर्मोंसे भी सूक्ष्मता– कर्मोंका स्पष्ट भान किसी को नही है, लेकिन जो रागादिक विकार कर्मोंसे भी सूक्ष्म है वे सबके भानमे स्पष्ट हैं। रागभाव किसीके प्रति उत्पन्न हो तो यह खुद जानता है कि मुझे राग हुआ प्रेम हुआ, द्वेष हुआ। तो रागादिक विकार खुदके भानमे रहते हैं, और चाहे कोई इस प्रकार रागादिक विकारोका भान न कर सके फिर भी खुदमे अनुभव हुए बिना, रागादिक भावोका खुदमे क्षोभ हुए बिना तो रागादिक होते ही नही। तो कर्मोंसे यद्यपि रागादिक विकार सूक्ष्म हैं फिर भी रागादिक विकारोका भान हम कर लेते हैं किन्तु कर्मोंका भान नहीं कर पाते।

प्रामाण्यके विषयमे चर्चित ज्ञानकी रागादिविकारोसे भी सूक्ष्मता— रागादिक विकारोसे भी सूक्ष्म है ज्ञान। सो ज्ञान हमपर खुदपर आता है, यह यही बीतती है, यही की परिणति है, सो हम ज्ञानका भी भान प्रत्यक्ष कर लेते हैं पर पौद्गलिक कर्मोंका हम भान नही कर पाते। तो इससे यह स्पष्ट हुआ कि हममे हमारी जो परिणति होती है वह चूंकि मेरे अनुभवनके साथ ही बनता है अत उस का हमें भान रहता है, अन्य चीजका नही। तो जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह स्वपर को जानता हुआ उत्पन्न हुआ करता है, वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तो प्रमाण है और मिथ्याज्ञान है तो अप्रमाण है। जिस ज्ञानमे सशय, विपर्यय अनध्यवसाय हो वह ज्ञान अप्रमाण है। तो जिस ज्ञानमे प्रमाणता आती है वह प्रमाणता स्वयमेव होती है या किसीपर साधनसे होती है ? उसके निर्णयमें इस परिच्छेदका यह अतिम सूत्र चल रहा है कि भाई जहाँ हमे पदार्थोंका परिचय है वहाँ तो स्वत प्रमाणता आ जाती है और जहाँ परिचय नहीं है, अनभ्यास है वहाँ परसे प्रमाणता आती है। यो प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत भी है और परत भी है।

पूज्यश्री प्रभाचन्द्राचार्यका आशीर्वचन — इस परिच्छेदके अन्तमें श्री प्रभाचन्द्राचार्य जिन्होंने परीक्षामुखसूत्रकी उत्तम टीका की है वह प्रभुस्तवनके रूपमे अथवा अपने अन्तिम आशिमके रूपमे भक्त और भव्यजनोके प्रति मित्रताका भाव सूचित करते हैं। वह श्लोकका भाव इस प्रकार है —

हे भव्य जनो ! तुम सब श्री वर्द्धमान तीर्थङ्कर परमदेवका ध्यान करो। कैसे हैं वे जिनेन्द्र जो स्वय प्रमाणरूप हैं उनका ध्यान किस प्रकारके बुद्धिमान जन कर पाते हैं, जिनकी बुद्धि सम्यक् है, सुधी है। ध्यान कहा करे ? अपने चित्तमे। जैसे जहाँ जिस समय सूर्य आ जाता है वहा अधकार नही ठहरता इस ही प्रकार जिस चित्त में जिनेन्द्रदेवका स्वरूप विराजमान होता है, प्रभु विराजते हैं प्रभुगुणोके स्वरूपका स्मरण रहता है उस चित्तमे विषय कषायोका अधकार ठहर नही सकता जिनेन्द्रदेव को, श्री वर्द्धमान प्रभुको किस प्रकार विचार करें ? युक्तिसे, ज्ञानप्रधान दृष्टिसे। वे त्रिसलाके नन्दन हैं, सिद्धार्थके लाडले हैं, इन गीतोंके लिए नही कहा जा रहा है वह तो एक ससारकी लीला है। हर एकके मा बाप होते हैं। उससे इस भव्यका कोई प्रयोजन नही है। यह तो प्रभुको ज्ञानप्रधान स्वरूपसे चिन्तन कर रहा है। कैसे हैं वे प्रभु ? जीवनमुक्त हैं। यद्यपि वे इस समय सिद्ध हैं, पर तीर्थङ्करके रूपमे स्मरण किया जा रहा है तो वह तीर्थङ्कर जीते हुए भी मुक्त हैं। यद्यपि शरीरसहित होते है अरहतदेव, लेकिन जब ज्ञानावरणादिक घातिया कर्मोंका क्षय हो जाता है तो वे मुक्त ही कहे जाते हैं।

कलङ्करहित सर्वताभद्र विद्यानन्दमय वर्द्धमानदेवका स्मरण—ये प्रभु समस्त मनुष्योके ज्ञानोको उत्पन्न करनेवाले हैं, शीघ्र ही उत्पन्न करते हैं। निमित्त दृष्टिसे प्रभुशासन भव्य जीवोको ज्ञानोत्पादक कहा गया है। ये प्रभु अकलङ्कके आश्रय हैं। कोई कलङ्क इनमे नही है और अकलङ्क प्रभु साधु, मुनि हुए हैं, आचार्य कहलाये हैं। जिनका तत्त्वज्ञान बडा विशाल था। किसी भी साधुके प्रति भक्ति तब ही उमड सकती है जब साधुके गुणोका परिचय हो। अकलङ्कदेव आचार्य कैसे निर्मल विविक्त परोपकारी साधु थे ? सो लोग अकलङ्क नाटकके अध्ययनसे अकलङ्कदेवका महत्त्व जानते हैं पर उनका ज्ञान कितना अगाध था, उनकी रचनाएँ राजवार्तिक आदिक ग्रन्थोमे जिन्होने पढी हैं वे अकलङ्कका महत्व कुछ कूत सकते हैं। ऐसे अकलङ्क मुनि जनोके जो आश्रयभूत हैं अथवा अलङ्क हैं, द्रव्यकर्म, अष्टकर्म, उनका अभाव हो सो अकलङ्क है, उसके जो आश्रयभूत हैं ऐसे ये वर्द्धमान प्रभु ये सब जनोके मनको आनन्दित करने वाले हैं और किस प्रकार आनन्दित करते हैं कि विद्या अर्थात् केवलज्ञान आनन्द अर्थात् सुख और चारो ओरसे भद्र कल्याण मङ्गलरूप इन गुणोस दूसरे जीवो को भी आनन्दित करते हैं। देखो विशुद्ध ज्ञान जगनेपर जो आनन्द जगता है वह आनन्द इन्द्रियके विषय कितने भी भोगे जाये उनमे भी प्राप्त नही होता। एक बालक

किसी गणितका सवाल हल कर लेनेपर जितना खुश होता है उतना खुश तो बडी मिठाई खानेपर भी नही हुआ करता। तो समन्तभद्र परमात्मा कल्याणरूप हैं ज्ञान और आनन्दके गुणोसे जो समस्त जीवोको आनन्दित करनेके कारण बनते हैं ऐसे वर्द्धमान स्वामीको हे भव्य जीव! सदैव अपने चित्तमे चिन्तवन करो।

वर्द्धमानवन्दनके समय उनके शासनके अनुयायी समन्तभद्र अकलङ्क व विद्यानन्दिका स्मरण कैसे हैं प्रभु? दोषोसे रहित हैं और परमागमके विषयभूत हैं। हम युक्तियोसे और अपने आपके स्वरूपके अनुभवसे वर्द्धमान स्वामीके गुणोको पहिचान सकते है। उनके वचन प्रमाणरूप हैं। प्रमाण तो वे प्रभु ही है। उनकी ज्ञान लक्ष्मी और उनकी दिव्य ध्वनि वे सब प्रमाण स्वरूप है। ऐसे प्रमाण स्वरूप वर्द्धमान स्वामीका हे भव्य जीव! तुम भक्तिसे चित्तमे चिन्तवन करो। यहाँ वर्द्धमान स्वामीके गुणोका वर्णन करते समय तीन आचार्योंके नाम भी आ गए हैं। अकलङ्कदेव, विद्यानदी और समन्तभद्राचार्य। ये तीनो ब्राह्मण थे। अकलङ्कदेव और विद्यानन्दी तो ब्राह्मण थे ही, समन्तभद्र स्वामी भी क्षत्रिय हो या ब्राह्मण हो। इनका ज्ञान बडा उत्कृष्ट था। जैन शासनके प्रवाहक क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्गमे विशेषतम हुए। यह तो एक जैन शासन है, जो जीव इसका आदर करेगा वह इसका फल पायगा। वे दर्शन शास्त्रके उत्कृष्ट विद्वान थे। इनका चरित्र सुननेसे ही हृदय निर्मल होता है और उनकी भक्तिके लिये हृदय गद्गद् हो जाता है। उन तीनो आचार्योंके नाम भी प्रभुके विशेषणोंके रूपमे रखे गए हैं अथवा स्मरण किए गए हैं। ऐसे श्री वर्द्धमान जिनेन्द्रदेवको सदा चित्तमे बसावें ताकि ससारके सकट हमारे दूर हो।

आप्त प्रभुकी मीमासामे एक दार्शनिक ग्रन्थका निर्माण—पूज्य श्री समन्तभद्राचार्यने "मेरे द्वारा नमन स्तवनके योग्य कौन है" इसकी परीक्षामे आप्तमीमासाकी रचना की है। इस मीमासामे प्राय सभी दार्शनिक सिद्धान्तोका वर्णन और निर्णय है। रचनाका दूसरा नाम देवागमस्तोत्र भी है, क्योकि इस कृतिमे सर्वप्रथम देवागम शब्द आया है और इस मीमासामे मीमासा होनेकी पद्धतिमे देवस्तवन भी मौलिक होता गया है। समन्तभद्राचार्यने सर्वप्रथम कहा कि—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतय ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

हे प्रभो! तुम इस कारण हमारे महान् नही हो सकते कि तुम्हारे पास देवोका आगमन होता है,तुम्हारा आकाशमे विहार होता है तुम्हारे ऊपर चामर छत्र आदि विभूतियाँ शोभित होती हैं, क्योकि ये सब ठाठ तो मायावी पुरुषोंमे भी देखे जा सकते हैं। तब किसीकी ओरसे प्रश्न हुआ कि प्रभु इस कारण महान् हो सकते हैं कि उनका देह भीतर व बाहर अतिशयसहित हैं। इसपर उत्तर दिया है—अध्यात्म बहिर-

षेष विग्रहादि महोदय । दिव्य सत्ये दिवौकस्वप्यस्सि रागादिमत्सुस । देहादिकमहो-दय तो दिव्य सत्य है, लेकिन इस प्रकारका देह तो रागादिमान देवोमे भी होता है। तब प्रश्न किया गया कि प्रभुने तीर्थ (धर्म) चलाया है इससे वे महान् है। तो उत्तर मिला तीर्थकृत्समयाना च परस्परविरोधत, सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरु । तीर्थकृत आगमोमे तो परस्पर एक दूसरेसे विरोध है सो इस कारण सभी तो आप्त नही हो सकते ।

प्रभुकी महत्ताका कारण फिर समाधान किया गया कि प्रभु इस कारण महान हैं चूँकि दोप और आवरणकी हानि की अतिशायन (किसीमे कम दोष और किसीमे और कम) देखा जाता है तो कोई ऐसा भी हो जाता है जिसमे दोष और आवरण रहते ही नही हैं। दोप न रहनेसे वीतराग व आवरण न रहनेसे सर्वज्ञ हो जाते हैं। ऐसे प्रभो ! आप ही हो। आपमे दोष आवरण नही रहे, इस कारण आप बडे हैं। कैसे समझा कि इसमे दोष और आवरण नही रहे ? कहते हैं कि आवरण नही रहे इस कारण तो आप सर्वज्ञ हैं और दोष नही रहे इस कारण आप वीतराग है। और, जो वीतराग हुए, सर्वज्ञ हुए वे ही हमारे लिए पूज्य हैं। तो हे समन्तभद्र ! तुमने कैसे पहिचाना कि गुणोमे वीतरागता और सर्वज्ञता है ? तो समन्तभद्राचार्य ने वह उत्तर दिया जिसमे दार्शनिक ग्रन्थकी रचना हुई ? हे प्रभो ! आप निर्दोष हो, वीतराग हो, क्योकि आपके वचन पूर्वापर विरोधसे रहित है, निर्दोष हैं। जैसे जिसको बुखार आता है जुखाम होता है तो उसके वचन बढिया नही दिकलते, स्पष्ट वाणी नही निकलती और जब स्पष्ट बोलना होता है तो लोग कहते हैं कि अब इसका बुखार उतर गया है, जुखाम नही रहा। वोलीसे आप जान जाते है कि अब रोग नही रहा। इसी प्रकार हे प्रभु ! आपके ऐसे वचन है कि जिन वचनोसे यह परख हो जाती है कि आपमे रागादिक दोष व ज्ञानावरणादिक नही रहे।

प्रभुकी निर्दोषताके समर्थक वचनोका तथ्य बतानेमे दर्शनशास्त्रक निर्माण और प्रभुस्तवन प्रभुमे अब कोई दोष नही रहा। सो कैसे ? उन वचन का व्योरा देनेके ही रूपमे सब दर्शनोका मतव्य रख दिया गया है । कोई लोग य मानते हैं पर आपका मतव्य यह है जैसे कोई मानता है कि आत्मा नित्य है औ नित्य एकत्व माननेपर फिर इसमे कोई काम ही नही हो सकता अर्थक्रिया नही ब सकती, विकार नही आ सकता। अत नित्य एकान्त ठीक नही बैठता फिर मोक्षव उद्यम क्यो ? कोई कहते हैं कि आत्मा क्षण क्षणमे नष्ट होता है सो अनित्य है : अनित्य एकान्ततामे भी न कर्म बंधना, न कर्म भोगना न कोई बंध मोक्षव्यवस्था न रह सकती जो कि प्रतीतिविरुद्ध है। अतएव यह भी युक्त नही है,पर आत्मा द्रव्यदृष्टि नित्य,पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। इस प्रकारसे दर्शन सिद्धान्तोको रखना और स्याद्वाद शैली मे उत्तर देना यह प्रभुकी स्तुति है। तो प्रभुकी स्तुति करनेमे ही समस्त दर्शनो

रख दिया और उनकी समस्या भी हल कर दी ऐसे दिग्गज विद्वान समन्तभद्राचार्य थे।

समन्तभद्रकी दार्शनिक भारतीपर अकलङ्क देव व विद्यानन्दि स्वामी की व्याख्यायें—समन्तभद्राचार्यके वचनोपर अकलङ्कदेवको इतनी रुचि थी समन्तभद्र स्वामीके प्रति अकलङ्कदेवके इतनी भक्ति थी कि उन्होंने समन्तभद्रके वचनोंकी बडी युक्ति और रुचिके साथ टीका की। अकलङ्कदेवके वचन किस प्रकारके विद्वतापूर्ण हैं कि उनको बडे ऊँचे विद्वान ही आसानीसे समझ सकते है। और देखिये समन्तभद्राचार्यके मूल श्लोकोपर अकलङ्कदेवने टीका की और उसपर विद्यानन्द स्वामीने इसतरह टीका की अपनी टीका कुछ कर लेनेके बाद फिर अकलङ्कदेवने एक वचन जोड दिया। फिर कुछ अपनी बात कहनेके बाद उससे लगा हुआ दूसरा वाक्य जोड दिया। ऐसी टीका करना बडा कठिन होता है। कोई शुरूसे लिखता जाय वह सरल है किन्तु जैसे वृत्तिके १०० वाक्य हैं और हम इस तरहसे बोलें या लिखें कि २५ वाक्य बोलकर एक वाक्य रखदें फिर अपनी बात बोलकरके २५–५० वाक्योंके बादका दूसरा वाक्य उसीमे जोडदें और सुनने व ले पढने वाले उस समस्त निबंधको एक रस सा पढते रहें ऐसी टीका करना कितना कठिन हैं, ऐसी विद्यानन्द स्वामीने टीका की। ये भी बडे दार्शनिक विद्वान थे।

विद्यानन्दि स्वामीका स्याद्वादशासनकी ओर लगावका प्रारम्भ—विद्यानन्दि जी जैन धर्मके अनुयायी न थे बल्कि जैन धर्मसे इतना द्वेष रखते थे कि राजसभासे लौटकर घर आयें तो रास्तेमे एक पार्श्वनाथ चैत्यालय पडता था उससे मुँह फेरकर वहाँसे निकला करते थे। जब बहुत दिन हो चुके तो एक दिन उनके चित्तमे ऐसा कौतूहल उपजा कि हम जिससे मुँह फेरकर चला करते हैं देखें तो सही कि वहा है क्या? तो वे चैत्यालयके अन्दर गए और वहाँ देखा तो साधारणतया देख लिया जैसे कोई दार्शनिक लोग देख लेते हैं। पश्चात् उस चैत्यालयमे एक साधु बैठे थे जो देवागम स्तोत्रका पाठ कर रहे थे। संस्कृतके बडे ऊँचे विद्वान तो थे ही विद्यानन्दस्वामी और दर्शन शास्त्रके उस समयके एक मात्र प्रसिद्ध विद्वान थे। राजसभामे उनका मुख्य स्थान था, आखिर वे थोडा उस साधुके निकट बैठकर सुनने लगे। उन्हे बडा रुचिकर लगा, जो तत्त्वकी बात हो यथार्थ बात हो उसे सुनकर क्या विद्वान पुरुष उसमे रुचि न करेगा? सुनते रहे। जब देवागम स्तोत्र समाप्त हो गया तो विद्यानन्द स्वामी बोले महाराज! इसका कुछ तात्पर्य बताओ, अर्थ बताओ। वह साधु विद्वान न था। जैसे कुछ याद कर लिया, पाठ कर लिया, तो श्रद्धावश पाठ किया करते थे। तो साधुने कहा कि हम विद्वान नहीं हैं, विशेष समझते नहीं हैं। इतनी बात सुनकर उनकी सरलता निरखकर उनपर और असर पहुँचा कि धन्य हैं इस धर्मके मानने वाले साधुजनोको कि जिनके हृदयमे कपट नही, जिनका हृदय ऐसा सत्य है और प्रभाव पहुचा, देखिये! प्रभाव डालने वाली बात होती है शान्ति, सन्तोष, निष्कपटता, ऐसा जो गुण है वह प्राभाविक होता है।

साथ ही विद्वान हो तो उसका प्रभाव और बढ जाता है। तब विद्यानन्द स्वामीने कहा महाराज! एक बार फिरसे सुना दीजिए शुरुसे अन्त तक यह देवागमस्तोत्र। तो उन्होंने फिरसे सुनाया और वे बडे ध्यानसे सुनते गए, क्योकि अब उन का चित्त बदल रहा था। उस देवागमस्तोत्रके सुनते ही ज्ञाननेत्र खुल गए और जो जो कुछ विद्याएँ उन्होंने पढी थीं उन सबका सही अर्थ उनके चित्तमे घूमने लगा। अब दिल बदल गया। वहाँ फिर अन्तरङ्गसे नमस्कार करके धन्यवाद मानकर घर चले आये।

सम्यक्ज्ञानकी भावना अब विद्यानन्दि दार्शनिक सत्य सम्यग्ज्ञानकी भावना करने लगे और इसी धर्मचिन्तनमे उनकी रात्रि गुजरी। कुछ थोडे समयको निद्रा आयी। निद्रासे पहिले सब कुछ निर्णय करनेके बाद एक शङ्कामे उनका चित्त घूमता रहा है। अनुमान एक प्रमाण होता है और अनुमानको सिद्ध करने वाला हेतु हुआ करता है जैसे यहाँ अग्नि होना चाहिए क्योकि धुवा हो रहा है। तो धुवा एक साधन है और साधनका साध्यके साथ सम्बन्ध जो बनता है, अनुमान जो बनता है उसमे कई चीजें आती हैं जैसे इस पर्वतमे एक अश, अग्नि होगी दूसरा अश, ये दोनो एक है सो इस पर्वतमे अग्नि है इसका नाम कहलाता है प्रतिज्ञा क्योकि धुवा होनेसे यह अश हुआ हेतु। जहा जहा धुवाँ होता है वहाँ वहा अग्नि होती है। जहाँ अग्नि नही होती वहा धुवा नही होता, जैसे तालाब, रसोईघर, ये दोनो दृष्टान्त आ गए, यह कहलाया उदाहरण। और यहा धुवा है उपनय, अतएव अग्नि होना चाहिए यह हुआ निगमन। ५ बातें होती हैं तब अनुमान बनता है पर विद्वत्जनोकी सभामे केवल तीन जरूरी है प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण। अब इन बातोकी सोचते सोचते सो तो गए पर चित्तमे शङ्का रही कि अनुमानके अङ्ग कितने होते हैं। तो निद्रामे ही स्वप्न आया कि तुम्हारी शङ्काका समाधान उस ही चैत्यालयमे पार्श्वनाथकी मूर्ति के निकट लिखा मिलेगा। सुबह फिर दर्शन करने गये तो वहाँ दो श्लोक लिखे मिले—

अन्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम्॥१॥
अन्यथानुपपन्नत्व यत्र किं तत्र पञ्चभि।
नान्यथानुपपन्नत्व यत्र किं तत्र पञ्चभि॥२॥

इन श्लोकोका तात्पर्य यह है कि अनुमानको सिद्ध करने वाला केवल एक ही उपाय है - अन्यथानुपपन्नत्व। साध्यके बिना साधन न हो तो बस अनुमान लगा दीजियेगा। जैसे अग्निके बिना धुवा नही होता तो धुवा निरखकर अग्नि जान ली जाती है। ऐसे ही सब हैं। तो जहा अन्यथानुत्पत्ति हो वहा तीनसे क्या मतलब? और जहा अन्यथानुपत्ति नही है वहाँ तीन क्या करेगे? जहा अन्यथानुत्पत्ति है वहाँ ५ से क्या प्रयोजन? जहा अन्यथानुपपत्ति नही वहा ५ क्या करेंगे। अर्थात् अनुमानको सिद्ध करनेमे समर्थ केवल अन्य थानुत्पत्ति है। पढकर उन्हे बडी प्रसन्नता हुई।

स्याद्वादशासनकी श्रद्धाका सत्परिणाम अब तो विद्यानन्दि विद्वानको स्याद्वाद शासनपर इतनी दृढ श्रद्धा हुई कि वे अध्यात्म रङ्गमे भी रङ्ग गए। दूसरे दिन जब राज सभामे पहुचे तो विद्वान जनोके व्याख्यान प्रतिदिन हुआ ही करते थे। आज जब विद्यानन्द स्वामी भाषण करनेको तैयार हुए तो इस शैलीमे बोले कि स्याद्वादके सिवाय अन्य सब वादोका निराकरण हो जाय। उनके ५०० शिष्य विद्वान थे राजसभा में। पहिले समयमे प्रजामे राजामे विद्वान पुरुषोका अतीव आदर था। वे धनको कुछ नही समझते थे। विद्याका ही महत्त्व दिया करते थे। ५०० शिष्य सुनकर अचम्भा करने लगे कि आज मेरे गुरु क्या कह रहे हैं। किसीने वीचमे ही आशङ्का की तो उन्होंने खुले शब्दोमे कहा कि हम जो कहते हैं वह यथार्थ सत्य कह रहे हैं। जिस किसीको भी शङ्का हो तो कहा कि हम उसका समाधान देंगे। बहुत देर तक बडे जमघटमे कोई अपूर्व सभा हुई और अन्तमे फिर उस सभासे उठनेके बाद फिर न घर रहे और न सभामे आये। सीधे वनमे जाकर मुनि दीक्षा ले ली और उन विद्यानन्द स्वामीने जो टीकायें की हैं—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक अथवा अष्ट सहस्री, बडे ऊँचे-ऊँचे दार्शनिक विद्वान भी उस रहस्यको समझनेमे व्यग्र हो जायें। जैसे कि कुछ प्रसङ्गमे प्रमेय कमल मार्तण्डके दार्शनिक चर्चामे आपने सुनी ऐसे ही पहिले उनका अजैन दर्शनोंसे या अन्य दर्शनोमे परिचय था तो ऐसे अभ्यस्त योगी जब स्याद्वाद शैली से वर्णन करे तो उस शैलीमे और भी चमत्कार वन जाते है। तो यो दर्शन शास्त्रकी परम्परा यहा अब तक चली आयी है और उनमे इन विद्वानोका प्रमुख हाथ रहा समन्तभद्र, अकलङ्कदेव और विद्यानन्दस्वामी। समन्त भद्राचार्यकी तरह मूल सूत्रकार माणिक्यनन्दि आचार्य हुए जिन्होंने यह परीक्षामुखसूत्र बनाया।

सूर्यातिशायि ज्ञानज्योतिका प्रकाशन —अब तक इस परिच्छेदमें यह सिद्ध किया गया है कि प्रमाणका लक्षण यह है कि कि जो ज्ञान अपना और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये सो ज्ञान ही प्रमाण है। सीधा अर्थ यह समझिये कि ज्ञान प्रमाण है। ज्ञानका ही नाम प्रमाण है क्योकि ज्ञानकी प्राप्ति करानेमे और अहितका परिहार करानेमे समर्थ है। हम हितकी वातमे लग जायें और अहितकी वातको छोड दें इसके लिए किसी बडे योगीकी पूजा करें, हाथ जोडे दूसरोका सहारा तकें तो ये सब भले ही एक अङ्ग बनेंगे किन्तु किसीमे यह सामर्थ्य नही है कि दूसरेको हितमे लगा दे और अहितसे छुडा दें। सूर्यका प्रकाश दूसरोको मार्ग दिखा देता है। उजेला कर दिया, सवेरा हो गया, यहाँ तक तो ठीक रहा किन्तु वह किसीको किसी अच्छे काममे लगादे और खोटे कामसे हटादे, यह सामर्थ्य सूर्यमे तो नही है। उजेला कर दिया, मार्गदर्शन हो गया अब कहाँ जाना है, कहाँसे हटना है, इसको तो वही पुरुष करेगा, सूर्य न करा देगा। किन्तु ज्ञान चेतन है, अत सूर्यातिशायि तत्त्व है। अपने ज्ञान हीमे यह भी सामर्थ्य है कि वह मार्गदर्शन करा दे और हितके कार्यमे लगादे, अहितके कार्यसे छुटा दे। ज्ञानज्योति ऐसी अपूर्व ज्योति है जो सूर्यकी ज्योतिसे भी निराली है। यह ज्ञान-

अज्ञानविपदापरिहारके लिये उद्बोधन करने वाले योगिजनोंका आभार

अज्ञानविपत्तिके परिहारके लिए जिन आचार्यदेवोंने प्रयत्न किया है उन उनके उपकार का कहाँ तक गुण गाये हैं। जो ज्ञानीजनोंने सन्तजनोंने, साधु पुरुषोंने हमारा उपकार किया है वे सब वास्तविक उपकारी हैं। उनका विशुद्ध उपकार है। बाकी लौकिक उपकार तो एक मोहने वाले उपकार हैं, बल्कि कोई कोई उपकार तो इन मनुष्योंके जीवनभर परेशानीमें डाले जाने वाले उपकार हैं। और, यह ज्ञानदृष्टि आदिक का उपकार यह सन्तजनोंका बहुत महान उपकार है। इसी कारण प्रभाचन्द्राचार्य इस परिच्छेदको समाप्त करते हुए अन्तमें उन तीन दार्शनिकोंका स्मरण कर रहे हैं जो प्रभाचन्द्राचार्यकी इस कृतिमें, इस पद्धतिमें जिनकी रचना बहुत सहयोग देने वाली हुई है उन मुनित्रयको नमस्कार करते हुए जिन शासनकी भावनारूप आशीर्वाद लोगोंको दे रहे हैं प्रभाचन्द्राचार्य। इस परिच्छेदमें प्रमाणका स्वरूप, प्रमाणके लक्षणमें कहे गये विशेषणोंका विवरण, प्रमाणकी मुद्रा और प्रमाणके प्रामाण्यकी उपपत्तिका वर्णन हुआ।

॥ परीक्षामुखसूत्रप्रवचन प्रथम